दक्षिण के देश-रत्न

[साहित्यकार, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, दार्शनिक
समाज-सुधारक और राष्ट्र-नेता]

राजेन्द्रसिंह गौड़
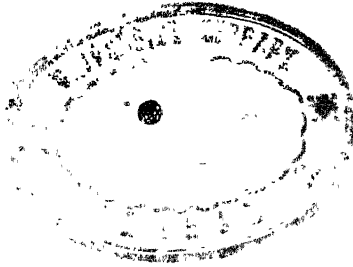
साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रकाशक
साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०
इलाहाबाद

●

प्रथम संस्करण
सं० २०२०

●

मूल्य
४ रुपये

●

मुद्रक
रामशरण अग्रवाल
प्रगति प्रेस
७३, कल्याणी देवी रोड
इलाहाबाद

स्वीयोक्ति

'दक्षिण की विभूतियाँ' की शृंखला में 'दक्षिण के देश-रत्न' दूसरी कड़ी है। इसमें मध्य और आधुनिक युग के दक्षिण-भारत के उन वीरों, वीराङ्गनाओं, विद्वानों, दार्शनिकों, समाज-सुधारकों, संगीतज्ञों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों और राष्ट्र-नेताओं के चारु-चरित्रों का मूल्यांकन किया गया है जिन्होंने अपने अनुपम त्याग, अपनी निःस्वार्थ सेवा, अपने आदर्श अध्यवसाय और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपनी मौलिक देन से विश्व के समृद्धिशाली राष्ट्रों के बीच दक्षिण-भारत का ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारत का मस्तक ऊँचा किया है। सुल्ताना चाँद बीबी और चिन्नामा ने यदि अपने ओजस्वी जीवन से नारी-जाति को अवसर पड़ने पर रण-क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा दी है तो साध्वी अहल्याबाई ने उसे जीवन की प्रतीप परिस्थियो से जूझने और उनपर विजय पाने का अतुल साहस प्रदान किया है। इसी प्रकार देश के नव-जागरण के युग में देवी सरोजिनी नायडू का जीवन नारी-समाज के लिए ही नहीं, बल्कि पुरुषों के लिए भी प्रेरणादायक रहा है। इन विदुषी वीराङ्गनाओं की शृंखना में ऐसे महान पुरुषों की भी एक शृंखला जुड़ी हुई मिलती है जिन्होंने धर्म, जाति, प्रान्त आदि के संकुचित घेरों से ऊँचे उठकर संपूर्ण भारत और मानव-जाति के कल्याण में अपने जीवन की सफलता का अनुभव किया है। वीर-शिरोमणि छत्रपति शिवाजी, नानासाहब पेशवा और लोकमान्य तिलक के ओजस्वी व्यक्तित्व ने जहाँ भारत की शुष्क नसों में ऊष्ण रक्त का संचार किया है वहाँ दादाभाई नौरोजी, रानडे, भाण्डारकर, गोखले, महर्षि कर्वे, विनोवा भावे आदि ने देश और समाज के सड़े-गले अंगों को काट-छाँटकर उनके स्थान पर जीवन के नये मूल्यों की स्थापना की है और रमण, कृष्णन्, भाभा आदि ने अपनी महान वैज्ञानिक देन से संपूर्ण विश्व को चमत्कृत कर दिया है। साहित्य और संगीत के क्षेत्र भी सूने नहीं रहे हैं। भातखण्डे, विष्णु दिगम्बर, बल्लतोल, भारती आदि ने अपनी अमर वाणी

में साहित्य और संगीत का उद्धार एवं प्रसार किया है। इसी श्रृङ्खला में महर्षि रमण को भी जोड़ दिया गया है। 'दक्षिण की विभूतियाँ' में उनको स्थान मिलना चाहिए था, पर उपयुक्त सामग्री के अभाव में उन्हें उसमें स्थान नहीं दिया जा सका। इस रचना में उन्हें स्थान देकर उस कमी को पूरा कर दिया गया है।

इस प्रकार यह रचना प्रथम रचना की पूरक है। यदि दोनों रचनाओं का अध्ययन एक साथ किया जाय तो एक ऐसी झाँकी मिलेगी जिसमें संपूर्ण भारत जगमगाता हुआ दिखायी देगा। व्यक्ति को भौगोलिक सीमाओं के भीतर बाँधा जा सकता है, लेकिन उसकी भावनाएँ उनके भीतर नहीं बाँधी जा सकतीं। दक्षिण के जिन महापुरुषों, वीराङ्गनाओं आदि को इसमें स्थान दिया गया है उनकी आत्मा सार्वभौमिक थी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन चरित्रों के अध्ययन से राष्ट्रीय एकता की भावना को जागृत करने में विशेष बल मिलेगा और इसके साथ ही हमारी भावना का भी संस्कार होगा। अन्त में हम उन लेखकों के अत्यन्त आभारी हैं जिनकी अमूल्य कृतियों से सहायता लेकर मैंने अपनी इस रचना को उपयोगी बनाने की चेष्टा की है।

१२, नेहरूनगर : इलाहाबाद-३ **राजेन्द्रसिंह गौड़**

१०-४-६३

अनुक्रमणिका

चाँद बीबी

उसका नाम ही चाँद नहीं था, वह सचमुच दक्षिण-भारत का चाँद थी। वह उस समय उत्पन्न हुई थी जब सारा दक्षिण-भारत स्वतन्त्रता के वायुमंडल में

साँस ले रहा था। बहमनी-साम्राज्य का अन्त (१३४७-१५२६ ई०) हो चुका था और उसके स्थान पर बीदर, बरार, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा के पाँच स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे। अहमदनगर-राज्य की स्थापना (१४६० ई०) निज़ामुलमुल्क बाहरी के पुत्र अहमद निज़ामुल मुल्क ने की थी। इसी राज्य के तृतीय सुल्तान हुसेन निजामशाह प्रथम (१५५३-६४ ई०) की पुत्री का नाम चाँद ख़ातून था।

चाँद ख़ातून का जन्म सन् १५५० ई० में हुआ था। उनकी माता का नाम हुमायूँ बेगम था। हुमायूँ बेगम में तुर्की रक्त था और हुसेन निज़ामशाह प्रथम अपने समय के वीर योद्धा और कुशल राजनीतिज्ञ थे। चाँद बीबी को जहाँ माता से तुर्की रक्त का दान मिला था वहाँ उन्हें अपने पिता से राजनीति-कौशल भी प्राप्त हुआ था। वह बचपन से ही बड़ी तेजस्वी बालिका थीं। माता-पिता ने उन्हें बड़े दुलार से पाला था और उन्हें उच्च शिक्षा दी थी। मराठी, फारसी और अरबी की शिक्षा के साथ-साथ उन्हें घोड़े पर सवारी करना, तलवार चलाना, युद्ध करना आदि भी सिखाया गया था। इन सब के साथ चित्रकारी और संगीत की भी उन्हें शिक्षा दी गयी थी। वह ऐसे सुन्दर फूल बनाती थी कि बड़े-बड़े कला-पारखी उनकी हस्त-कला पर मुग्ध हो जाते थे। वीणा-वादन में वह इतनी पटु थीं कि जिस समय उनकी कोमल उँगलियाँ वीणा के तारों पर थिरकने लगती थी, उस समय एक अभूतपूर्व समाँ बंध जाता था। कभी-कभी मौज में आकर वह

गाती भी थीं। उनके स्वर में बड़ा उन्माद, आकर्षण और लोच था। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन के प्रभात-काल में उन समस्त गुणों को धारण कर लिया था जो उनके भावी जीवन को सुख-संपन्न बना सकते थे।

किन्तु चाँद खातून का जीवन गुलाब का एक ऐसा पौधा था जिसमें फूल कम, काँटे अधिक थे। आँख खोलते ही उन्होंने तलवार की झंकार सुनी। बहमनी-साम्राज्य के टुकड़े आपस में एक-दूसरे से बराबर टकराते रहते थे और विजयनगर का हिन्दू-साम्राज्य उन सब पर छाया रहता था। अहमदनगर और बीजापुर राज्यों के बीच बराबर तलवारें खनकती रहती थी। इससे किसी को भी सुख की नींद सोने का अवसर नहीं मिलता था। दक्षिण की ऐसी अशान्त राजनीतिक पारिस्थितियों में चाँद खातून ने अपने चौदहवें वर्ष में प्रवेश किया। हुसेन निजामशाह को उनके विवाह की चिन्ता हुई। पास ही बीजापुर की सल्तनत थी। अली आदिलशाह प्रथम (१५५७-७६ ई०) वहाँ के सुल्तान थे। उन्हीं के साथ १५६३ ई० में हुसेन निज़ामशाह ने चाँद खातून का विवाह कर दिया। चाँद ख़ातून अपने विवाह के आँचल में दामपत्य जीवन का सुख-सौभाग्य भरकर अहमद नगर से बीजापुर चली गयी।

अली आदिलशाह प्रथम बीजापुर के बड़े दबंग सुल्तान थे। उनका जन्म १५३३ ई० में हुआ था। वह अपने पिता इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५३४-५७ ई०) के द्वितीय पुत्र थे। जब इब्राहीम आदिलशाह बीमार पड़े और मर गये (१५५५ ई०) तब उनके बड़े भाई इस्माइल ने उन्हें मर्ज के दुर्ग में कैद कर दिया। वह अपने शेष तीन भाइयों से अधिक योग्य थे। इसलिए इब्राहीम आदिलशाह की मृत्यु के बाद उन्हीं को मर्ज के दुर्ग से निकालकर शासन का भार सौंपा (१५५७ ई०) गया। वह शिया थे। सुन्नियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त पक्षपातपूर्ण था। परन्तु वह इतने अधिक दानी थे कि सुन्नी भी उनसे दबे रहते थे। उनके शासन-काल की प्रसिद्ध घटना है, तालीकोट का युद्ध। तालीकोट कृष्णा नदी के किनारे स्थित है। यहीं के मैदान में चाँद बीबी के विवाह के एक वर्ष बाद २५ दिसम्बर, सन् १५६४ ई० को उस युद्ध का सूत्रपात हुआ जिसमें एक ओर विजयनगर की अपार सेना थी और दूसरी ओर बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा और बीदर की सेनाएँ थीं। सन् १५६५ ई० के आरम्भ होते ही दोनों

ओर की सेनाएँ एक-दूसरे मे गुथ गयीं। अन्त में विजयनगर के राजा रामराय पकड़ लिये गये और उन्हें चाँद बीबी के पिता हुसेन निज़ामशाह ने क़त्ल किया। इससे विजयनगर के राज्य का अन्त हो गया।

तालीकोट के युद्ध के बाद अली आदिलशाह ने लगभग १५ वर्ष तक और शासन किया। इन १५ वर्षों में वह बराबर किसी-न-किसी युद्ध में फँसे रहे। उनकी बेगम चाँद बीबी अहमदनगर की थीं। चाँद बीबी के भाई मुर्तज़ा निज़ाम शाह से उनके पति की बहिन का विवाह हुआ था। तालीकोट के युद्ध में हुसेन निज़ामशाह और अली आदिलशाह ने कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अपने शत्रु का सामना किया था, फिर भी अहमदनगर और बीजापुर के बीच बराबर तलवार खटकती रहती थी। लेकिन चाँद बीबी ने कभी इस झगड़े को अपने दाम्पत्य-जीवन में महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने सुख-दुःख में बराबर अपने पति का साथ दिया। पर्दे में रहते हुए भी वह बीजापुर की राजनीति पर ध्यान जमाये रहती थीं और अपने पति को बराबर परामर्श देती रहती थीं। प्रजा के लिए तो वह परम कल्याणी थीं। बीजापुर की भाषा कन्नड़ थी। चाँद बीबी ने प्रजा का दुःख-दर्द समझने के लिए कन्नड़ का ज्ञान प्राप्त किया। वह कन्नड़ में ही बोलती और बातें करतीं थीं। उनके कोई संतान नहीं हुई। संतान की प्यास वह बीजापुर की प्रजा को देखकर ही बुझाती थीं। ऐसा था बीजापुर की प्रजा के प्रति उनका मातृ-स्नेह। उनके इस स्नेह के कारण ही बीजापुर की प्रजा उन्हे पूजती थी और वह अपने पति के गले का हार थीं। संतान न होने पर भी अली आदिलशाह उनका आदर करते थे। सन् १५७९ ई० में अली आदिलशाह ने अपने भाई तहमास्प के आठ वर्षीय पुत्र इब्राहीम को युवराज घोषित किया और इसके एक वर्ष बाद ही सन् १५८० में एक ग़ुलाम ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया।

अली आदिलशाह की मृत्यु से चाँद बीबी की हरी-भरी फुलवारी उजड़ गयी। लेकिन वह आँसू का घूँट पीकर रह गयी। उन्होंने बड़े सन्तोष से काम लिया। युवराज इब्राहीम की अवस्था उस समय कुल नौ वर्ष की थी। ऐसी दशा में शासन के संचालन का भार उन्हीं पर था। इसमें शक नही कि वह योग्य थीं और शासन के संचालन में बड़े-बड़ों का मुकाबला कर सकती थीं, फिर भी वह स्त्री थी। यही कारण था कि अलीआदिल शाह के मरने के बाद जो भी राज्य का मन्त्री या

संरक्षक बना उसने विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। पहले कामिल खाँ संरक्षक बना। जब उसने विद्रोह किया तब चाँद बीबी के संकेत से किश्वर खाँ संरक्षक बना। किश्वर खाँ ने इतना ऊधम मचाया कि उसने चाँद बीबी को हरम से निकालकर बन्दी कर लिया और सतारा के दुर्ग में बन्द कर दिया।

चाँद बीबी पर उसका यह अत्याचार प्रजा सहन न कर सकी। उसने किश्वर खाँ को ईंटों-पत्थरों से मार-मार कर उसकी सारी शान मिट्टी में मिला दी। अन्त में वह मारा गया। चाँद बीबी सतारा के दुर्ग से निकाली गईं और फिर महल में रहने लगीं। किश्वर खाँ के बाद एख़लास खाँ और एख़लास खाँ के बाद दिलावर ख़ाँ मन्त्री और संरक्षक हुआ। इन संरक्षकों के समय में बीजापुर पर अनेक आक्रमण हुए। इसमे बीजापुर-राज्य में अराजकता फैल गई। इन्हीं दिनों इब्राहीम आदिल शाह की बहिन ख़ुदेजा सुल्ताना का विवाह चाँद बीबी के भाई मुर्तज़ा निज़ामशाह के पुत्र मीराँ हुसेन निज़ामशाह के साथ हुआ। चाँद बीबी इस विवाह के सम्बन्ध से बीजापुर छोड़कर अहमदनगर चली गयीं और इब्राहीम आदिलशाह ने दिलावर ख़ाँ को हटाकर शासन-भार अपने हाथ में (१५९५ ई०) ले लिया।

चाँद बीबी बीजापुर से अहमदनगर चली तो आयीं, लेकिन वह अहमदनगर में भी सुख की नींद न सो सकीं। अहमदनगर में उनका भाई मुर्तज़ा निज़ामशाह सुल्तान था। अपने पिता हुसेन निज़ामशाह की मृत्यु (१५६४ ई०) के बाद वह गद्दी पर बैठा और इसके ५ साल बाद (१५६९ ई०) उसने अपनी माँ हुमायूँ बेगम को जेल में बन्दकर मनमाना शासन आरम्भ कर दिया। वह इतना अधिक व्यभिचारी था कि अन्त में वह पागल हो गया। यह देखकर उसके पुत्र मीराँ हुसेन ने उसे स्नानागार में बन्द कर दिया और शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली, किन्तु वह भी अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। ९ महीने के बाद ही मन्त्री मिर्ज़ा खाँ ने उसे भी मौत के घाट उतार दिया। उसके बाद इस्माइल गद्दी पर बैठा जिसको उसके पिता बुर्हान निज़ामशाह द्वितीय ने गद्दी से उतारकर स्वयं शासन करना आरम्भ कर दिया। उसने चार वर्ष तक शासन किया। उसकी मृत्यु (१३ अप्रैल, १५९४ ई०) के बाद इब्राहीम निज़ामशाह सुल्तान हुआ। वह एक वर्ष भी शासन न कर पाया था कि बीजापुर की सेना से लड़ता हुआ ७ अगस्त, १५९४ ई० को मारा गया। मन्त्री मियाँ मंजू ने अवसर

पाकर इब्राहीम निज़ामशाह के पुत्र बहादुर को जोंद के दुर्ग में बन्द कर दिया और एक बनावटी दावेदार अहमद निज़ामशाह को गद्दी पर बैठा दिया। मियाँ मंजू की इस नीति से हब्शी अमीरों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने चाँद बीबी से फ़रियाद की। चाँद बीबी ने बहादुर निज़ामशाह १५९५-१६०० ई०) को गद्दी का वास्तविक अधिकारी मानकर एख़लास ख़ाँ हब्शी का साथ दिया। इससे मियाँ मंजू के तन-बदन में आग लग गयी। उसने मुग़ल-सम्राट अकबर के पुत्र शहज़ादा मुराद से सहायता माँगी।

मुगल-सम्राट अकबर (१५५६-१६०५ ई०) बहुत पहले से ही अहमद-नगर पर आँख लगाये हुए था। मियाँ मंजू का निमंत्रण मिलते ही उसकी बाछें खिल गयीं। उसका पुत्र मुराद उस समय गुजरात में था। अकबर का संकेत पाते ही उसने अपनी सेनाओं को अहमदनगर की ओर कूच करने की आज्ञा दे दी। चाँद बीबी को जब यह सूचना मिली तब वह अपने वंश और अपनी जन्म-भूमि की रक्षा के लिए तैयार हो गयीं। मुग़ल-सेनापतियों ने अहमदनगर के दुर्ग के एक ओर पाँच सुरंगें बना ली थीं और यह निश्चय कर लिया था कि दूसरे दिन उनमें आग लगाकर दुर्ग उड़ा दिया जायगा। किन्तु उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका। चाँद बीबी को सुरंगों के रहस्य का पता लग गया। उन्होंने रातोंरात दो सुरंगें बन्द करा दीं। मुराद को जब यह समाचार मिला तब वह हक्का-बक्का रह गया। एक स्त्री में इतनी फुर्ती और इतनी बुद्धि! सुबह होते ही उसने एक सुरङ्ग में आग लगा दी। इससे दुर्ग के प्राचीर का बहुत-सा भाग गिर पड़ा और सैनिक भयभीत होकर भागने लगे। ऐसे संकट-काल में चाँद बीबी ने बड़े धैर्य और साहस से काम लिया। रण-चंडी का रूप धारण कर वह बाहर निकल आयीं। उन्होंने भीरु सैनिकों को साहस बँधाया और शत्रु-सेना को ललकारा। घमासान युद्ध होने लगा और चाँद बीबी की तलवार मुग़लों का रक्त पीकर अपनी प्यास बुझाने लगी। दुर्ग की खाईं लाशों से पट गयी। रात होने पर जब युद्ध की गति मंद पड़ गयी तब चाँद बीबी ने विध्वंस प्राचीर के स्थान पर दीवार खड़ी करा दी। दूसरे दिन विध्वंस प्राचीर के स्थान पर नई प्राचार खड़ी देखकर मुराद का साहस छूट गया। उसने चाँद बीबी से संधि कर ली। बहादुर निजामशाह को

उसने गद्दी का वास्तविक अधिकारी मान लिया और चाँद बीबी उसकी संरक्षिका हो गयी। मुग़ल-सेना खिसिया कर लौट गयी।

लेकिन मुग़ल-सेना यूँ हार माननेवाली नहीं थी। उसके लौट जाने पर अहमदनगर की दशा सुधरने के बजाय और भी खराब हो गयी। बहादुर निज़ाम शाह ने चाँद बीबी की संरक्षिता में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए पाँच वर्ष तक शासन किया। सन् १६०० ई० में उसके मरते ही फिर झगड़े उठ खड़े हुए। मुग़ल-सम्राट अकबर को फिर अवसर मिला और उसने स्वयं एक बड़ी सेना लेकर दिल्ली से अहमदनगर की ओर प्रस्थान किया। इस बार भी चाँद बीबी ने मुग़ल-सेना का डटकर सामना करने का साहस किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अहमद खाँ नामक एक उच्च पदाधिकारी ने उसके साथ विश्वासघात किया। फलस्वरूप अहमदनगर की सेना ने ही दुर्ग में घुसकर उनकी हत्या कर दी। इस प्रकार उस वीरांगना की जीवन-लीला समाप्त (१६०० ई०) हो गयी।

चाँद बीबी अपने समय की अद्भुत वीरांगना थीं। उनकी कोमल भुजाओं में असीम शक्ति थी। उनके हृदय में अद्भुत साहस था। वह निर्भीक थीं। उन्होंने कभी किसी के सामने झुकना नहीं सीखा। अपनी जन्म-भूमि और अपने वंश की रक्षा के लिए वह तूफानों से लड़ती रहीं, काँटों पर चलती रहीं, पर्वतों से टकराती रहीं, लेकिन फिर भी उन्होंने कभी अपने हाथ-पैर ढीले नहीं किये। एक ओर वैधव्य जीवन, दूसरी ओर रूप-राशि, इस पर अहमदनगर और बीजापुर का वैभव-विलास! वह चाहतीं तो पलङ्ग से उतर कर जमीन पर पैर तक न रखतीं, परन्तु उन्होंने इन समस्त प्रलोभनों को ठुकराकर अपना जीवन त्याग और तपस्या का बनाया। उस देवी का सम्मान उसके जीवन-काल में न तो बीजापुरवाले कर सके और न अहमदनगर के लोग, परन्तु इतिहास के पन्नों पर उसका उज्ज्वल यश अवश्य अंकित है और वही भारतीय नारियों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। इसे कोई विश्वासघाती मिटा नहीं सकता।

छत्रपति शिवाजी

भारतीय इतिहस में महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वह एक महान संगठन-कर्ता, एक स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माता और भारतीय संस्कृति के एक निर्भीक रक्षक थे। उनका जन्म १९ फरवरी, १६३० ई० को जुन्नर के निकट शिवनेर के पहाड़ी दुर्ग में हुआ था। उनके पिता का नाम शाहजी (१५८४-१६६४ ई०) था। शाहजी सीसोदिया वंशीय राजपूत थे। महाराष्ट्र में उनका कुल 'भोसला' के नाम से प्रसिद्ध था। इसलिए शाहजी को लोग शाहजी भोंसला कहते थे। उनका विवाह सिंदखेद के प्रसिद्ध जमींदार लक्खोजी यादव की सुपुत्री जीजाबाई के साथ १६०५ ई० में हुआ था। जीजाबाई में भी राजपूती रक्त था और वह कर्तव्य-परायण, धार्मिक और साध्वी महिला थीं। इस प्रकार शिवाजी के हाड़ और माँस में एक ओर तो सीसोदिया और यादव-वंश का राजपूती रक्त समाया हुआ था और दूसरी ओर माता की कर्तव्य-परायणता, धार्मिकता और सच्चरित्रता से उनका हृदय और मस्तिष्क अनुप्राणित था। धरती में बीज पड़ चुका था, उसे केवल अंकुरित करने की आवश्यकता थी।

शाहजी थे तो बड़े वीर, लेकिन वह कहीं जनकर नहीं रहे। वह एक साधारण जागीरदार थे। लेकिन इसके साथ ही वह महत्त्वाकाँक्षी भी थे। उन दिनों अहमदनगर और बीजापुर के बीच काफी नोंक-झोंक रहती थी। शाहजी कभी अहमदनगर का साथ देते थे और कभी बीजापुर का। उन्होंने मुग़लों का भी साथ दिया था। अन्त में ख़वास खाँ के मंत्रित्व-काल में उन्होंने बीजापुर की सेवा करना आरंभ (१६३२ ई०) किया। वह एक सेनाध्यक्ष के पद पर नियुक्त

किये गये। ऐसी स्थिति में शिवाजी की शिक्षा-दीक्षा का पूरा भार उनकी माता जीजाबाई पर आ पड़ा। जीजाबाई विदुषी महिला थीं और अपने पति की भाँति महत्त्वाकांक्षिणी भी थीं। शाहजी अपनी ढुलमुल नीति के कारण अपनी महत्त्वकांक्षा पूरी न कर सके, लेकिन जीजाबाई ने अपने स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए अपने पुत्र शिवाजी को तैयार किया। उन्होंने बचपन से ही शिवाजी को रामायण, महाभारत और राजपूत-वीरों की कहानियाँ सुना-सुना कर उन्हें साहसी, निर्भीक, वीर और धर्मपरायण बना दिया। उन्होंने ही शिवाजी को भवानी का अनन्य भक्त बनाया और शिवाजी ने उसकी पाषाण प्रतिमा को अपनी तलवार-द्वारा जीवित कर दिया।

उन दिनों अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देनेवालों में गुरु दादा कोणदेव सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। माता जीजाबाई ने शिवाजी को उन्हीं के सुपुर्द कर दिया। दादा कोणदेव ने थोड़े ही समय में शिवाजी को कुश्ती-लड़ना, घोड़े की सवारी करना, अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करना, सेना का संगठन करना और छापामार युद्ध करना सिखा दिया। इसके साथ-साथ उन्होंने शिवाजी को राजनीति तथा शासन की बारीकियों का भी पाठ पढ़ाया और व्यावहारिक जीवन की शिक्षा दी। वह स्वयं ब्राह्मण थे। उनमें हिन्दुत्व की भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई थीं। इसलिए उन्होंने उन भावनाओं से शिवाजी के हृदय का भी श्रृंगार किया। शिवाजी प्रतिभा-संपन्न बालक थे। वह बहुत पढ़े-लिखे तो नहीं थे, लेकिन फिर भी उनकी बुद्धि तीव्र थी। दादा कोणदेव उन्हें जो शिक्षा देते थे उसे वह तुरन्त अपने जीवन का अंग बना लेते थे। उनके इस गुण पर मुग्ध होकर ही गुरु दादा कोणदेव ने अपना सारा ज्ञान शिवाजी के व्यक्तित्व में उतार दिया था। इस शिक्षा के फल-स्वरूप शिवाजी के व्यक्तित्व में आत्म-विश्वास, साहस, वीरता आदि गुणों के साथा-साथ धार्मिक भावना का भी विकास हुआ और उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार का व्रत लिया।

शिवाजी अपने समय की उपज थे। उनका समय अनीति, अशांति, अत्याचार और अन्याय का समय था। चारों ओर प्रजा सामन्तों के अत्याचारों से कराह रही थी। हिन्दुओं की दशा सब से अधिक गयी-बीती थी। एक ओर वे अपनी पारस्परिक फूट के शिकार हो रहे थे, दूसरी ओर विधर्मी उनकी धार्मिक भावनाओं

पर गहरी चोट कर रहे थे। उनकी आर्थिक दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी। उत्तरी भारत में मुग़ल-सम्राट शाहजहाँ (१६२७-५८ ई०) का शासन था और दक्षिण भारत में उसका पुत्र औरंगज़ेब उसकी ओर से शासन कर रहा था। औरंगज़ेब की शासन-नीति अत्यन्त पक्षपातपूर्ण थी। वह हिन्दुओं का ही नहीं, शिया-मुसलमानों का भी घोर विरोधी था। दक्षिण की कई इस्लामी-सल्तनतें शिया सल्तनतें थीं। औरंगज़ेब उन्हें फूटी आँखों भी देखना पसंद नहीं करता था। वह उन्हें अपने अधिकार में लाना चाहता था। बहमनी-साम्राज्य के विघटन के पश्चात् (१५१८ ई०) अहमदनगर, बीजापुर, बीदर, बरार और गोलकुंडा नाम की जो पाँच सल्तनतें स्थापित हुई थीं वे भी आपस में लड़ती रहती थी। ऐसे अशांत वातावरण में शिवाजी को उठने, उभरने और अपनी शक्ति को बढ़ाने का पूर्ण अवसर मिला।

शिवाजी अत्यन्त दूरदर्शी थे। वह फूँक-फूँक कर अपना क़दम उठाते थे। उनके जीवन का मार्ग अत्यन्त कंटकाकीर्ण था। उन्हें एक ओर दक्षिण के सुल्तानों से मोरचा लेना था और दूसरी ओर मुग़ल-सेना के आक्रमणों से अपनी रक्षा करनी थी। इसलिए युद्ध की दुंदुभी बजाने के पूर्व उन्होंने अपने वातावरण का गंभीर अध्ययन किया। उनकी पर्यवेक्षण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। उन्होंने अपने पिता के साथ दक्षिण के मुख्य-मुख्य स्थानों का भ्रमण किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने बीजापुर के दरबार, उसकी सेना और उस सेना की युद्ध-प्रणाली का भी ज्ञान प्राप्त किया। इससे उन्हें यह ज्ञात हुआ कि दक्षिण के सुल्तानों से प्रत्यक्ष युद्ध करने में उन्हें सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए उन्होंने छापामार युद्ध की प्रणाली अपनायी। इसके लिए उन्होंने पश्चिमी घाट के निवासी मावली जाति के लोगों का संगठन किया और उनकी सहायता से उन्होंने आस-पास लूट-मार आरंभ कर दी। इस प्रकार सिंहगढ़-दुर्ग (१६४४ ई०), तोर्ण-दुर्ग (१६४६ ई०), रोहिन्दा-दुर्ग आदि कई दुर्ग उनके हाथ आ गये।

उस समय शिवाजी की अवस्था केवल १५-१६ वर्ष की थी। दादा कोणदेव उनकी गति-विधि पर नियंत्रण रखते थे। वह यह नहीं चाहते थे कि शिवाजी अपनी अल्पावस्था में ही सबसे युद्ध छेड़कर अपने लिए संकट का आवाहन करें। इसलिए जबतक वह जीवित रहे, शिवाजी ने अपनी गति-विधि पर नियंत्रण रखा।

किन्तु उनकी मृत्यु (१६४७ ई०) के बाद शिवाजी स्वतंत्र हो गये। पिता की जागीर पर भी उनका अधिकार हो गया। इससे उनकी शक्ति बढ़ गयी। अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने रायगढ़ को अपना दुर्ग बना लिया।

अपने माता-पिता की भाँति शिवाजी भी महत्त्वाकाँक्षी थे। आरंभ में कई दुर्गों पर विजय प्राप्त करने से उनका उत्साह बराबर बढ़ता गया और फिर बीजापुर से उनकी ठन गयी। उस समय बीजापुर का सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह (१६२७-५६ ई०) था। उसके शासन-काल में शिवाजी ने पुरन्दर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इसके कुछ दिन बाद ही बीजापुर के सुल्तान ने दरबारी-सभ्यता का उल्लंघन करने के अपराध में शाहजी को बंदी बना (१६४८ ई०) लिया और उनकी जागीर छीन ली। यह देखकर शिवाजाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुग़लों की सहायता करने की धमकी दी। बीजापुर के सुल्तान धमकी में आ गये और उन्होंने शाहजी को मुक्त कर दिया।

अपने पिता के कहने से शिवाजी कुछ दिनों तक शांत रहे और अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहे। इन्हीं दिनों समर्थ गुरु रामदास से उनकी भेंट हुई। गुरु राम दास से शिवाजी को नई स्फूर्ति मिली। शिवाजी ने उनकी सलाह से अपनी सेना का संगठन किया और १६५६ ई० में मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु होने पर उन्होंने जावली (१६५६ ई०) और कोनकन (१६५७ ई०) को अपने अधिकार में कर लिया। इससे उनकी शक्ति अधिक बढ़ गयी। उस समय शाहजहाँ के पुत्र औरंगज़ेब दक्षिण के सूबेदार थे। बीजापुर के तत्कालीन सुल्तान अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६-७२ ई०) के साथ उनका युद्ध हुआ और अन्त में समझौता होगया। इसी समय औरंगज़ेब को शाहजहाँ की बीमारी की सूचना मिली और वह अपने घरेलू झगड़ों में फँस गया। इस प्रकार शिवाजी के लिए मैदान साफ हो गया। अवसर पाकर उन्होंने प्रतापगढ़ में अपना एक सुदृढ़ दुर्ग बनाया और उसमें उन्होंने अपनी इष्टदेवी भवानी की स्थापना की।

शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति से बीजापुर के सुल्तान भयभीत रहते थे। सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह मर (११ नवम्बर, १६५६ ई०) चुका था और उसका अल्पवयस्क पुत्र अली आदिलशाह सुल्तान था। उसकी माँ बड़ी साहबा शासन-कार्य चलाती थीं। इसलिए उन्होंने अपने सेनापति अफ़ज़ल खाँ के नेतत्व में

शिवाजी को पकड़ने के लिए एक सेना भेजी। अफज़ल खाँ भूतपूर्व सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह का अवैध-पुत्र था। उसकी माँ बावर्चिन थी। लेकिन वह बीजापुर के चुने हुए वीरों में से था। छल-कपट में भी वह उस्ताद था। उस समय शिवाजी वाई के निकट अपने संगठन-कार्य में लगे हुए थे। अफ़ज़ल खाँ ने अपने १२ हज़ार सैनिकों के साथ वाई की ओर प्रस्थान (सितम्बर, १६५९ ई०) किया। यह सूचना पाकर शिवाजी प्रतापगढ़ चले गये। प्रतापगढ़ में युद्ध संभव नहीं था। इसलिए अफ़ज़ल खाँ ने कृष्णजी भास्कर को अपना दूत बनाकर भेजा और शिवजीसे एकांत में मिलने की इच्छ प्रकट की। शिवाजी ने कृष्णजी भास्कार की खूब आवभगत की और उन्हें अपनी ओर मिलाकर अफ़ज़ल खाँ के वास्तविक उद्देश्य का पता लगा लिया। प्रतापगढ़ के दुर्ग के नीचे एक काफी बड़ा चबूतरा बनाया गया। अपनी सुरक्षा के लिए शिवाजी ने अपने विश्वस्त सैनिकों को एक झाड़ी में छिपा दिया और स्वयं वस्त्रों के नीचे लोहे का कवच धारण कर हाथ में बघनखा दबा लिया। इस प्रकार सुसज्जित होकर शिवाजी ने अफ़ज़ल खाँ से उस नव-निर्मित चबूतरे पर भेंट की और उनके वार को रोक कर अपने बघनखे से उसके जीवन का अन्त कर दिया।

अफजल खाँ की मृत्यु से बीजापुर में खलबली मच गयी। इसी बीच शिवाजी ने पन्हाला तक का दक्षिणी प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी का सामना करने के लिए एक सेना भेजी, किन्तु वह हार गयी। बीजापुर की एक दूसरी सेना ने पन्हाला घेर (१६६० ई०) लिया। पन्हाला में शिवाजी पड़ाव डाले हुए पड़े थे। ऐसी स्थिति में उनके सेनापति बाजीप्रभु ने ९ घंटे तक सौ मवालियों को साथ लेकर सेना का सामना किया। इसी बीच शिवाजी शत्रुओं के घेरे से निकलकर विशालगढ़ चले गये। स्वामि-भक्त बाजीप्रभु ने अपनी जान देकर वीर-गति प्राप्त की। अन्त में शाहजी ने हस्तक्षेप कर दोनों दलों के बीच संधि करा दी। इसके फलस्वरूप मुग़लों के विरुद्ध शिवाजी ने बीजापुर की सहायता की और उसे मुग़लों के अधिकार में जाने से बचा लिया। उस समय औरङ्गज़ेब मुग़ल-सम्राट था। उसने शिवाजी का दमन करने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए १६६१ ई० में उसने अपने मामा शाइस्ता खाँ को भेजा। शाइस्ता खाँ ने पूना लेकर शिवाजी के पूरे राज्य को रौंद डाला, पर शिवाजी ने अपना साहस नहीं

छोड़ा। वह दो वर्ष तक मुग़ल-सेना का सामान करते रहे। अन्त में ५ अप्रैल, १६६३ ई० की रात को वेश बदलकर शिवाजी ने पूना के दुर्ग में प्रवेश किया और शाइस्ता खाँ पर छापा मारा। शाइस्ता खाँ अपनी प्राण-रक्षा के लिए खिड़की से भाग गया। भागते समय शिवाजी की तलवार के वार से उसके हाथ की उँगली कट गयी। इसके बाद मरहठे मुग़ल-सेना पर टूट पड़े। मुग़ल-सेना पराजित हो गयी। अवसर मिलने पर शिवाजी ने सूरत नगर घेर लिया (१६६४ ई०) और उसे खूब लूटा। इस लूट में शिवाजी को पर्याप्त धन मिला।

शाइस्ता खाँ की पराजय से और सूरत की लूट का समाचार सुनकर औरङ्गजेब चिंतित हो उठा। उसने १६६५ ई० में राजा जयसिंह को शिवाजी का दमन करने के लिए भेजा। शिवाजी ने परिस्थिति देखकर जयसिंह से संधि-करली और मुग़ल-दरबार में उपस्थित होना स्वीकार कर लिया। अपने बचन के अनुसार वह अपने पुत्र शंभाजी के साथ आगरा गये। आगरा में उनका अपमान हुआ। वह अपने पुत्र के साथ बन्दी बना लिये गये। क्रोध करने का वह अवसर नहीं था। इसलिए उन्होंने चुपचाप अपमान सहन कर लिया और एक दिन वह मिठाई की टोकरी में बैठकर वहाँ से निकल भागे। साधु के वेश में वह प्रयाग, काशी, गया, पुरी और गोंडवाना होते हुए दिसम्बर, १६६६ ई० में अपने देश जा पहुँचे। उनके पहुँचने से महाराष्ट्र में एक नई जान आ गयी। अन्त में उनकी अपराजेय शक्ति देखकर जसवन्त सिंह के कहने से औरङ्गजेब ने उन्हें 'राजा' (१६६८ ई०) की उपाधि दे दी। पर शिवाजी चुपचाप नहीं बैठे। उन्होंने अपनी सेना का संगठन किया और मुग़लों से लोहा लिया। उन्होंने १६७० ई० में सूरत को दूसरी बार लूटा और खानदेश तथा बगलाना (१६७१ ई०) पर अधिकार कर लिया। १६७२ ई० में उन्होने तीसरी बार सूरत को लूटा तथा हुबली और बेदनूर तक का प्रान्त अपने हाथ में कर लिया। इस प्रकार उनके राज्य की सीमा उत्तर में सूरत तक, दक्षिण में हुबली और बेदनूर तक तथा पूर्व में बरार तक फैल गयी। दक्षिण में उनका सामना करनेवाला कोई न रह गया।

१६७४ ई० में रायगढ़ में शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ। इस अवसर पर उन्होंने 'छत्रपति', 'ब्राह्मण-प्रतिपाल' और 'महाराज' की उपाधियाँ धारण कीं। इसके बाद भी उन्होंने अपनी सीमा का विस्तार किया। कर्नाटक, मैसूर

तथा तंजऊर के अधिकांश और मद्रास के कई स्थान उनके राज्य में सम्मिलित थे। १६७८ ई० में कर्नाटक-विजय करके वह रामगढ़ आये। उस समय मुग़लों से उनका युद्ध हो रहा था। इसी बीच २३ मार्च, सन् १६८० ई० को वह बीमार पड़े और ४ अप्रैल, सन् १६८० ई० को वह इस संसार से उठ गये।

शिवाजी भारतीय इतिहास के एक अमूल्य रत्न थे। तलवार की झंकार के बीच उनका जन्म हुआ और तलवार की झंकार के बीच ही उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। जिस दिन से उन्होंने माता जीजाबाई की गोद छोड़ी उस दिन से उन्होंने विश्राम नहीं किया। वह अपनी धुन के पक्के और अपने निश्चय के सच्चे साधक थे। सारे दिन और सारी रात वह घोड़े पर बैठे रह जाते थे, लेकिन थकने का नाम नहीं लेते थे। अपनी शक्ति और अपनी योग्यता पर उन्हें पूरा विश्वास था और वह अवसर देखकर अपनी नीति का निश्चय करते थे। उनमें धैर्य और संतोष की अत्यधिक मात्रा थी। संकटापन्न परिस्थितियों में पड़कर भी वह कभी घबराते नहीं थे। वह धर्म-भीरु थे। अपने धर्म और अपनी संस्कृति के कट्टर समर्थक होते हुए भी वह अन्य धर्मों के प्रति उदार और सहिष्णु थे। क़ुरान का वह उतना ही आदर करते थे जितना रामायण का। नारी-जाति के प्रति उनके अत्यन्त उच्च विचार थे और वह पर-स्त्री को अपनी माता समझते थे। बीजापुर के सूबेदार की पुत्र-वधू गौहरबानू के साथ उन्होंने जैसा व्यवहार किया उसकी मिसाल संसार के इतिहास में नहीं मिलेगी। लेकिन इन गुणों के साथ ही वह छल-कपट में भी कुशल थे। छल-कपट का प्रयोग वह आत्म-रक्षा के लिए करते थे। अपने व्यवहार में वह अत्यन्त स्पष्ट और खरे थे। उनके समान स्पष्ट, खरा, धर्म-भीरु, त्यागी और सच्चा जन-नायक उस समय भारत में कोई नहीं था।

शिवाजी के व्यक्तित्व पर तीन व्यक्तियों का अमिट प्रभाव था—उनकी माता जीजाबाई का, उनके शिक्षक दादा कोणदेव का और उनके धर्म-गुरु रामदास का। माता जीजाबाई ने उनके बचपन को नई-नई भावनाओं से शृंगार किया था, दादा कोणदेव ने उनकी किशोरावस्था में उन भावनाओं को वीरता के साँचे में ढाला था और राष्ट्र-गुरु रामदास ने वीरता के साँचे में ढले हुए उन भावों को राष्ट्रीयता और धार्मिकता की खराद पर चढ़ाकर चमका दिया था। शिवाजी के व्यक्तित्व में जो गुण थे वे इन्हीं तीनों की देन थे। लड़ाई-झगड़ों में दिन-रात

व्यस्त रहते हुए भी शिवाजी नियमपूर्वक पूजा-पाठ और साधु-संतों की सेवा करते थे। संत तुकाराम के अभंगों से वह बहुत प्रभावित थे। उन्होंने आठ विवाह किये, पर उन्होंने कभी भी विलास को अपने जीवन का ध्येय नहीं बनाया। चरित्र की निष्ठा पर वह बहुत बल देते थे। अपने अनुयायियों पर वह विश्वास करते थे और उनके साथ वह भाई का-सा व्यवहार करते थे। यही कारण है कि उनके प्रति किसी ने कभी विश्वासघात नहीं किया। वह निर्भीक सैनिक, साहसी सेनापति, कुशल जन-नायक, न्यायी शासक, दयालु प्रजा-पालक, दीन-दुखियों के रक्षक, आर्य-संस्कृति के पोषक और अपने देश के हित-चिंतक थे। इसीलिए आज भी भारत के निवासी उनका नाम सुनते ही उनके प्रति आदर और श्रद्धा की भावना से भर उठते हैं और उनके पावन व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण कर अपने देश और धर्म की रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं।

अहल्याबाई

अठारहवीं शताब्दी की बात है। मरहठों की सेना औरङ्गाबाद के एक साधारण गाँव के बाहर, मैदान में, पड़ी हुई थी और उसे देखने के लिए बालक-

बालिकाओं की भीड़ लगी हुई थी। सहसा, उस भीड़ को चीरती हुई, नौ वर्ष की एक बालिका आगे बढ़ी और सेनापति के सामने जाकर खड़ी हो गयी। सेनापति ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा। वह अधिक सुन्दर न थी। रूप-रङ्ग साँवला था, वस्त्र ग्रामीण थे, परन्तु उसके प्रशस्त ललाट और मुख-मण्डल पर विचित्र आभा खेल रही थी। सेनापति ने उसे एक बार फिर देखा और अपनी गोद में लेकर बड़े प्रेम से पूछा—क्या चाहती हो बेटी ?

इस प्रश्न से बालिका भयभीत नही हुई। मुसकराते हुए बोली—

'तुम्हें देखने आयी हूँ।'

'मुझे ?'

'हाँ, तुम्हें ! मैं तुम्हारा नाम जानती हूँ ?'

'अच्छा, बताओ में कौन हूँ ?'

'मल्हारराव होलकर। मैंने अपने पिता से तुम्हारा नाम सुना है।'

'तुम्हारे पिता का क्या नाम है ?'

'श्री मनकोजी शिंदे।'

'वह कहाँ रहते हैं ?'

'इसी गाँव में। इसका नाम चोंट है।'

'और तुम्हारा क्या नाम है ?'

'अहल्या।'

'तुम मेरे पुत्र से विवाह करोगी ?'

बालिका इस प्रश्न का उत्तर न दे सकी। वह लज्जित हो गयी और भागकर फिर बालिकाओं की टोली में मिल गयी; परन्तु मल्हारराव के हृदय पर उसने अपने भोलेपन की जो छाप लगा दी वह अमिट रही।

मनकोजी शिंदे बीड़-तालुक़ा के एक साधारण किसान थे। चोंट में उनका घर था। उसी के आस-पास उनके खेत थे। खेती ही उनकी जीविका का मुख्य साधन था, परन्तु मरहठों में उनका बहुत सम्मान था। वह सिंधिया के वंशज थे। कहा जाता है कि विवाह के पश्चात् बहुत दिनों तक उनके कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई। इससे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अन्त में एक दिन वह भी आया जब उनके घर में एक कन्या ने जन्म (१७२३ ई०) लिया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई है और उन्होंने गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के नाम पर उनका नाम अहल्याबाई रखा।

उस समय महाराष्ट्र में शिक्षा का अधिक प्रचार नहीं था। लोग पढ़ना-लिखना व्यर्थ की बात समझते थे। इसलिए अहल्याबाई को उच्चकोटि की शिक्षा न मिल सकी। उन्होंने एक सदाचारी ब्राह्मण से कुछ पढ़ना-लिखना सीखा। प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण उन्होंने थोड़े ही दिनों में हिन्दू-धर्म सम्बन्धी मुख्य ग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन कर लिया। इसका उनके जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह बाल्यावस्था से ही पाप और पुण्य में भेद समझने लगीं और उसी के अनुसार उन्होंने अपना जीवन बनाना आरम्भ कर दिया। इस छोटी अवस्था में भी जबतक वह ईश्वर-पूजन और पुराण-श्रवण न कर लेती थीं, तबतक वह भोजन नहीं करती थीं। ऐसी थी उनकी धर्म-परायणता ! ऐसा था उनका ईश्वर के प्रति प्रेम ! उनका स्वभाव अत्यन्त कोमल था। दीन-दुखियों की दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था।

अहल्या साँवले रङ्ग की साधारण बालिका थीं। उनका डोल-डौल मध्यम श्रेणी का था, परन्तु उनकी तेजस्वी और बड़ी-बड़ी आँखों में विचित्र आकर्षण था। उनका प्रशस्त ललाट, उनकी काली और घनी भृकुटि, उनकी लम्बी नासिका

और गोल-मुख से उनके चारित्र की महानता और गुणों की गम्भीरता प्रकट होती थी।

अहल्या साधारण किसान-बालिका थी। गाँव के प्राकृतिक वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ था। इसलिए उनके जीवन में सादगी और स्वाभाविकता थी। वह सुन्दर न होते हुए भी अत्यन्त सुन्दर थी, साधारण होते हुए भी असाधारण थीं। कठिन परिश्रम से उनका शरीर निखर आया था। ९ वर्ष की अवस्था ही में वह चौदह वर्ष की जान पड़ती थीं। उस समय बाल-विवाह का प्रचलन था। इसलिए मनकोजी शिंदे को चिन्ता हुई अहल्या के लिए वर की। बड़ी दौड़-धूप की गयी, परन्तु उसके योग्य कोई वर नही मिला। संयोग की बात, इसी समय मल्हारराव होलकर भी अपने पुत्र खंडेराव के लिए सुयोग्य कन्या की खोज में थे। एक दिन उन्होंने किसी युद्ध से लौटकर अहल्याबाई के गाँव के बाहर एक मैदान में पड़ाव डाल दिया। सौभाग्यवश अहल्याबाई से उनकी अचानक भेंट हो गयी। वह उनके गुणों पर मुग्ध हो गये। वह उनसे खंडेराव का विवाह करने के लिए तैयार हो गये। उन्होंने अहल्याबाई के पिता से मिलकर अपनी इच्छा प्रकट की। मनकोजी शिंदे ने घर-बैठे अपनी मुराद पूरी होते देखकर यह संबन्ध स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, १७३५ ई० में, अहल्याबाई का विवाह खंडेराव के साथ हो गया।

अहल्याबाई बालिका से वधू बन गयीं और अपने झोंपड़े से निकलकर इन्दौर के राज-भवन में पहुँचीं। यद्यपि इस समय उनके जीवन मे महान परिवर्तन उपस्थिति हो गया था, तथापि जिन सद्गुणों के आधार पर उन्होने इतना वैभव अर्जन किया था, उनको त्यागना उन्होने उचित नही समझा। एक राजा की पुत्र-वधू होने पर भी उनमें वही धार्मिकता और स्वभाव की वही कोमलता बनी रही। उनके इन गुणों के कारण मल्हारराव होलकर उनको अपने पुत्र से भी अधिक प्यार करते थे और मल्हारराव की पत्नी गौतमाबाई उनकी सेवा-टहल तथा घर-गृहस्थी के काम से अत्यन्त प्रसन्न रहा करती थी। खंडेराव का स्वाभाव बहुत उग्र और हठी था। वह अपव्ययी भी थे। लेकिन अहल्याबाई से वह भी प्रसन्न रहते थे। इस प्रकार अहल्याबाई ने थोड़े ही दिनो मे सब के हृदय पर अपने

सद्गुणों की छाप लगा दी। वह सब की प्रेम-पात्री बन गयी। कालांतर में देपालपुर स्थान पर १७४५ ई० में उनके गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। इस नवजात शिशु का नाम माल्हीराव रखा गया। इसके तीन वर्ष पश्चात् १७४८ ई० में, एक कन्या भी उत्पन्न हुई। इनका नाम मुक्ताबाई रखा गया।

मल्हारराव पौत्र और पौत्री पाकर बड़े प्रसन्न हुए, परन्तु दुर्दैव से यह न देखा गया। १७५४ ई० में खंडेराव सूरजमल जाट से युद्ध करते हुए डेग में मारे गये। इस दुर्घटना से मल्हाराव को बड़ा दुःख हुआ। जब अहल्याबाई को यह हृदय-विदारक समाचार मिला, तब वह उस समय की प्रथा के अनुसार सती होने के लिए तैयार हुईं, परन्तु मल्हारराव के अधिक आग्रह करने और समझाने-बुझाने पर उन्होंने अपना विचार त्याग दिया। मल्हारराव वृद्ध हो गये थे। पुत्र-वियोग ने उनको कमर और भी तोड़ दी थी। अतएव उनके लिए राज्य-भार संभालना कठिन हो रहा था। मालीराव अभी नासमझ बच्चा था। इन सब बातों का विचार कर मल्हारराव ने शासन का कुल भार अहल्याबाई के हाथों में दे दिया और अलग हो गये।

अहल्याबाई प्रबन्ध-कार्य में बड़ी चतुर थी। वह वार्षिक कर लेती थीं, आय-व्यय का लेखा देखती थीं और उसकी जाँच करती थीं। वह स्वयं प्रत्येक कार्य की देख-रेख रखती थी और प्रजा के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहती थीं। प्रजा भी उनके शासन से बहुत संतुष्ट और प्रसन्न थी। वह अहल्याबाई को देवी समझती थी और उनके गुणों पर मुग्ध थी। मल्हारराव अपनी पुत्र-वधू की ऐसी योग्यता पर बड़े प्रसन्न रहते थे। परन्तु दुर्दैव से यह भी न देखा गया। वह भी अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। १७६५ ई० में ग्वालियर-राज्य के निकट, आलमपुर में, वह अचानक बीमार पड़े और देखते ही देखते चल बसे। तुकोजी ने उनके शरीर का अन्तिम संस्कार किया। अहल्याबाई ने उनके स्मरणार्थ अधिक द्रव्य व्यय करके उस स्थान पर एक छतरी बनवा दी और उन्हीं के नाम पर एक गाँव बसा दिया। यह गाँव ग्वालियर से ४० मील दूर मुल्हरगंज के नाम से अबतक प्रसिद्ध है।

मल्हारराव होलकर की मृत्यु के उपरान्त उनका पौत्र माल्हीराव इन्दौर की गद्दी पर बैठा। वह बड़ा चरित्रहीन था और अपना समय भोग-विलास में व्यतीत

करना था। माता की धार्मिकता उसे बिलकुल नापसन्द थी। इतिहास-लेखकों का कहना है कि उसकी माता निर्धन ब्राह्मणों को जो वस्त्र दान में देती थी, उसमें वह विषैले जन्तु, सर्प-बिच्छू इत्यादि छिपा दिया करता था और जब वे उन्हें काटते थे तब वह उतना ही प्रसन्न होता था जितना उसकी माता दुखी होती थी। मल्हीराव के इस दुर्व्यवहार से अहल्याबाई का चित्त उसकी ओर से फट-सा गया था, परन्तु पुत्र पुत्र ही है। वह कितना ही दुराचारी क्यों न हो, माता का स्नेहमय अन्तःकरण उसे भुलाने की ही चेष्टा करता है। मालीराव के नौ महीने के शासन-काल में अहल्याबाई सुख से नहीं सो सकीं। विलासपूर्ण जीवन ने मल्हीराव का अन्त कर (१७६६ ई०) दिया। इस प्रकार दुर्दैव ने अहल्याबाई के हाथ के सहारे की यह अन्तिम लकड़ी भी छीन ली। अब इस संसार में उन्हे सान्त्वना देनेवाली केवल उनकी पुत्री रह गयी।

मल्हीराव की मृत्यु के पश्चात् पुण्यशीला अहल्याबाई ने शासन-प्रबन्ध का सारा कार्य अपने हाथ में ले लिया। उस समय गंगाधर यशवन्त इन्दौर के दीवान थे। वह बड़े छली और विश्वासघाती थे। उन्होंने अहल्याबाई को हटाकर अपनी प्रभुता जमाने के लिए एक चाल सोची। अहल्याबाई बड़ी चतुर थीं। वह गंगाधर यशवन्त का भाव ताड़ गयीं। इसलिए उन्होंने अपने आगे उनकी एक भी न चलने दी। इससे गङ्गाधर यशवन्त असंतुष्ट हो गये। उन्होंने माधवराव प्रथम पेशवा के चाचा रघुनाथराव को पूना से इन्दौर पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया और अपनी सम्पूर्ण सहायता का वचन दिया। लालची राघोबा इन्दौर पर पहले ही से दाँत लगाये हुए था। इसलिए गङ्गाधर यशवन्त का निमंत्रण पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया और आक्रमण की तैयारी करने लगा। जिस समय अहल्याबाई को यह सूचना मिली उस समय उन्होंने भोसले, गायकवाड़ आदि मराठे-माण्डलीक नरपतियों से सहायता की याचना की। सब लोग धर्मपरायण विधवा की रक्षा के लिए तैयार हो गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने एक सेना भेज दी और जन्हुजी भोसला स्वयं सेना लेकर होशङ्गाबाद से चल पड़े। तुकोजीराव सेनापति बना दिया गया और सेना तैयार करने की आज्ञा दे दी गयी। इस प्रकार थोड़े ही समय में युद्ध की सारी तैयारी हो गयी। ऐसे अवसर पर अहल्याबाई ने पेशवा माधवराव तथा उनकी धर्म-पत्नी रामबाई को एक अत्यन्त करुणाजनक पत्र लिखा। इस पत्र का सामयिक

प्रभाव पड़ा। माधवराव ने राघोवा के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट की। इससे अहल्याबाई का साहस और भी बढ़ गया।

राघोबा ने अहल्याबाई को अबतक अबला के रूप में ही देखा था। वह यह नहीं जानता था कि अन्तःपुर की कुल-वधू इतने शीघ्र सेना का सङ्गठन कर सकती है। उसे आश्चर्य हुआ उनके साहस पर, उनकी बुद्धि पर, उनकी शासन-पटुता पर, परन्तु अब साचने का समय नहीं था। दोनों ओर से युद्ध की घोषणा हो चुकी थी। ऐसी दशा में पीछे हटना मर्यादा के विरुद्ध था। इसलिए राघोबा ने क्षिप्रा नदी के दक्षिण तट की ओर प्रस्थान किया। यह समाचार पाते ही तुकोजीराव उसी नदी के किनारे, उज्जैन के पास, एक घाटी में डट गये। दोनों ओर से युद्ध के नगाड़े बजने लगे। राघोबा को विश्वास था कि इन्दौर पर विजय पाना सहज नहीं है। उसे पेशवा माधवराव की सम्मति का भी पता चल गया था। इसलिए उसका साहस छूट गया। वह पालकी में बैठकर तुकोजी के पास आया और दूसरे दिन उनके साथ इन्दौर गया। वहाँ उसने अहल्याबाई से भेंट की। फलतः युद्ध बन्द हो गया। राघोबा वहाँ एक मास तक पड़ा रहा। इसके पश्चात् वह पूना लौट गया। इस प्रकार षड्यंत्रकारी गङ्गाधर की समस्त कुचेष्टाएँ विफल हो गयीं। अहल्याबाई उनकी जान ले सकती थीं, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वह उनका पुराना सेवक था। इसलिए उन्होंने उनको उसी पद पर पुनः नियुक्त कर दिया। अहल्याबाई का यह सद्व्यवहार देखकर गंगाधर यशवन्त को इतनी ग्लानि हुई कि उसने संन्यास ले लिया।

अहल्याबाई बड़ी उदार थीं। वह अपनी प्रजा को अपना पुत्र समझती थीं और दिन-रात उसके कष्ट-निवारण की चिन्ता में डूबी रहती थीं। जब संसार सोता था, तब वह जागती थीं। इतना करने पर भी इन्दौर-राज्य में चोर-डाकुओं और लुटेरों ने बड़ा उत्पात मचा रखा था। दिन-दहाड़े चोरियाँ होती थी और डाके पड़ते थे। अहल्याबाई ने अपनी प्रजा को इस दुःख से मुक्त करने के लिए कई उपाय सोचे, परन्तु सभी निष्फल हुए। अन्त में उन्होंने अपने राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक सभा की। इस सभा में उन्होंने एक ऐसे वीर पुरुष का आवाहन किया जो उसकी प्रजा को दिन-दहाड़े डाका डालने वालों से मुक्त कर सके। इस प्रस्ताव को सुनकर, यशवन्तराव फाण्शे उठ खड़ा हुआ। अहल्याबाई

ने धन और सेना से उसकी सहायता की और राज्य की रक्षा एवं सुप्रबन्ध के लिए उसे सहर्ष विदा किया। यशवन्तराव ने दो ही वर्षों में राज्य को लुटेरों से मुक्त कर दिया। उसके इस कार्य से अहल्याबाई बड़ी प्रसन्न हुईं और उन्होंने अपनी पुत्री मुक्ताबाई का विवाह यशवन्तराव के साथ कर दिया। कालान्तर में मुक्ताबाई के गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम नत्थोबा रखा गया। अहल्याबाई ने बहुत कुछ खोकर एक नाती पाया। नाती ने उनके हृदय के पुराने घाव भर दिये। उनके जीवन की मुर्झाई फुलवारी लहलहा उठी।

अहल्याबाई अब निश्चिन्त थीं। तुकोजी उनके प्रधान सेनापति थे। वह उनका बहुत विश्वास करती थीं। उन्हीं की सहायता से उन्होंने इन्दौर पर लगभग ३० वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक शासन किया। इन्दौर का सम्पूर्ण राज्य तीन भागों में विभाजित कर दिया गया। पहला भाग सतपुड़ा पहाड़ी के उस पार दक्षिण की ओर फैला हुआ था। दूसरा भाग सतपुड़ा के उत्तर की ओर, महेश्वर के नाम से प्रख्यात था। तीसरा भाग महेश्वर के उत्तर में राजपूताने तक फैला हुआ था। इन तीनों भागों की देख-रेख वह स्वयं तुकोजी की सहायता से करती थीं। कोष पर उनका निजी अधिकार था। वह उसे अपनी इच्छानुसार व्यय करती थीं। कभी-कभी व्यय के सम्बन्ध में दोनों में वादविवाद भी हो जाताता था, परन्तु इससे अहल्याबाई के मन में किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं आता था। तुकोजी भी अपने हृदय में किसी प्रकार का मैल नहीं आने देते थे। वह अहल्याबाई को सदैव मातेश्वरी कहा करते थे। सच तो यह है कि अहल्याबाई ने अपने पुत्र मल्हीराव को खोकर तुकोजी को प्राप्त किया था।

तुकोजी ने अहल्याबाई की आज्ञा से राज्य का अच्छा प्रबन्ध किया। उन्होंने प्रजा की भलाई के लिए प्रत्येक उपाय से काम लिया। बाहर का कुल काम उन्हीं के हाथ में था। अहल्याबाई भीतर का काम देखती थी। उनका अधिक समय शासन-कार्य-संचालन में व्यतीत होता था। इतना ही नहीं, इन कार्यों से छुट्टी पाने पर वह धार्मिक ग्रन्थों का अवलोकन करती थीं। वह नित्य प्रातःकाल उठती थीं और स्नानादि के पश्चात् पूजा-पाठ करती थीं। इसके बाद वह भिक्षुकों को भोजन कराती थीं और थोड़ी देर आराम करके राज-सभा में उपस्थित होती थीं। राज-सभा में वह राजमंत्रियों से सम्भाषण करती थीं और शासन की सभी बातों का

उचित प्रबन्ध करती थीं। उस समय जो प्रार्थी आता था, उसकी बातों को वह बड़े ध्यान से सुनती थी और भरसक उसे सन्तुष्ट करती थीं। इस प्रकार वह दिन-भर काम में व्यस्त रहती थी। सूर्यास्त के पश्चात् वह पूजा-पाठ करती थीं और नौ बजे फिर शासन के कामों में व्यस्त हो जाती थीं। एक नारी का इतना परिश्रम इतना त्याग, व्यर्थ न हुआ। इन्दौर की सूखी खेती हरी हो गयी। प्रजा शान्तमय जीवन व्यतीत करने लगी। देश धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। रिक्त राज्य-कोष धन-धान्य से भर गया।

अहल्याबाई के शासन-काल में बहुत कम युद्ध हुए। वह बहुत कम सेना रखती थीं। उनके नाम का ऐसा प्रभाव था कि अड़ोस-पड़ोस वाले समर-लोलुप राजाओं को उनके राज्य पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता था। एक बार उदयपुर के शासक, चन्द्रावत ने अपनी पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ने के विचार से सन् १८०० ई० में, तुकोजी की सेना पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में तुकोजी राव की विजय हुई और उनकी धाक उन लोगों पर खूब जम गयी। राघोबा ने भी इसी प्रकार एक बार धन की माँग के बहाने उन पर आक्रमण किया। अहल्या बाई स्वयं, अपने साथ पाँच सौ स्त्रियाँ लेकर वीर वेष धारण कर रण-क्षेत्र में जा डटीं। राघोबा उनका यह साहस देखकर मन-ही-मन बड़ा लज्जित हुआ और लौट गया। इस प्रकार उन्होंने बुद्धि-बल और साहस से शत्रुओं को भी अच्छी तरह दमन किया।

अहल्याबाई का हृदय अत्यन्त कोमल था, परन्तु अन्यायी को उचित दंड देने में वह कभी संकोच नहीं करती थीं। वह कठोरता और कोमलता दोनों से काम लेती थीं। अपने धर्म में उनका अटल विश्वास था। तीर्थस्थानों में यात्रियों की सुविधा के लिए उन्होंने देव-मन्दिर तथा धर्मशालाएँ बनवा दी थीं। उनका अधिक धन इन्हीं सब कामों में व्यय होता था। सन् १७९५ ई० में, उत्तर भारत के दारुण दुर्भिक्ष में उन्होंने असंख्य लोगों की, अन्न और वस्त्र से, बड़ी सहायता की थी। जगन्नाथजी जानेवाली सड़क के किनारे और केदारनाथ में धर्मशाला उन्हीं ने बनवाई थी। काशी में उन्होंने अपने नाम से गंगा नदी के किनारे एक घाट बनवाया था। इन पुण्य-कार्यों के अतिरिक्त, उन्होंने कई किले भी बनवाये थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर कुएँ खुदवाये, सराएँ बनवायीं और सड़क के किनारे-किनारे वृक्ष

लगवाये थे। इन समस्त पुण्य-कार्यों से उनका नाम अमर हो गया, परन्तु मानसिक दुःख से उन्हें छुटकारा नहीं मिला।

अहल्याबाई के अन्तिम दिन बड़ी बुरी तरह बीते। यह पहले लिखा जा चुका है कि नत्थोबा उनका नाती था। वह बड़ा होनहार बालक था। बीस वर्ष की आयु भोगने पर एक दिन शीत-ज्वर ने उसका प्राणान्त कर दिया। उसकी मृत्यु से यशवन्तराव के हृदय पर इतनी चोट लगी कि वह भी एक वर्ष बाद, सन् १७९१ ई० में, काल की गोद में सो गये। मुक्ताबाई पति-वियोग सहन न कर सकी। वह सती होने के लिए तैयार हुई। अहल्याबाई ने उसे बहुत समझाया, अपने वैधव्य जीवन की कहानी सुनाई, अपने सूनेपन की याद दिलाई; परन्तु मुक्ताबाई के हृदय पर उसकी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में, वह सती हो गयी। इस प्रकार एक-एक कर सभी आत्मीय जन उनसे विदा हो गये। वह संसार में अकेली रह गयीं। जीवन का यह सूनापन उन्हें अखर रहा था। वह धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहकर अपना मन बहलाने की बहुत चेष्टा करती थी, परन्तु उनके हृदय के घाव उन्हें चैन नहीं लेने देते थे। अन्त में ६० वर्ष की आयु भोगने के पश्चात्, वह पुण्यशीला आत्मा इस दुखमय संसार को त्यागकर स्वर्गलोक में जा बसी।

कितना दुखद अन्त था उस विदुषी का! कितना करुणाजनक जीवन था उस भद्र नारी का!! आज इतने दिनों के पश्चात् भी जब उनकी याद आती है, हृदय भर आता है और आँखों से आँसुओं की उष्ण धारा प्रवाहित होने लगती है।

●●

कित्तूर की रानी

डेढ़ सौ वर्ष से कुछ अधिक हुए, धारवाड़ (मैसूर-प्रदेश) में एक छोटा-सा राज्य था—कित्तूर राज्य। यह तीन सौ उनसठ गाँवों और बहत्तर किलों का

राज्य था। कित्तूर इसकी राजधानी थी। देसाई-वंश के मल्लसर्ज यहाँ के राजा थे। वह बड़े वीर और पराक्रमी थे। पेशवा उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें 'प्रतापराव' कहते थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। उनमें से एक का नाम रुद्रव्वा और दूसरी का नाम चिन्नामा था। रुद्रव्वा के गर्भ से एक पुत्र था जिसका नाम शिवलिंग रुद्रसर्ज था। चिन्नामा से कोई सन्तान नहीं थी। वह बड़ी विदुषी और वीरांगना थीं। युद्ध-कला में निपुण होने के साथ-साथ वह कन्नड़, मराठी, कोंकणी और हिन्दी भी जानती थीं। राजनीति का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। राज्य के सुप्रबंध में वह अपने पति का हाथ भी बटाती थी।

कित्तूर के महाराजा मल्लसर्ज जब वृद्ध हो गये तब राज्य के प्रवन्ध का सारा भार छोटी रानी, चिन्नामा, पर आ गया। उनके प्रधान दीवान गुरुसिद्धप्पा सच्चे स्वामि-भक्त थे। लेकिन अन्य दीवान लोभी और स्वार्थी थे। इसलिए राज्य का संपूर्ण कार्य गुरुसिद्धप्पा और चिन्नामा की देख-रेख में ही चलता था। चिन्नामा ने अपनी कार्य-दक्षता और सुशीलता से प्रजा के हृदय में अपना स्थान बना लिया था। जबतक महाराज मल्लसर्ज जीवित रहे तबतक किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हुई। राज्य में चारों ओर शांति थी, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद शिवलिंग रुद्रसर्ज के सिंहासनारूढ़ (१८१६ ई०) होते ही राज्य की व्यवस्था

बिगड़ने लगी। रुद्रसर्ज में राज्योचित गुणों का अभाव था। इसलिए शीघ्र ही वह लोभी और चाटुकार दीवानों के हाथ की कठपुतली बन गया।

उस समय लार्ड हेस्टिंग्स (१८१३-२३ ई०) भारत का गवर्नर जनरल था। साम्राज्य-विस्तार उसकी नीति थी। पेशवा पारस्परिक फूट के कारण निर्बल हो रहे थे। लार्ड हेस्टिंग्स को इससे लाभ उठाने का अवसर मिल गया। सन् १८१८ ई० में अँग्रेजों और पेशवा के बीच युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में पेशवा ने कित्तूर से भी सहायता माँगी। रानी चिन्नामा पेशवा के पक्ष में थीं, लेकिन राजा रुद्रसर्ज अपने स्वार्थी और देशद्रोही दीवानों के कारण पेशवा के पक्ष में नहीं था। उसने रानी की सलाह को ठुकराकर अँग्रेजों की सहायता की। शोलापुर के निकट अर्ष्टा में अँग्रेजों और पेशवा के बीच युद्ध हुआ। इस युद्ध में पेशवा पराजित हो गये। इस प्रकार पेशवा के रूप में कित्तूर की सुरक्षा के लिए जो दीवार खड़ी थी वह ढह गयी। अँग्रेजों की सहायता करने के नाते कित्तूर को तीन हजार नौ सौ रुपये का पुरस्कार मिला, लेकिन इसके साथ ही उसे एक हजार चार सौ घुड़सवार रखने का जो अधिकार प्राप्त था वह उससे छीन लिया गया और उसके बदले में उतने ही अँग्रेज सैनिक रखने का उसे आदेश दिया गया। इससे अँग्रेज-सैनिकों का सारा व्यय भी कित्तूर-राज्य को उठाना पड़ा। यह था अँग्रेजों की कृतज्ञता का नमूना! अँग्रेजों की सहायता कर रुद्रसर्ज ने जो भूल की उसका कुपरिणाम सारे कित्तूर-राज्य को भोगना पड़ा।

कित्तूर-राज्य में अँग्रेजी-सैनिकों के प्रवेश से रानी चिन्नामा का रक्त खौल उठा। लेकिन उस समय वह कुछ कर नहीं सकीं। अँग्रेजों से जूझने की उस समय उनमें शक्ति नहीं थी। लेकिन वह यह जान गई थीं कि कित्तूर-राज्य के दिन इने-गिने हैं। कित्तूर की रक्षा के लिए उन्हें किसी दिन अँग्रेजों से लोहा लेना पड़ेगा। यह सोचकर उन्होंने भीतर-ही-भीतर तैयारी आरम्भ कर दी। इसी बीच राजा शिवलिंग रुद्रसर्ज का स्वास्थ्य बिगड़ गया और ऐसा बिगड़ गया कि वह फिर उठ न सके। राजा ने अपने अन्तिम समय में गद्दी के लिए एक बालक को गोद लिया और उसका नाम गुरुलिंग मल्लसर्ज रखकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

चाटुकार किसी के नहीं होते। उनकी कोई नीति नहीं होती। वे पैसे के लिए जीते और पैसे के लिए मरते हैं। राजा शिवलिंग रुद्रसर्ज के दरबार में जो

चाटुकार उसकी हाँ-में-हाँ मिलाया करते थे वे ही कित्तूर का नमक खाकर कित्तूर की जड़ खोदने में लगे हुए थे। इधर राजा रुद्रसर्ज का दम टूटा, उधर उन्होंने धारवाड़ की ओर प्रस्थान किया। धारवाड़ में डिप्टी कमिश्नर थैकरे रहता था। थैकरे को जब चाटुकार दीवान ने गोद लेने की सूचना दी तब वह क्रोध से बौखला उठा। कित्तूर कित्तूरवालों का नहीं, अँग्रेजों का था। अँग्रेज उसके स्वामी थे। राजा रुद्रसर्ज उनकी कृपा से राजा बना हुआ था। उसे गोद लेने का क्या अधिकार! यह विचार उसके दिमाग में आया और उसने तुरन्त रानी चिन्नामा के हाथ से सारा अधिकार छीनकर और प्रधान दीवान गुरुसिद्धप्पा को हटाकर सूचना देनेवाले दीवान को कित्तूर का शासन-भार संभालने का परवाना दे दिया। आपस में लड़ाने की इससे अच्छी चाल और क्या हो सकती थी!

कित्तूर का वह विद्रोही दीवान हँसते-हँसते धारवाड़ के डिप्टी कमिश्नर का परवाना लेकर कित्तूर आया। उसने वह परवाना रानी चिन्नामा को दिया। परवाना पढ़ते ही रानी चिन्नामा का मुख-मण्डल तमतमा उठा। उसने थैकरे का पत्र टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा—"हमने गोद लेकर अँग्रेजों के विरुद्ध कोई षड्यंत्र नहीं किया है। गोद लेना हमारा अधिकार है। इसे थैकरे नहीं रोक सकता। हमारे घरेलू मामले में बोलनेवाला वह है ही कौन! मैं उसकी बात नहीं मान सकती। कित्तूर स्वतंत्र राज्य है और तबतक रहेगा जबतक इस शरीर में प्राण है।" ऐसी फटकार सुनकर दीवान अपना-सा मुँह लेकर चला गया। वह चुपचाप नहीं बैठा। घायल सर्प की भाँति फुफकार मारता हुआ वह धारवाड़ पहुँचा और नमक-मिर्च लगाकर चिन्नामा के विरुद्ध उस देश-द्रोही ने थैकरे को भड़का दिया।

रानी चिन्नामा को दीवान की कुचालों पर पहले से ही संदेह था। उक्त घटना से संदेह ने सत्य का रूप धारण कर लिया। रानी चिन्नामा समझ गयीं कि कित्तूर पर संकट के बादल घहरा रहे हैं। इसलिए उन्होंने स्वयं युद्ध की पूरी तैयारी प्रारंभ की और अपनी प्रजा को भी कित्तूर की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। उसके प्रोत्साहन से कित्तूर की जनता भी युद्ध की तैयारी में पूर्णयता लग गयी।

२० नवम्बर, सन् १८२४ को थैकरे ने अपने पाँच सौ सैनिकों के साथ कित्तूर नगर के बाहर डेरा डाला। गुप्तचरों-द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि रानी चिन्नामा युद्ध

के लिए तैयार है और उन्होंने किले तथा नगर की सुरक्षा का प्रबंध पूरी तरह कर लिया है। ऐसी स्थिति में थैकरे ने आग में कूदना उचित नहीं समझा। उसने कूटनीति का सहारा लिया। उसने रानी चिन्नामा के पास संदेश भेजा—"रानी पर पौने दो लाख रुपये का ऋण है। हम लोग वह ऋण वसूल करने और दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में बातचीत करने आये हैं।" अँग्रेजों की ऐसी कपटपूर्ण चालों से भोले-भाले भारतीय शासक अधिक परिचित नहीं थे। वे अँग्रेजों को किसी-न-किसी रूप में अपना हितैषी समझते थे। अँग्रेजों के विरुद्ध उस समय तक असंतोष भी उभर नहीं पाया था। पारस्परिक फूट ने राष्ट्रीय भावना को बिल्कुल दबा दिया था। ऐसे समय में रानी चिन्नामा पहली वीरांगना थीं जिन्होंने देश-प्रेम की भावना से प्रभावित होकर अँग्रेजों को चुनौती दी। उन्होंने थैकरे के संदेश के उत्तर में कहा—"दासता से मौत अच्छी है। मैं रण-भूमि में ही थैकरे का स्वागत करूँगी।"

रानी चिन्नामा का उत्तर सुनकर थैकरे के तन-बदन में आग लग गयी। एक साधारण महिला और उसका यह साहस! अँग्रेज भारत के बड़े-बड़े वीरों से लड़ चुके थे और उन्हें परास्त कर चुके थे। अभी तक उन्हें किसी वीरांगना का जौहर देखने का अवसर नहीं मिला था। उनका यही विश्वास था कि जब भारत के बड़े-बड़े रणबाँकुरे उनकी गोली के शिकार हो गये तब रानी चिन्नामा किस खेत की मूली है। ऐसा सोचकर थैकरे ने कित्तूर पर धावा बोल दिया। रानी चिन्नामा ने दुर्ग का प्रवेश-द्वार बन्द कर दिया। थैकरे ने उसे खोलने के लिए कई बार कहा, लेकिन द्वार नहीं खुला। ऐसी स्थिति में अँग्रेजी सेना दुर्ग पर गोले बरसाने लगी। रानी की ओर से भी गोलों की वर्षा हुई। वह स्वयं अपने पति की तलवार लेकर और घोड़े पर सवार होकर युद्ध के मैदान में कूद पड़ीं और गोलों की बौछार में मारकाट करने लगीं। इसी बीच रानी के कुशल सेनापति वीर बालण्णा के अचूक निशाने से थैकरे का शरीर धरती पर छटपटाने लगा। यह देखकर अँग्रेजी-सेना भाग खड़ी हुई। दासता पर स्वतंत्रता की यह पहली विजय हुई।

अँग्रेजों की पराजय का समाचार बिजली की भाँति चारों ओर फैल गया। बेलगाँव के हाकिम चेपलिन को जब यह समाचार मिला तब वह तुरन्त कित्तूर पर आ धमका। उसने थैकरे की मौत का बदला लेने और कित्तूर को नष्ट करने का प्रण किया। कित्तूर भी उसका सामना करने के लिए तैयार हो गया। दोनों

पक्षों ने युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं और सेनाएँ रण-भूमि में डट गयीं। रानी चिन्नामा मर्दाने वेश में घोड़े पर सवार होकर और हाथ में तलवार लेकर युद्ध करने लगीं। देखते-देखते उन्होंने कई अँग्रेजों को धरती पर सुला दिया। काफी देर तक घमासान युद्ध होता रहा। किले की बारूद आदि युद्ध-सामग्री समाप्त हो गयी। आगे अधिक देर तक युद्ध न चलते देखकर रानी के विश्वस्त सिपाहियों ने उन्हें युवराज के साथ गुप्त-द्वार से निकल जाने की सलाह दी। इसी बीच उस देश-द्रोही दीवान ने चेपलिन को गुप्त-द्वार का मार्ग बता दिया। रानी चिन्नामा अपने परिवार के साथ पकड़ ली गयी और इस प्रकार स्वतंत्रता की देवी को पराधीनता की बेड़ियाँ पहना दी गयीं।

कित्तूर की जो दशा हुई, वह इतिहास के पन्नों पर अंकित है। उसे अँग्रेजों ने जी-भर लूटा और जिसे पाया उसे मौत के घाट उतार दिया। इससे सारे नगर में हा-हाकार मच गया। उसकी स्वतंत्रता नष्ट हो गयी और उस पर अँग्रेजों के खूनी पंजों का अधिकार हो गया। एक देश-द्रोही ने स्वार्थवश अपना राज्य नष्ट कराने में ही अँग्रेजों की सहायता नहीं की, स्वतंत्रता की पुजारिन रानी चिन्नामा को भी उसने हथकड़ी-बेड़ी पहनाने में सहयोग दिया। रानी चिन्नामा को, अँग्रेजों ने, बेलहोंगल नाम के एक गाँव में रखा। वहीं पाँच वर्ष की कठिन यंत्रणा के बाद सन् १८२९ ई० में उन्होंने अपनी आत्मा को अपने हाथों बंधन-मुक्त किया। इस प्रकार वह स्वतंत्रता की अमर अभिलाषा लेकर स्वर्ग सिधारीं।

बेलहोंगल में अमर शहीद रानी चिन्नामा की समाधि बनी हुई है। यह समाधि कर्नाटक के लिए ही नहीं, सारे भारत के लिए पूज्य है। यह हमारा तीर्थ-स्थान है। जबतक यह धरती रहेगी और इस धरती पर यह समाधि बनी रहेगी तबतक हम वीरांगना चिन्नामा की याद करते रहेंगे।

दादाभाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी तत्कालीन भारत के कर्णधार, स्वतंत्रता के पुजारी और देश तथा जाति के गौरव थे। उन्होंने कांग्रेस की स्थापना में अपना अमूल्य सहयोग ही नहीं दिया था, बल्कि उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बराबर चेष्टा की थी। उन्हें सरकार भी मानती और वह जनता में भी अत्यन्त लोक-प्रिय थे। उन्होंने लगभग ५० वर्ष तक देश की प्रशंसनीय सेवा की। वह तीन बार काँग्रेस के सभापति चुने गये, दो बार कलकत्ता-काँग्रेस के और एक बार लाहौर-काँग्रेस के। लाहौर-अधिवेशन (१८९३ ई०) के अवसर पर उनके जुलूस का रथ बैलों ने नहीं, देश के तरुणों ने खींचा था। यह सम्मान काँग्रेस के बहुत कम सभापतियों को प्राप्त हुआ है।

दादाभाई नौरोजी का जन्म बम्बई के एक प्रसिद्ध पारसी पुरोहित-परिवार में ४ सितम्बर, सन् १८२५ ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम दोर्डी नौरोजी और उनकी माता का नाम मानकबाई था। जब वह चार वर्ष के थे तब उनके पिता का स्वर्गवास (१८२९ ई०) हो गया। इससे उनकी माता पर सारे परिवार का बोझ आ पड़ा। उनकी माता ने तत्कालीन पारसी-प्रथा के अनुसार पाँच वर्ष की अबोध अवस्था में गुलबाई नामक एक कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया। उनकी माता अधिक शिक्षित नहीं थीं, किन्तु वह अपनी साधारण स्थिति में भी अपनी संतान को उच्च शिक्षा देने की इच्छुक थी। पहले उन्होंने घर पर ही दादाभाई की शिक्षा का प्रबन्ध किया। इसके बाद उन्होंने उन्हें नेटिव एडूकेशन सुसाइटी के एक विद्यालय में अँग्रेजी पढ़ने के लिए भेजा। इस विद्यालय से

दादाभाई ने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास किया। फिर वह बम्बई के एलिफस्टन कालेज में प्रविष्ट हुए। इस कालेज में अपनी योग्यता और प्रखर बुद्धि से उन्होंने थोड़े ही दिनों में अपने सहपाठियों के बीच अच्छा स्थान बना लिया। उनके अध्यापक उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे और उनकी प्रखर बुद्धि की प्रशंसा किया करते थे। वह अपने कालेज के एक अच्छे खिलाड़ी भी थे। सन् १८४५ ई० में उन्होंने उसी कालेज से बी० ए० पास किया। इसके बाद उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर दादाभाई ने अपने परिवार की ओर ध्यान दिया। इसी बीच उनके इंग्लैंड जाने की बात उठ खड़ी हुई। बोर्ड आफ डायरेक्टर्स के अध्यक्ष, अर्स्किन पेरी, दादाभाई की योग्यता से भली-भाँति परिचित थे और वह उन्हें उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेजना चाहते थे। जमशेदजी टाटा तथा कुछ अन्य धनिक पारसियों ने उन्हें इंग्लैंड भेजने के लिए सहायता का वचन दिया और पूरी तैयारी भी हो गयी, किन्तु दादाभाई की माता ने धर्म-परिवर्तन के भय से उन्हें विदेश नही जाने दिया। ऐसी स्थिति में विवश होकर दादाभाई ने अपने कालेज में नौकरी (१८४७ ई०) करली। अपने कालेज में वह गणित और दर्शन के प्रथम भारतीय प्रोफेसर थे। प्रोफेसर शब्द उनके लिए प्रेरणा का स्रोत था। अध्यापन के साथ ही उन्होंने समाज-सेवा का कार्य भी आरम्भ किया। वह स्त्री-शिक्षा के बड़े प्रेमी थे। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही उन्होंने इसका प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया था। वह घर-घर घूमते थे और लोगों से अपनी कन्याओं को पढ़ाने-लिखाने की प्रार्थना करते थे। उस समय स्त्री-शिक्षा के प्रति लोग बहुत उदासीन थे। इसलिए कुछ लोग तो दादाभाई की बात मान लेते थे, लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो धमकाकर उन्हें भगा देते थे। दादाभाई अपनी धुन के पक्के थे। ४ अगस्त, सन् १८४८ ई० को उन्होंने एक सभा की, जिसमें स्त्री-शिक्षा का प्रचार करने की योजना बनायी गयी। धीरे-धीरे कई कन्या-पाठशालाएँ खोली गयी। बहरामजी खुरशेदजी गाँधी, जगन्नाथशंकर सेठ आदि नेताओं ने धन और भवन का दान देकर स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। आरम्भ में कार्यकर्ताओं को विशेष सफलता नहीं मिली, किंतु इतना अवश्य हुआ कि उनके प्रयत्न से स्त्री-शिक्षा की देश में बुनियाद पड़ गयी।

दादाभाई नौरोजी बड़े उत्साही कार्यकर्ता थे। उनके समय में बम्बई की वह शक्ल-सूरत नहीं थी जो आज है। आज की बम्बई के वह पहले निर्माता थे। उस समय बम्बई में शिक्षा-संस्थाओं का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने 'रास्त गुफ्तार' नामक एक साप्ताहिक-पत्र निकाला (१८५१ ई०) और इसके द्वारा अपने दो वर्ष के सम्पादन-काल में उन्होंने अपने सुधारों के पक्ष में जनमत तैयार किया। उन्होंने साहित्य और विज्ञान-सभा, नेटिव जनरल लाइब्रेरी, बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसियेशन, धर्म-मार्ग-दर्शक, पारसी व्याख्यान-गृह, फ्रेमजी-सभा, विधवा-विवाह-सभा, विक्टोरिया तथा अल्बर्ट अजायबघर आदि अनेक लोकोपयोगी संस्थाओं की स्थापना की। इससे अल्प काल में ही उनका यश समूचे बम्बई-प्रदेश में फैल गया।

दादाभाई का कामा नामक एक धनिक पारसी-व्यापारी से निकट सम्बन्ध था। भारत के अनेक नगरों में उनकी व्यापारिक शाखाएँ थीं। उन्होंने लंदन में भी एक शाखा खोलने का निश्चय किया। इस शाखा का संचालक बनाकर सन् १८५६ ई० में उन्होंने दादाभाई को लन्दन भेजा। दादाभाई अपनी प्रोफेसरी त्याग कर लन्दन चले गये। लन्दन में उन्होंने व्यापार करने के साथ-साथ भारतीय हितों का भी प्रचार किया। उस समय भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा में अंग्रेज ही बैठते थे। इसके अतिरिक्त भारत के सम्बन्ध में इंग्लैंड में बहुत अज्ञान फैला हुआ था। इसलिए उन्होंने लंदन में 'ईस्ट इण्डिया असोसियेशन' (१८६७ ई०) की स्थापना की और इसके द्वारा उन्होंने इंग्लैंड की जनता को भारत की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराया। इसके साथ ही उन्होंने सिविल सर्विस की परीक्षा में भारतीयों को भी बैठाने की सरकार से अपील की।

सन् १८६९ ई० में दादाभाई भारत लौट आये। बम्बई की जनता ने बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया। एक सार्वजनिक समारोह में उन्हें तीस हजार रुपये की थैली भेंट की गयी। यह थैली उन्होंने देश-हित के कार्यों में दे दी। उसी वर्ष उन्होंने समूचे देश के बड़े-बड़े नगरों का भ्रमण किया और अपने उद्देश्य की सफलता के लिए लोगों से अपील की। उन्होंने 'ईस्ट इण्डिया असोसिएशन' की एक शाखा भारत में भी स्थापित की। कुछ महीने बाद उन्हें फिर इंग्लैंड जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने फासेट कमेटी के सामने बयान देते हुए बताया कि भारत

एक निर्धन देश है, लेकिन उस पर 'कर' लगाते समय इसका ध्यान नहीं दिया गया है। लेकिन उस समय उनकी यह बात किसी ने नहीं सुनी। १८७४ ई० में वह भारत लौट आये। बड़ौदा-नरेश मल्हारराव गायकवाड़ (१८२८-७५ ई०) ने उन्हें अपना दीवान बनाया। उस समय बड़ौदा की स्थिति अत्यन्त डाँवाँडोल थी। राज्य में चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ था। इससे भारत-सरकार बहुत असंतुष्ट थी। दादाभाई ने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही भ्रष्टाचार का अन्त कर दिया और सरकारी शिकायतों को दूर कर राज्य और भारत-सरकार के बीच उत्पन्न मतभेद को मिटा दिया। इस प्रकार उनके सतत प्रयत्न से थोड़े ही दिनों में बड़ौदा एक आदर्श राज्य हो गया।

सन् १८७५ ई० में दादाभाई बम्बई कारपोरेशन के सदस्य हुए। अपने एक वर्ष की सदस्यता में उन्होंने बम्बई में जल की सुन्दर व्यवस्था की। सन् १८८१ई० में वह पुनः कारपोरेशन के सदस्य चुने गये और उन्हो ने कई सुधार किये। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर बम्बई के तत्कालीन गवर्नर ने सन् १८८५ ई० में उन्हें धारा-सभा का अतिरिक्त सदस्य मनोनीत किया। उस समय किसी भी भारतीय के लिए यह बड़े सम्मान का पद था। उसी वर्ष बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस की स्थापना हुई। राष्ट्र के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। दादाभाई ने इसमें बड़े उत्साह से भाग लिया। काँग्रेस को सुदृढ़ बनाने में उनका प्रमुख हाथ था।

दादाभाई भारत की सामाजिक और राजनीतिक उन्नति के लिए सदैव चिन्तित रहा करते थे। उनका विचार था कि भारत की उन्नति के लिए ब्रिटिश-संसद में प्रवेश करना आवश्यक है। अपने इस विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिए वह सन् १८८६ ई० में फिर इंग्लैण्ड गये। उन्होंने वहाँ की लिबरल पार्टी के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। उस समय वहाँ चुनाव की धूम थी। लिबरल पार्टी के सदस्यों ने दादाभाई के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें अपनी पार्टी का सदस्य बना लिया और होबोर्न-क्षेत्र से उन्हें चुनाव लड़ने के लिए खड़ा किया। इस चुनाव में वह विजयी नहीं हो सके। किन्तु इससे वह निराश नहीं हुए। १८८६ ई० के अन्त में वह भारत लौट आये और भारतीय काँग्रेस के दूसरे अधिवेशन के सभापति चुने गये। यह अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था। अपने भाषण में

दादाभाई ने भारत-सरकार से भारतीय शासन में आवश्यक सुधार करने, भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करने तथा उन्हें धारा-सभा का सदस्य बनाने की अपील की थी।

दादाभाई सन् १८९२ ई० में फिर इंग्लैण्ड गये। उस समय एक सदस्य के त्याग-पत्र देने से संसद में एक स्थान रिक्त हो गया था। इस स्थान के लिए चुनाव लड़ने की दादाभाई ने जोरदार तैयारी की। लार्ड सेलिस्बरी उन दिनों प्रधान मंत्री थे। अपने एडिनबरा के एक भाषण में उन्होंने भारतीयों को 'काला आदमी' कहकर दादाभाई का उपहास किया। उनका उपहास दादाभाई के लिए वरदान हो गया। भारत और इंग्लैण्ड में इसके विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़े हुए और सेलिस्बरी के दल-वालों का घोर विरोध हुआ। ग्लैडस्टन के दल-वालों ने दादाभाई का पक्ष लिया। दादाभाई अँग्रेजी के इतने अच्छे वक्ता और लेखक थे कि उन्होंने अपने निर्वाचन-क्षेत्र, सेंट्रल फिंसबरी, के वोटरों पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमा दिया। फलस्वरूप निर्वाचन में उनकी विजय हुई। उनकी विजय पर ग्लैडस्टन के दल-वालों ने ही नहीं, समूचे भारत ने अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की। उनकी विजय वस्तुतः भारत की विजय थी।

दादाभाई सन् १८९२ ई० से सन् १८९५ ई० तक ब्रिटिश संसद की लोक-सभा के सदस्य रहे। अपनी सदस्यता के ज़माने में उन्होंने भारत के गौरव को ऊँचा उठाने की भरपूर चेष्टा की। लोक-सभा में उनके भाषण पाण्डित्यपूर्ण होने के साथ-साथ देश-प्रेम से भरे हुए होते थे। उनका पहला भाषण ९ अगस्त, सन् १८९२ ई० को हुआ। अपने इस भाषण में उन्होंने भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण तथा स्वतंत्र जाँच की माँग की। इस माँग के फलस्वरूप 'रायल कमीशन' (१८९६ई०) की नियुक्ति हुई। दादाभाई इस कमीशन के सदस्य थे। उन्होंने उच्च सरकारी-पदों पर भारतीयों को नियुक्त कर शासन का व्यय-भार घटाने की बड़ी कोशिश की। उनके लगातार प्रयत्न से सन् १८९३ ई० में ही संसद ने भारतीयों को भी सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने की स्वीकृति दे दी थी। इसी वर्ष वह काँग्रेस के दूसरी बार सभापति हुए।

दादाभाई सन् १८८७ ई० से सन् १९०६ ई० तक इंग्लैण्ड में ही रहे।

उन्होंने लन्दन को ही अपना घर बना लिया और वह बराबर भारत के लिए लड़ते रहे। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वदेश आते थे और अपना काम पूराकर फिर लौट जाते थे। सन् १८९७ ई० में उन्होंने रायल कमीशन (वेलवाई कमीशन) के सामने बयान देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि भारत की दरिद्रता का मुख्य कारण अँग्रेजी शासन-द्वारा भारतीय जनता का शोषण है। जबतक सरकार की इस शोषण-नीति में परिवर्तन नहीं होगा तब तक भारतीय सुख की नींद नहीं सो सकेंगे। अपने इन्हीं और ऐसे ही विचारों का प्रचार करने के लिए उन्हें कई बार इंग्लैंड जाना पड़ा था। इंग्लैंड की जनता भारत की वास्तविक स्थिति से परिचित नहीं थी। उसका ख्याल था कि भारत की जनता विद्या-बुद्धि से हीन और असभ्य है। उनके इसी भ्रम को दूर करने तथा भारत-सरकार और भारतीय जनता को निकट संपर्क में लाने के लिए उन्हें इंग्लैंड जाना पड़ता था।

इस प्रकार जहाँ एक ओर दादाभाई विलायत में भारतीयों को अधिक-से-अधिक अधिकार दिलाने और उनके कष्टों को दूर करने की चेष्टा कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन भारतीयों की आशाओं पर कुठाराघात कर रहे थे। उनकी नीति भारतीयों की उठती हुई उमँगों को कुचलना था। इसी उद्देश्य से उन्होंने १०अक्टूबर, सन् १९०५ ई० को बंगाल का विभाजन किया। उनके इस अप्रत्याशित कार्य से संपूर्ण देश में राष्ट्रीयता की एक नई लहर दौड़ गयी और विद्रोह की ज्वालाएँ धधकने लगी। अँग्रेजी सरकार ने भारतीयों को बड़ी-बड़ी धमकियाँ दी, लेकिन जनता ने उन धमकियों की तनिक भी चिन्ता नहीं की और अपना आन्दोलन जारी रखा। एक ओर यह आन्दोलन चलता था, दूसरी ओर सरकार का दमन-चक्र! पकड़-धकड़ होती थी, लाठियाँ बरसाई जाती थीं, गोलियाँ चलती थी; आन्दोलनकारियों का माल-असबाब लूटा जाता था, और उनके बाल-बच्चों को अनेक प्रकार के कष्ट दिये जाते थे। ऐसे ही आँधी-तूफान के दिनों में सन् १९०६ ई० में कलकत्ता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे, दादाभाई नौरोजी। दादाभाई नौरोजी तिलक की भाँति अपने विचारों में उग्र नहीं थे। ब्रिटिश-राज्य की न्याय-परायणता में उनका बहुत विश्वास था। लेकिन भारतीयों पर अमानुषिक अत्याचार होते देखकर उनका यह विश्वास हिल गया। उन्होंने खुले शब्दों में लार्ड कर्जन की नीति की निन्दा की।

उस समय काँग्रेस के सारे वायुमंडल में वहिष्कार की भावना फैली हुई थी। श्री विपिनचन्द्र पाल ने 'वहिष्कार' शब्द को और भी व्यापक रूप दिया और सरकार से सब तरह का सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए कहा। वस्तुतः प्रस्ताव का प्रत्यक्ष रूप स्वदेशी था जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने जुदा-जुदा लगाया। मालवीय जी ने उसका अर्थ देशी-उद्योग-धंधों का संरक्षण किया, लोकमान्य तिलक ने मध्य-वर्ग के लोगों-द्वारा स्तेमाल किये जानेवाले विदेशी कपड़े के दुखद दृश्य का अन्त करने के लिए राष्ट्र की ओर से किये जानेवाले दृढ़ निश्चय, त्याग और स्वावलंबन को स्वदेशी कहा। लाला लाजपतराय ने इसका अर्थ देश की पूँजी को बचाना और सुरक्षित रखना बताया और स्वयं दादाभाई के लिए यह एक आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी सुधार तथा शिक्षा-प्रचार की पुकार थी, क्योंकि शिक्षा-प्रचार के कारण ही लोगों में स्वाराज्य की भूख उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार कलकत्ता-काँग्रेस ने 'स्वदेशी' के प्रायः सभी पहलुओं पर विचार किया और दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में होनेवाला यह कलकत्ता-अधिवेशन अत्यन्त सफल रहा। यह देखकर 'इंग्लिशमैन' समाचारपत्र उनपर उबल पड़ा। ऐसी थी उस समय अंग्रेजों की मनोवृत्ति।

दादाभाई इस समय तक ८०-८१ वर्ष के हो चुके थे। बार-बार इंग्लैण्ड जाने तथा जन-सेवा के कार्यों में अधिक व्यस्त रहने के कारण उनका शरीर शिथिल हो गया था। लेकिन फिर भी कलकत्ता-अधिवेशन के समाप्त होने के बाद वह इँग्लैण्ड गये और उन्होंने वहाँ लार्ड कर्जन की नीति का विरोध किया। उनके तथा भारतीय नेताओं के आन्दोलन से सन् १९०८ ई० में वंग-भंग की योजना रद कर दी गयी। इसी बीच अस्वस्थ होकर दादाभाई भारत लौट आये। अब उनमें कहीं जाने की शक्ति शेष नहीं थी। उनकी ९० वीं वर्ष-गाँठ सारे देश में बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी। सन् १९१० ई० में बम्बई-विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ ला' की उपाधि प्रदान की। १ जून, सन् १९१७ ई० को वह फिर बीमार पड़े। इस बीमारी से वह मुक्त नहीं हो सके। उसी वर्ष ३० जून को वह परलोकवासी हुए।

दादाभाई नौरोजी अपने समय के सच्चे और निर्भीक नेता थे। अपने जीवन के पन्द्रहवे वर्ष से ही वह अपने देश-सुधार में लग गये थे। उनका स्वभाव

सरल और शान्त था। अभिमान तो उनको छू तक नहीं गया था। अपूर्व स्वार्थ त्याग, असीम देश-भक्ति, अदम्य उत्साह, सतत उद्योग, दृढ़ता और धैर्य की वह जीवित मूर्ति थे। उन्होंने कभी विश्राम नहीं किया। आजीवन भारत से इँग्लैंड और इँग्लैंड से भारत का दौरा करते रहे। उन्हें प्रत्येक क्षण भारत के उत्थान की चिंता रहती थी। वह कहीं भी रहें, किसी दशा में रहें, अपने देश के हित पर उनकी बराबर दृष्टि रहती थी। वह उग्र राजनीति के समर्थक नहीं थे, फिर भी अवसर पड़ने पर वह सत्य पर पर्दा नहीं डालते थे। यही कारण था कि भारतीय जनता और तत्कालीन भारतीय सरकार, दोनों का उन पर पूर्ण विश्वास था। अपने जीवन-काल में उन्होंने पर्याप्त यश अर्जित किया, लेकिन उन्हें अपनी स्थिति का गर्व नहीं था। वह स्वयं अपने जीवन के निर्माता थे। देश-हित की चिन्ता में व्यक्तिगत स्वार्थ को उन्होंने कभी स्थान नहीं दिया। उन्होंने बड़े लगन से लगभग ७० वर्ष तक देश की सेवा की। वह भारतमाता के सच्चे सपूत थे। स्त्री-शिक्षा, सार्वजनिक सेवा तथा भारतीय राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया उसे भारत की जनता कभी भी भूल नहीं सकती।

●●

सर भण्डारकर

सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर-दक्षिण भारत के अमूल्य रत्न थे। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सेवाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। भारतीय साहित्य और संस्कृति के वह इतने उच्च कोटि के विद्वान थे कि देश के ही नहीं, बड़े-बड़े विदेशी विद्वान भी उनकी विद्वत्ता का लोहा मानते थे। उस समय अनेक विदेशी विद्वान प्राचीन ग्रंथों के मनमाने अर्थ लगागर अपने असंगत तर्कों-द्वारा भारतीय संस्कृति और साहित्य को कलंकित कर रहे थे। सर भण्डारकर ने ऐसे विद्वानों के असंगत तर्कों का मुँह-तोड़ उत्तर दिया और उन्हें अप्रामाणिक सिद्ध किया। उस समय इसकी बहुत आवश्यकता थी। वह भारत के नव-जागरण का प्रभात-काल था। विदेशी विद्वान भारतीय संस्कृति पर कीचड़ उछाल कर उसका अन्त कर देना चाहते थे। सर भण्डारकर ने उनकी इस प्रवृत्ति पर ऐसी मुहर लगा दी कि उनके मरने के बाद भी किसी विदेशी विद्वान को भारतीय संस्कृति पर उँगली उठाने का साहस नहीं हुआ।

सर भण्डारकर अपने समय के असाधारण व्यक्ति थे। उनका कार्य-क्षेत्र शिक्षा था, लेकिन उन्होंने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी बहुत काम किया था। वह बम्बई प्रान्त के 'प्रार्थना-समाज' के बहुत बड़े नेता और धार्मिक और सामाजिक सुधार के कट्टर पक्षपाती थे। धार्मिक और सामाजिक सुधार के विषय में उनकी नीति जितनी उग्र थी, राजनीतिक विषयों में वह उतने ही नरम थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें देश-भक्ति का अभाव था। जब दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा और वहाँ की सरकार की दमन-नीति का समाचार उन्हें मिला तब वह अपना एकान्त जीवन त्याग

कर बाहर निकल आये और उन्होंने आफ्रीका-स्थित प्रवासियों के प्रति अपनी पूरी सहानुभूति प्रकट की।

सर भण्डारकर न तो राजनीतिक नेता थे, न धर्म-सुधारक और न समाज-सुधारक। वास्तव में वह एक उच्च कोटि के शिक्षक थे। उनके जीवन का अधिक भाग शिक्षा-क्षेत्र में ही बीता था। वह बड़े अध्ययनशील थे। प्राकृत और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने के साथ-साथ वह अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता भी थे। संस्कृतज्ञ और पुरातत्त्ववेत्ता होने के कारण देश-विदेशों में उन्होंने जितनी ख्याति प्राप्त की उतनी ख्याति उनके समय में और कोई प्राप्त नही कर सका। वह संस्कृत-साहित्य के बड़े प्रशंसक थे। उनका विश्वास था कि बिना संस्कृत पढ़े, भारतीय संस्कृति का समुचित ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु उस समय संस्कृत के अध्ययन की ओर किसी का ध्यान नहीं था। सब लोग अपने बालकों को अंग्रेजी पढ़ाना ही श्रेयस्कर समझते थे। सर भण्डारकर ने उनकी इस दूषित मनोवृत्ति का परिमार्जन किया। उन्होंने समाचार-पत्रों में लेख लिखकर लोगों को संस्कृत पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे लोगों में संस्कृत के अध्ययन के प्रति लालसा उत्पन्न हुई। भण्डारकर ने उनकी इस लालसा की पूर्ति के लिए कई पाठ्य पुस्तकों की रचना की। अपनी रचना में उन्होंने संस्कृत-शिक्षण की एक नवीन पद्धति अपनाई। उन्होंने पूर्वी पद्धति की गम्भीरता और व्यापकता के साथ-साथ पश्चिमी शिक्षा की अन्वेषण-पद्धति को भी स्थान दिया और इन दोनों के उचित समन्वय से उन्होंने संस्कृत-शिक्षा की सरलतम पद्धति का सूत्रपात किया। उनकी इस पद्धति का संपूर्ण भारत में स्वागत हुआ। आजकल हजारों विद्यार्थी उनकी शिक्षा-पद्धति से ही संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं।

डा० भण्डारकर का जन्म ६ जुलाई, सन् १८३७ ई० को रत्नागिरि जनपद के एक महाराष्ट्र-ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनका परिवार अत्यन्त साधारण परिवार था। उनके माता-पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इसलिए वे भण्डारकर की शिक्षा का उचित प्रवध नहीं कर सके। ऐसी स्थिति में भण्डाकर खेल-कूद में ही लगे रहे। सौभाग्य से १८४७ ई० में उनके पिता स्थानान्तरित होकर रत्नागिरि आ गये। इसलिए पहले रत्नागिरि के राजकीय अंग्रेजी स्कूल में उनकी शिक्षा हुई। यहाँ के स्कूल में छः वर्ष तक (१६४२-४७ ई०)

पढ़ने के बाद वह बम्बई के एलिफस्टन कालेज में भरती हुए। इस कलेज में उन्हें दादाभाई नौरोजी का शिष्यत्त्व ग्रहण करने का अवसर मिला। दादाभाई नौरोजी भण्डारकर की प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए और उन्होने भण्डारकर की पूरी सहायता की। इस कालेज में उन्होंने लगभग ११ वर्ष (१८४७-५८ ई०) तक अध्ययन किया। इसके बाद ही मिस्टर हावर्ड से उनका परिचय हुआ। मिस्टर हावर्ड के प्रोत्साहन से भण्डारकर ने संस्कृत का कई वर्षों तक गंभीर अध्ययन किया। इस अध्ययन के द्वारा ही पुरातत्त्व की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। इन दोनों विषयों में उन्होंने इतनी अधिक योग्यता प्राप्त कर ली कि भारत के उच्च कोटि के विद्वानों में उनकी गणना होने लगी। १८६३ ई० में उन्होने कानून पढ़ने का विचार किया, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण उन्हें अपना यह विचार स्थगित कर देना पड़ा। अपनी जीविका का अन्य साधन न पाकर उन्होंने हैदराबाद (सिंध) के एक हाई स्कूल के प्रधानध्यापक का पद स्वीकार कर लिया। इस पद पर उन्होने एक वर्ष (१८६४-६५ ई०) तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया। इसके बाद वह रत्नागिरि आगये और वहाँ के अपने ही विद्यालय के प्रधानाध्यापक हो गये। इसी बीच बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से यह आज्ञा प्रसारित की गयी कि स्थायी रूप से शिक्षण-कार्य करने के लिए अध्यापकों को एक निश्चित समय के भीतर बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर लेना चाहिए। इस आज्ञा के अनुसार भण्डारकर ने पहले बी० ए० और फिर एम० ए० पास किया। उनकी देख-रेख में रत्नागिरि के विद्यालय ने काफी उन्नति की। अपने आदर्श चरित्र से उन्होंने अपने छात्रों को बहुत प्रभावित किया। यहीं रहकर उन्होंने नवीन प्रणाली के अनुसार संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकों की रचना की। इन पुस्तकों से छात्रों ने ही नहीं, बल्कि संस्कृत पढ़ने की इच्छुक जनता ने भी इनसे पूरा लाभ उठाया।

सन् १८६८ ई० में भण्डारकर रत्नागिरि से बम्बई चले गये और वहाँ के एलिफस्टन कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर हो गये। इस कालेज में सन् १८७२ ई० तक वह अस्थायी प्रोफेसर रहे। सन् १८७२ ई० में जब स्थायी रूप से संस्कृत की प्रोफेसरी खाली हुई तब सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण उन्हें हटा दिया गया और उनके स्थान पर डा० पीटर्सन की नियुक्ति की गयी। इससे

भण्डारकर के सम्मान को गहरा धक्का लगा, परन्तु उन्होंने इसे सहन कर लिया। सन् १८७९ ई० में पूना के डेक्कन कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर का स्थान रिक्त हुआ। इस पद पर अस्थायी रूप से उनकी नियुक्ति हुई। सन् १८८५ ई० में यह पद स्थायी रूप से खाली हो गया। इस बार भी सरकार ने एक जर्मन-प्रोफेसर को बुलाना चाहा, परन्तु जनता ने सरकार की इस पक्षपात-पूर्ण नीति का तीव्र विरोध किया। ऐसी स्थिति में सरकार को झुकना पड़ा। अन्त में उस पद पर भण्डारकर की नियुक्ति हो गयी। भण्डारकर ने सन् १८९३ ई० तक उस पद पर सफलतापूर्वक कार्य किया। इसके बाद वह सरकारी नौकरी से मुक्त हो गये। उस समय उनकी अवस्था ५५-५६ वर्ष की थी।

भण्डारकर अपने समय के प्रसिद्ध अध्यापक थे। अपने प्रोफेसरी के समय (१८७३-१८८२ ई०) में वह बम्बई-विश्वविद्यालय की सिंडिकेट-समिति के सदस्य रहे और जब उन्होंने अवकाश ग्रहण किया तब वह बम्बई-विश्वविद्यालय के 'फेलो' घोषित हुए और दो वर्ष तक उसके उप-कुलपति रहे। इस प्रकार बम्बई-विश्वविद्यालय ने उनकी विद्वत्ता और शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सेवाओं का यथोचित सम्मान किया। उनके शिक्षक-जीवन के समान ही उनका साहित्यिक-जीवन भी अत्यन्त सफल रहा। उनका साहित्यिक-जीवन 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' के जन्म के साथ आरम्भ हुआ। यह पत्र जेम्स बर्जेस ने भारतीय विद्वानों के अन्वेषणों के प्रकाशनार्थ सन् १८७२ ई० में निकालना आरम्भ किया था। इस पत्र के साथ भण्डारकर का घनिष्ठ सम्बन्ध था। भण्डारकर 'रायल एशियाटिक सुसायटी' की बम्बई-शाखा के भी बहुत दिनों तक सदस्य रहे। इस संस्था का प्रादुर्भाव सन् १८०४ ई० में हुआ था। अपने समय में भण्डारकरने इस संस्था की बड़ी सेवा की। उन्होंने इस संस्था के 'जरनल' और 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में इतने अधिक और एक-से-एक बढ़कर गवेषणापूर्ण लेख लिखे कि सर्वत्र उनकी विद्वत्ता की धाक जम गयी। सन् १८७२ ई० में बर्लिन के प्रोफेसर बेवर के साथ पातंजलि के काल-निर्णय के सम्बन्ध में उनका वाद-विवाद छिड़ गया। यह वाद-विवाद तीन-चार वर्षों तक चलता रहा। अन्त में भण्डारकर ने सिद्ध कर दिया कि पातंजलि ईसा से दो सौ वर्षों पूर्व हुए थे। इससे ईसा के पूर्व-कालीन संस्कृत-साहित्य की तिथियों का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया।

प्रोफेसर बेवर के अतिरिक्त भण्डारकरने और भी कई विदेशी विद्वानों से टक्कर ली। उस समय ऐलिस महोदय की राय थी कि महाभारत की रचना ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुई है। इसी से मिलता-जुलता हास्यास्पद विचार सन् १८६४ ई० में डबलिन के एक प्रोफेसर ने व्यक्त किया था। उनका कहना था कि संस्कृत कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणों की भाषा है जिन्होंने लोगों को धोखा देने के लिए उसका मन-गढ़न्त साहित्य बना डाला है। भण्डारकर ने ऐसे सभी दूषित विचारों का खंडन किया। अपने गवेषणापूर्ण लेखों-द्वारा उन्होंने पाश्चात्य देशों में संस्कृत-साहित्य की प्राचीनता और उसकी मौलिकता का प्रचार किया। उनके इस प्रकार के प्रयत्न से फिर किसी विदेशी विद्वान ने संस्कृत-साहित्य की खिल्ली उड़ाने की कुचेष्टा नहीं की।

सन् १८७४ ई० में भण्डारकर ने वेदों के सम्बन्ध में एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा। इस लेख की सर्वत्र खूब चर्चा हुई। इसी वर्ष उनको लन्दन में होनेवाली एक अन्तरराष्ट्रीय परिषद् की ओर से निमंत्रण मिला। यह पूर्वी देशों के इतिहास-प्रेमियों की परिषद् थी। भण्डारकर अपनी झंझटों के कारण इस परिषद् में सम्मिलित न हो सके, पर उन्होंने नासिक की प्रशस्तियों पर एक लेख लिखकर वहाँ भेजा। उनकी इस रचना का वहाँ विशेष सम्मान हुआ। इससे उनकी ख्याति अत्यधिक बढ़ गयी। थोड़े दिनों बाद जब विल्सन की पुण्य-स्मृति में भाषा-विज्ञान की कक्षा खोली गयी तब वह उसके प्रथम व्याखानदाता नियुक्त हुए। इस कक्षा के विद्यार्थियों को भाषा-विज्ञान के विषय पर उन्होंने जो व्याखान दिये वे संस्कृत साहित्य की स्थायी निधि हैं।

सन् १८७९ ई० में बम्बई की सरकार ने भण्डारकर को संस्कृत की पाण्डु-लिपियों का अनुसंधान-कार्य सौंपा। भण्डारकर ने इस कार्य को बड़े परिश्रम से पूरा किया। उन्होंने जैन-धर्म के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संशोधन और सम्पादन भी किया। इससे जैन-धर्म के इतिहास को एक नया रूप प्राप्त हो गया और वह पहले की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हो गया। साथ ही संस्कृत की प्राचीन पाण्डुलिपियों के संशोधन एवं सम्पादन से लोगों को वैष्णव-धर्म और शैव-धर्म के सम्बन्ध में भी अनेक नई बातों का ज्ञान प्राप्त हो गया। इन साहित्यिक-

सेवाओं के अतिरिक्त सन् १८८४ ई० में उन्होंने 'दक्षिण का इतिहास' लिखा। उनका यह इतिहास अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास है।

सन् १८८५ ई० तक भण्डारकर एक विश्व-विख्यात विद्वान हो चुके थे। इसी वर्ष जर्मनी के गोटिनजेन-विश्वविद्यालय ने उनकी विद्वता से प्रभावित होकर उन्हें पी० एच० डी० की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया। कलकत्ता-विश्व-विद्यालय के भी वह पी० एच० डी० थे। इसके दूसरे वर्ष वह वायना में होने वाली पूर्व के तत्त्वेताओं की अन्तरराष्ट्रीय परिषद् में सम्मिलित हुए। इस परिषद् में देश और विदेश के बड़े-बड़े विद्वनों से उनकी भेंट हुई। उन्होंने भण्डारकर का बहुत सम्मान किया। सन् १८८९ ई० में तत्कालीन भरत-सरकार ने भी उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की। इसके बाद ही वह सेण्डपीटर्स वर्ग के 'इम्पी-रियल एकेडेमी आफ साइन्स' के सदस्य चुने गये। सन् १९०३ ई० में लार्ड कर्जन के शिक्षा-सुधार के सम्बन्ध में वह वाइसराय की कौंसिल के सदस्य मनोनीत हुए। सन् १९०४ ई० से सन् १९०८ ई० तक वह बम्बई की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य रहे। सन् १९११ ई० में भारत-सरकार ने उन्हें के० सी० आई० ई० की उपाधि से विभूषित किया। बम्बई और एडिनबरा-विश्वविद्यालय के वह सम्मानित एल-एल० डी० थे।

भण्डारकर अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे। साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में उन्होने अमूल्य सेवाएँ की थी। अतः उनके जीवन-काल में ही उनके शिष्यों ने उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए जुलाई, सन् १९१७ ई० में भण्डारकर-संस्था की स्थापना की। इस संस्था में डा० भण्डारकर के बताये हुए मार्ग पर शोध-कार्य होता है। यह अपने ढंग की भारत में अनोखी संस्था है। तत्कालीन वाइसराय लार्ड विलिंग्टन ने इस संस्था की नींव डाली थी। इसके कुछ समय बाद ही डा० भण्डारकर का स्वर्गवास हुआ। उनके निधन से भारत की जो क्षति हुई उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से उन्होंने स्वयं ही लाभ नही उठाया, बल्कि उस अध्ययन से उन्होंने दूसरों को भी लाभान्वित किया। वह एक असाधारण विद्वान थे। उनका अभ्युदय ऐसे समय में हुआ था जब देश में पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से एक नई जाग्रति उत्पन्न हो रही थी। सन् १८५७ ई० का राजनीतिक ज्वार उन्होंने अपनी आँखों

से देखा था और यह अनुभव किया था कि पश्चिम की चकाचौंध में किस प्रकार भारतीय अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने साहित्य से विमुख होते जा रहे हैं। इसलिए सन् १८५७ ई० के आन्दोलन के कुछ वर्षों बाद ही देश में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के जो आन्दोलन आरम्भ हुए उन्हीं के साथ ही उन्होंने जनता का ध्यान उस भाषा और साहित्य की ओर भी आकृष्ट किया जिसकी पश्चिम के विद्वानों ने चीर-फाड़ आरम्भ कर दी थी और जिसे वे संसार की नजरों से गिरा कर दो कौड़ी का सिद्ध करने की कोशिश में लगे हुए थे। भण्डारकर ने तरह-तरह की कठिनाइयाँ सहन कर पश्चिम की इस ललकार को स्वीकार किया और अपने लेखों-द्वारा उसका करारा उत्तर दिया। इस प्रकार भण्डारकर ने हमारे साहित्य की जो रक्षा की उसका मूल्यांकन हम शब्दों में नहीं कर सकते। उनकी पुण्य-स्मृति को चरितार्थ करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि हम अपने प्राचीन साहित्य के गौरव को नष्ट न होने दें और प्राणपण से उसकी उन्नति में लगे रहें। इससे हमारा ही कल्याण नहीं होगा, बल्कि भण्डारकर की आत्मा को भी सन्तोष प्राप्त होगा और हम उनके ऋण से उऋण हो सकेंगे।

महादेव गोविन्द रानडे

अंग्रेजी-शासन के अन्तर्गत एक उच्च पदाधिकारी होते हुए भी महादेव गोविन्द रानडे ने अपने देश की जो सेवा की उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। उनका देश-प्रेम देखकर कांग्रेस के जन्मदाता श्री ह्यूम उनको 'गुरु महादेव' कहकर संबोधित करते थे और उनके बारे में कहा करते थे कि 'भारत में यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जिसको चौबीस घंटे अपने देश का ही विचार रहता है तो वह व्यक्ति रानडे है।' पूना और उसके आस-पास रानडे इतने लोक-प्रिय थे कि डाक्टर पोलन-जैसे विद्वान उन्हें पूना का 'बिना छत्रधारी राजा' समझते थे। रानडे जबतक पूना रहे तबतक वहाँ एक भी ऐसी संस्था नहीं थी जिसको यातो उन्होंने स्थापित किया हो या जिसकी उन्नति में उन्होंने योग न दिया हो।

रानडे का जन्म माघ शुक्ल ६, शाके १७६३ अर्थात् १८ जनवरी, सन् १८-४२ ई०, मंगलवार को संध्या समय नासिक जनपद के अन्तर्गत निफाड नामक एक ग्रामीण परिवार में हुआ था। उनके पूर्वज पेशवा के दरबार में नौकरी करते थे। उनके परदादा भास्करराव उपनाम अपाजी संगली-राज्य के राजदूत थे और पूना में रहते थे। उनके दादा अमृतराव तात्या संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे और पूना जिला के मामलतदार थे और उनके पिता गोविन्दराव भाऊ (मृ० १८७७ ई०) नासिक जिले के मामलतदार के मुख्य क्लर्क थे। इस प्रकार रानडे का परिवार एक साधारण, परन्तु शिक्षित परिवार था। उनके परिवार के लोग धार्मिक, सदाचारी और देश-प्रेमी थे। ये गुण उनको अपने परिवार से ही मिले

थे और इन गुणों के आधार पर ही उन्होंने अपने हाथों अपने जीवन का निर्माण किया था।

रानडे बड़े लजीले और बोदे स्वभाव के बालक थे। उनका यह स्वभाव देख कर उनकी माता गोपिकाबाई प्रायः कहा करती थीं कि इस बालक के लिए दस रुपया महीना कमाना भी कठिन है। किन्तु अपनी माता के इस कथन को उन्होंने असत्य कर दिया। उनकी प्रारंभिक शिक्षा कोल्हापुर के एक मराठी विद्यालय में हुई। इसके बाद १८५१ ई० में उन्होंने कोल्हापुर के एक अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश किया। इस स्कूल में अंग्रेजी की कुछ ही कक्षाएँ थीं। ऐसी स्थिति में रानडे बम्बई जाकर पढ़ना चाहते थे, परन्तु अपने बोदे और संकोची स्वभाव के कारण वह अपने पिता से कहने में हिचकते थे। उनके मित्रों-द्वारा जब उनके पिता को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने बम्बई में रानडे की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार १९५६ ई० में रानडे बम्बई के एल्फिस्टन हाई स्कूल में पढ़ने लगे।

रानडे थे तो संकोची, पर उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। दो वर्ष तक एल्फिस्टन स्कूल में पढ़ने के बाद एल्फिस्टन कालेज में उनका प्रवेश हो गया और उन्हें १० रु० और फिर १५ रु० मासिक छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। १८५९ ई० में बम्बई विश्वविद्यालय की पहली मैट्रीकुलेशन परीक्षा हुई। इस परीक्षा में वह उत्तीर्ण हो गये। उस समय कुछ ऐसे विद्यार्थी 'दक्षिण-फेलो' चुने जाते थे जो अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहते थे। ऐसे विद्यार्थियों को निम्न श्रेणी के विद्यार्थियों को पढ़ाना पड़ता था। रानडे 'जूनियर दक्षिण फेलो' चुने गये और उन्हें ६० रु० मासिक वेतन मिलने लगा। तीन वर्ष बाद वह 'सीनियर दक्षिण फेलो' चुने गये और उन्हें १२० रु० मासिक वेतन मिलने लगा। इस पद पर वह तीन वर्ष तक रहे। १८६१ ई० में उन्होंने 'लिट्ल-गो' परीक्षा और १९६२ ई० में उन्होंने बी० ए० पास किया। इसी वर्ष उन्होंने बी० ए० आनर्स की परीक्षा इतिहास और अर्थशास्त्र में दी। इस परीक्षा को पास करने पर उन्हें एक स्वर्ण-पदक और २०० रु० की पुस्तकें पुरस्कार में मिली। इसके अतिरिक्त कालेज के अध्यापकों ने उनको ३०० रु० की एक सोने की घड़ी भी दी। इस परीक्षा में वह द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। इसके पहले उन्होंने सब परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में पास की थीं। १८६४ ई० में उन्हें एम० ए० की डिग्री बिना परीक्षा दिए

ही मिल गयी। उन दिनों यह नियम था कि जो विद्यार्थी आनर्स में बी० ए० पास करता था वह अपने मैट्रीकुलेशन पास करने की तिथि से ५ वर्ष के उपरांत स्वयं एम० ए० हो जाता था। इसी नियम के अनुसार रानडे एम० ए० हुए और फिर सन् १८६६ ई० में उन्होंने वकालत की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसी वर्ष नियमानुसार उन्होंने 'आनर्स-इन-ला' भी प्रथम श्रेणी में पास किया।

रानडे बड़े परिश्रमी और प्रतिभा-संपन्न विद्यार्थी थे। अधिक परिश्रम करने के कारण उनकी दृष्टि बहुत कमजोर हो गयी, परन्तु उन्होंने इसकी चिन्ता नहीं की। अपने विद्यार्थी-जीवन में वह जन-सेवा भी करते थे। जिन दिनों वह बी० ए० में पढ़ते थे उन दिनों वह 'इन्दु-प्रकाश' (१८६२ ई०) का संपादन किया करते थे। यह पत्र अँग्रेजी और मराठी में निकलता था। इस पत्र में देश-प्रेम और समाज-सुधार संबंधी लेख छपा करते थे। महाराजा होल्कर के दीवान विनायक जनार्दन कोर्तने, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, शंकर पांडुरंग पंडित, फ़ीरोज़शाह मेहता आदि उनके परम मित्रों में से थे। कालेज में भी कई शिक्षा-शास्त्रियों से उनकी घनिष्ठता थी।

सर अलेक्जेण्डर ग्राण्ट रानडे के अध्यपक थे। रानडे को अध्ययन की प्रेरणा सर अलेक्जेण्डर ग्राण्ट से ही मिली। गर्मी की छुट्टी के दिनों में रानडे कालेज के पुस्तकालय में बैठकर कभी इतिहास, कभी राजनीति, कभी विज्ञान और कभी दर्शन का अध्ययन करते थे। इन विषयों के अध्ययन में ग्राण्ट महोदय उनका पथ-प्रदर्शन करते रहते थे। वह अनुशासन-प्रिय भी थे। एक दिन अपने अल्हड़पन के कारण रानडे ने अंग्रेजी-शासन और मराठा-शासन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए अंग्रेजी-शासन को घटिया सिद्ध किया। ग्राण्ट महोदय ने रानडे का निबंध पढ़कर उन्हें बुलाया और कहा—"रानडे ! तुम्हें उस सरकार की निन्दा नहीं करनी चाहिए जो तुम्हें शिक्षा देती और तुम्हारी सहायता करती है"। यह कहकर उन्होंने छः मास के लिए रानडे की छात्रवृत्ति बन्द कर दी। रानडे ने इसे अपमान न समझकर चुपचाप सहन कर लिया।

विद्यर्थी-जीवन समाप्त करने के बाद रानडे ने जीविका के क्षेत्र में प्रवेश किया। आरंभ में उन्हें २०० रु० मासिक वेतन पर शिक्षा-विभाग में मराठी-अनुवादक का पद मिला। इस पद पर उन्होंने ८ मई, १८६६ ई० से २०

नवम्बर, १८६७ ई० तक काम किया। इसी बीच कुछ दिनों के लिए वह अक्कलकोट की रियासत में सरकार की ओर से भेजे गये। इस रियासत में उन्होंने इतने परिश्रम से काम किया कि वह ४०० रु० मासिक वेतन पर कोल्हापुर में न्यायाधीश चुने गये। उस समय हाईकोर्ट में वकालत करने का अधिकार प्राप्त करने के लिए एडवोकेट की परीक्षा पास करनी पड़ती थी। इसलिए कोल्हापुर रियासत से उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। इसी बीच एल्फिस्टन कालेज, बम्बई में अंग्रेजी-भाषा और साहित्य के प्रोफेसर का स्थान रिक्त हुआ। रानडे ने यह कार्य स्वीकार कर लिया। यहाँ भी उन्होंने इतनी लगन से कार्य किया कि तद्-विषयक प्रोफेसर के छुट्टी से लौट आने पर उनके लिए सहायक अध्यापक का नया पद निर्धारित किया गया। इस नये पद पर उन्होंने १८६८ ई० से १८७१ ई० तक कार्य किया। फिर १८७१ ई० में उन्होंने एडवोकेट की परीक्षा पास की और पुलिस-मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। इसके कुछ ही महीने बाद वह उन्नति करके बम्बई के स्मालकाज़ कोर्ट के चौथे जज हो गये। इस पद पर उन्होंने २८ जुलाई सन् १८७१ ई० से २२ सितम्बर, १८७३ ई० तक सफलतापूर्वक कार्य किया। वह इतने अधिक परिश्रमी थे कि उन्हें जो नया काम मिलता था उसे वह अपनी कार्य-कुशलता से चमका देते थे। सरकार उनके काम से बहुत संतुष्ट थी। इसलिए वह बराबर उन्नति करते गये। १८ नवम्बर, सन् १८७३ ई० को ८०० रु० मासिक वेतन पर वह पूना के प्रथम श्रेणी के स्थानपन्न सदरआला नियुक्त हुए और ९ फरवरी, १८७४ ई० को इस पद पर स्थायी घोषित हुए। १८७८ ई० में उनका तबादला पूना से नासिक हो गया। उस समय सर रिचर्ड टेंपल महाराष्ट्र के गवर्नर थे। वह रानडे के लोकोपयोगी कार्यों को संदेह की दृष्टि से देखते थे। इसलिए उन्होंने सन् १८७९ ई० में रानडे का तबादला नासिक से धुले कर दिया और उन्हें प्रथम श्रेणी का सब-जज बना दिया। धुले खानदेश जिले का मुख्य नगर है। उस समय यहाँ देश-हित की कोई चर्चा नहीं थी। फिर भी उन पर गवर्नर का संदेह बना रहा। धुले में कुछ दिनों तक उन्होंने डिस्ट्रिक्ट जज के पद पर भी काम किया। इसी बीच रिचर्ड टेंपिल के स्थान पर सर जेम्स फर्ग्यूसन गवर्नर नियुक्त हुए।

गवर्नर फर्ग्यूसन ने रानडे को बम्बई का प्रेसीडेंसी-मजिस्ट्रेट नियुक्त किया

इस पद पर रानडे ने ३ जनवरी, १८८१ ई० से २१ मार्च तक काम किया। इसके बाद वह पूना के प्रथम श्रेणी के मदरआला नियुक्त हुए। इस पद पर वह चार महीने भी काम न कर पाये थे कि उन्हें पूना और सतारा की कचहरियों का निरीक्षण करने के लिए सहायक विशेष जज नियुक्त किया गया। इस पद पर रह कर उन्हें दौरा करना पड़ना था। अपने इस नये कार्य को उन्होंने इतनी सतर्कता से संपन्न किया कि २७ फरवरी, सन् १८८४ ई० को वह १२०० रुपया मासिक वेतन पर पूना के खफीफा-जज नियुक्त हुए और शीघ्र ही डाक्टर पोलन के विलायत चले जाने पर वह २३ नवम्बर, सन् १८८५ ई० को स्पेशल जज बना दिये गये। अपने इस पद से उन्होंने गाँव-गाँव घूम कर किसानों की बड़ी सेवा की। १३ अप्रैल, सन् १८८६ ई० को लार्ड डफ़रिन की सरकार ने भारत की आर्थिक दशा की जाँच करने तथा उसमें सुधार करने के उद्देश्य से जो समिति सर चार्ल्स इलियट की अध्यक्षता में बनाई थी उसके रानडे ही भारतीय सदस्य थे। इस समिति में रानडे ने बड़ी योग्यता और स्वतंत्रता से अपने विचार प्रकट किये। इसके उपलक्ष में सरकार ने उनको सी० आई० ई० की उपाधि से विभूपित किया। इस समिति का कार्य समाप्त होने पर वह १८८८ ई० में पुनः स्पेशल जज हुए। १ सितम्बर, १८९३ ई० को बम्बई हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध जज काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग का स्वर्गवास हो गया। उनके स्थान पर रानडे की नियुक्त हुई। उस समय रानडे शोलापुर में दौरे पर थे। जिस समय शोलापुर की जनता को उनके हाईकोर्ट के जज होने का शुभ समाचार मिला उस समय उसने बड़े समारोह से उनकी विदाई की। बम्बई में भी उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। अपने इस नये पद पर उन्होंने २३ नवम्बर, १८९३ ई० से ८ जनवरी, १९०१ ई० तक काम किया। इसी महीने में वह बीमार हो गये। ८ जनवरी को उन्होंने ६ महीने की छुट्टी ली और १६ जनवरी को हमेशा के लिए छुट्टी लेकर वह इस संसार मे विदा हो गये।

रानडे अपने समय के प्रसिद्ध न्याया धीश थे। वह प्रत्येक मुक़दमें की छान-बीन बड़ी सावधानी से करते थे और फिर अपना फ़ैसला सुनाते थे। उनके फ़ैसले निष्पक्ष होते थे। हिन्दू-धर्म-शास्त्र के वह आचार्य थे। भारतीयों के चरित्र से भी वह पूर्णतया परिचित थे। अपना फ़ैसला देते समय वह इन सब बातों पर

विचार करते थे। इसलिए उनके फ़ैसले अकाट्य होते थे और उनके सहयोगी जज भी उनके फैसलों से अत्यन्त संतुष्ट रहते थे। उनकी न्याय-बुद्धि इतनी प्रखर थी कि उनके विरोधी भी उनके फैसले पर उँगुली उठाने का साहस नहीं करते थे। जजी की कुर्सी पर बैठकर उन्होंने किसी वकील या गवाह या मुवक्किल को कठोर शब्द नहीं कहा। उनपर सब विश्वास करते थे। उनकी न्याय-बुद्धि के सभी प्रशंसक थे। बड़े-बड़े अंग्रेज-जज उनकी न्याय-बुद्धि का लोहा मानते थे। उनके निधन पर चीफ़ जस्टिस सर लारेंस जैंकिंस ने कहा था—"उनके (रानडे के) साथ जजी का काम थोड़े दिन भी करने मे मालूम हो जाता था कि वह एक गंभीर और सहानुभूतिपूर्ण जज थे। उनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी उच्च कोटि की थी। औचित्य का उन्हें हमेशा ध्यान रहता था। उनकी सम्मति उनके सहायक जजों के लिए बड़ी अमूल्य होती थी। उनके फैसले भविष्य में उनके पाण्डित्य और विद्वत्ता के स्मारक रहेंगे,ऐसा मेरा विश्वास है।"

क़ानून के पंडित होने के साथ-साथ रानडे अपने समय के प्रसिद्ध लोक-सेवी भी थे। पूना उन्हें बहुत प्रिय था। बीच-बीच में यदि पूना से उनकी बदली हो जाती थी तो वह घूम-फिर कर फिर पूना आ जाते थे। पूना में देश-भक्तो और कार्य-कर्ताओं की उनके यहाँ हर समय भीड़ लगी रहती थी। वह दूरदर्शी और गंभीर थे। विद्रोह, विप्लव और क्रान्ति में उनका विश्वास नहीं था। उनके शब्द-कोश में 'शान्ति' का अर्थ आलस्य नहीं था। वह जिस कार्य को अपने हाथ में लेते थे उसमें वह तन-मन-धन से जुट जाते थे। सरकारी काम के लिए उनका समय निश्चित होता था। उस से छुट्टी पाकर वह अपना सारा समय देश-सेवा में देते थे।

पूना की कई संस्थाओं से रानडे का सम्बन्ध था। प्रार्थना-समाज (१८६७ ई०) के वह संस्थापक थे। इस समाज के सिद्धान्त प्राय: वही थे, जो 'ब्रह्म-समाज' के थे। इसमें रानडे के धार्मिक उपदेश होते थे। 'सार्वजनिक सभा' के वह प्रमुख उन्नायक थे। इस सभा का सारा काम वही करते थे। उन्ही की सलाह से १८७६ ई० के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकाल-पीड़ितों की अत्यन्त प्रशंसनीय सेवा की थी। उन्होंने इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकाली थी। इस पत्रिका में वह स्वयं बड़े गंभीर लेख लिखते थे। पूना के फर्ग्यूसन

कालेज की स्थापना में भी उनका हाथ था। पूना-पुस्तकालय और प्रार्थना-समाज के भवन उन्हीं की सहायता और प्रोत्साहन से बने थे। सन् १८७५ ई० में उन्होंने अपने मित्रों के सहयोग से 'वसंत-व्याख्यानमाला' की स्थापना की थी। इसमें इतिहास, पुराण, समाज-सुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विविध विषयों पर मराठी भाषा में प्रतिवर्ष व्याख्यान होते थे। शिक्षित समाज और उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को इन व्याख्यानों से बहुत लाभ होता था।

रानडे ने मराठी साहित्य की अभिवृद्धि में भी अपनी विशेष दिलचस्पी प्रकट की थी। वह स्वयं एक कुशल सम्पादक और प्रौढ़ लेखक थे। अँग्रेजी में उन्होंने 'मराठा-शक्ति का अभ्युदय', 'पेशवाओं की दिनचर्य्या की भूमिका' आदि पुस्तकें लिखी थीं। उनके पचास वर्ष पूर्व पूना में एक ऐसी सभा थी जो अन्य भाषाओं की पुस्तकों का मराठी भाषा में अनुवाद कराती थी। यह सभा टूट गयी थी, किन्तु इसका रुपया बम्बई के एकाउण्टेंट जेनरल के कार्यालय में जमा था। रानडे ने इस सभा की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की और इसका सब रुपया ब्याज-सहित वसूल किया। थोड़े दिनों में यह संस्था भी चल निकली और इसने मराठी-साहित्य की वृद्धि में पूरा योग दिया। इस सभा के अतिरिक्त पूना में और भी कई संस्थाएँ और कम्पनियाँ थीं जो सहयोग के अभाव में या तो निष्प्राण हो गयी थीं या टूट गयी थीं। रानडे ने उन सबकी रक्षा की और उन्हें जीवन-दान दिया। वह अत्यन्त उत्साही कार्य-कर्त्ता थे। देश के रचनात्मक कार्यों में उनकी सूझ-बूझ अत्यन्त मौलिक थी। उन्होंने एक ऐसी पंचायत की स्थापना की थी जो मुकदमा लड़नेवालों में मेल कराती थी। पूना का हीराबाग-टाउनहाल उन्हीं के उद्योग से बना था और एक अजायबघर भी उन्होंने स्थापित कराया था।

रानडे आधुनिक पूना के निर्माता थे। वह कहीं भी रहें, अपनी छुट्टियाँ पूना में ही बिताते थे। दिन के बारह-एक बजे तक और फिर शाम से रात के दस-ग्यारह बजे तक उनके यहाँ कार्य-कर्त्ताओं की भीड़ लगी रहती थी और किसी-न-किसी सभा, समिति आदि के सङ्गठन एवं उद्देश्य पर विचार-विनिमय होता रहता था। जब वह नासिक में थे तब उन्होंने वहाँ 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना की थी। यह उनकी धार्मिक संस्था थी। इसका उद्देश्य धार्मिक मामलों में सुधार करना था। रानडे ने अपनी प्रतिभा से अपने समय के जीवन के सभी अंगों को स्पर्श

किया था। राष्ट्रीय उत्थान के मार्ग में उन्हें जहाँ-कहीं भी रोड़े दिखायी देते थे उन्हें वह दूर करने की पूरी चेष्टा करते थे। स्त्री-शिक्षा की ओर भी उनका ध्यान गया था। अपने प्रयत्न से उन्होंने पूना, नासिक, धूलिया आदि कई नगरों और क़स्बों में कन्या-पाठशालाएँ खोली थीं।

पूना से जब रानडे बम्बई हाई कोर्ट के जज होकर बम्बई गये तब उन्हें बम्बई-विश्वविद्यालय की भी सेवा करने का अवसर मिला। बम्बई-विश्वविद्यालय के वह 'फेलो' (१८६५ ई०) थे। इसलिए उनके मार्ग में कोई अड़चन उपस्थित नहीं हुई। उस समय सर मंगलदास नाथूभाई ने अपनी मृत्यु से पूर्व बम्बई-विश्व-विद्यालय को साढ़े तीन लाख रुपया दान दिया था। उनकी मृत्यु के बाद यह रुपया उनके उत्तराधिकारी नहीं दे रहे थे। रानडे ने बड़े प्रेम से यह धन वसूल किया। उन्होंने विश्वविद्यालय में देशी भाषाओं (मराठी और गुजराती) को स्थान दिलाने की कई बार चेष्टा की, परन्तु वह अपनी चेष्टा में सफल न हो सके। उस समय बहुत-से लोगों का विश्वास था कि देशी भाषाओं में कोई साहित्य नहीं है। ऐसी स्थिति में रानडे ने मराठी और गुजराती के प्रसिद्ध ग्रन्थों के नामों की विषय-सूची ग्रन्थकारों के संक्षिप्त विवरण सहित प्रकाशित की और यह सिद्ध कर दिया कि देशी भाषाओं का साहित्य भी प्राणवान और अध्ययन-योग्य है। इस प्रकार उन्होंने देशी भाषाओं की स्थिति स्पष्ट कर सेंडीकेट के सदस्यों का मत अपने पक्ष में कर लिया। एक उपसमिति बनायी गयी जिसके तीन सदस्यों में से एक सदस्य स्वयं रानडे भी थे। २६ जनवरी, १९०१ ई० को इस उप-समिति की रिपोर्ट को सीनेट ने स्वीकार किया और गुजराती और मराठी के साथ कन्नड़ को भी एम० ए० की परीक्षा में स्थान दिया। किन्तु यह शुभ सूचना रानडे नहीं सुन सके। इसके पूर्व ही वह चल बसे थे।

रानडे अपने समय के उच्चकोटि के देश-भक्त थे। राजकीय कर्मचारी होते हुए भी उन्होंने जिस बुद्धिमानी एवं सतर्कता से देश और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। देश के रचनात्मक कार्यों में उनका अटल विश्वास था। उन्होंने देश के हित में जितना रचनात्मक कार्य किया उतना यदि उन्होंने अँग्रेजों की नीति के अनुसार किया होता वह अँग्रेजों के गले के हार हो जाते, परन्तु उन्होंने उस गौरव को ठुकराया और बराबर देश और समाज की सेवा

में लगे रहे। वह ठोस कार्य-कर्त्ता थे। आदर्श की कोरी बातों में उनका विश्वास नहीं था। इसलिए उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता मिली। १८८५ ई० में जज होते हुए भी बम्बई-लेजिस्लेटिव कौंसिल के वह सदस्य हुए। १८९० ई० और फिर १८९३ ई० में उन्हें पुनः लेजिस्लेटिव कौंसिल की सदस्यता प्राप्त हुई। लेजिस्लेटिव कौंसिल के अधिवेशनों में वह देश-हित के कार्यों पर ही बोलते थे। काँग्रेस में भी वह एक शिखर के समान थे। न्याय-विभाग के एक उच्च अधिकारी होने के कारण उन्हें वास्तविक अर्थ में काँग्रेसी नहीं कहा जा सकता, लेकिन वह उसके सूत्र-संचालक अवश्य थे। काँग्रेस आन्दोलन को उन्होंने स्फूर्ति प्रदान की थी। काँग्रेस में अर्थशास्त्री और इतिहासज्ञ के रूप में वह स्मरणीय थे। समाज-सुधार में उनकी विशेष गति थी। काँग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर होनेवाले समाज-सुधार-सम्मेलन में वह विशेष दिलचस्पी लेते थे। वेदों में उनका विश्वास था और वह विधवा-विवाह एवं अछूतोद्धार के समर्थक थे। वह उग्र समाज-सुधारक नहीं थे। उनका कहना था—"सुधार करनेवालों को कोरी पटिया पर लिखना नहीं आरम्भ करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि अर्द्ध-लिखित वाक्य को पूरा करें। वे जो कुछ करना चाहते हैं उसमें वे तभी सफल हो सकते हैं जब जो कुछ प्राचीन काल में सत्य ठहराया गया है उसे सत्य मान लें और बहाव में कभी यहाँ और कभी वहाँ धीमा-सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत की ओर ले जायें।"

रानडे गृहस्थ थे। उनके दो विवाह हुए। उनका पहला विवाह १८५४ ई० में सखुबाई से हुआ था। दुर्भाग्य से पूना में ३ अक्टूबर, १८७३ ई० को उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास के समय रानडे की अवस्था ३२ वर्ष की थी और वह बम्बई स्माल-काज़ कोर्ट के जज थे। उनके पिता उस समय जीवित थे। वह नहीं चाहते थे कि रानडे एक विधुर का जीवन व्यतीत करें। इसलिए उन्होंने उनका पुनर्विवाह करने का निश्चय किया। उस समय जातीय एवं सामाजिक बंधन बड़े कड़े थे। बड़ी अवस्था की लड़कियाँ मिलती ही नहीं थीं। विधवा-विवाह का चलन नहीं था। यह सब सोच-समझकर रानडे अपना विवाह करना नहीं चाहते थे, परन्तु उनके पिता उनके विवाह करने की हठ पकड़े हुए थे। ऐसी स्थिति में विवश होकर रानडे को रमाबाई (१८६२-१९२४ ई०) के साथ

अपना विवाह (१८७३ ई०) करना पड़ा। उस समय रमाबाई ११ वर्ष की अबोध बालिका थीं।

जिस समय रानडे के साथ रमाबाई का विवाह हुआ उस समय रमाबाई को मराठी-अक्षरों का ज्ञान तक नहीं था। रानडे स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती थे। इसलिए उन्होंने रमाबाई को स्वयं पढ़ाना आरम्भ किया। रमाबाई ने पहले मराठी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया और जब वह इस भाषा में पारंगत हो गयी तब उन्होंने अँग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया। कठिन परिश्रम से थोड़े ही दिनों में उन्होंने अँग्रेजी की भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। दो भाषाओं पर अधिकार होने से रमाबाई का उत्साह दूना हो गया और फिर वह स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने की ओर अग्रसर हुईं। आरम्भ में उन्हें अपने परिवार की स्त्रियों के कटु ताने सहने पड़े, परन्तु उन्होंने अपने ध्येय से मुँह नहीं मोड़ा। वह बराबर अध्ययन करती रहीं, सभाओं में सम्मिलित होती रहीं और बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध करती रहीं। इन कार्यों में भाग लेने से उनकी हिम्मत खुल गयी और सन् १८८३ ई० में उन्होंने बालिकाओं के लिए एक हाई स्कूल खोलने के सम्बन्ध में पूना की सार्वजनिक सभा में अपना भाषण दिया। उस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष की थी। उस समय से वह बराबर अपने पति के साथ (१८८१-९३ ई०) रहीं। रानडे पचास वर्ष के हो चुके थे। उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। इसके अतिरिक्त उनके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे। इससे उन्हें बड़ी चिन्ता हो गयी थी। परन्तु इस चिन्ता और अपने गिरते हुए स्वास्थ्य के बावजूद वह बराबर परहित-चिन्तन में लगे रहते थे। १८९१ ई० में उन्हें हैजे ने पकड़ा। इस रोग से वह मुक्त हो गये, लेकिन १० वर्ष पश्चात् वह मृत्यु की पकड़ से न बच सके।

रानडे की मृत्यु से रमाबाई के हृदय पर एक गहरी चोट लगी। परन्तु इस चोट को उन्होंने बड़े साहस से सहन किया और वह महाराष्ट्र की स्त्रियों की दशा

सुधारने में लग गयीं। उनके इस कार्य में श्री आर० जी० भण्डारकार ने उनकी बड़ी सहायता की। १९०४ ई० में महाराष्ट्र में जो प्रथम महिला-परिषद् का अधिवेशन हुआ वह उन्हीं के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। १९०९ ई० में उन्होंने पूना में बम्बई-सेवा-सदन की एक शाखा स्थापित की और इसके द्वारा उन्होंने स्त्री-समाज की बड़ी सेवा की। १९१७ ई० तक बम्बई सेवा-सदन की पूना-शाखा एक महत्त्वपूर्ण संस्था हो गयी और फिर इसने स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया। यह सेवा-सदन पूना में लक्ष्मी रोड पर स्थित है।

रमाबाई कर्मठ समाज-सेविका थीं। गुजरात के अकाल-पीड़ितों की उन्होंने बड़ी सेवा की। वह सेवा से कभी घबराती नहीं थीं। उन्होंने अपने ऊपर इतने प्रकार की सेवाओं का भार उठा लिया था कि वह उसे आसानी से वहन न कर सकीं। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और अन्त में सन १९२४ ई० के अप्रैल मास में वह चल बसीं। उनसे कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए रनाडे की मृत्यु के बाद उनके परिवार में उनका नाम-लेवा कोई नहीं रह गया, परन्तु अपनी सेवा, अपने त्याग और अपने व्यवहार से उन्होंने भारतवासियों को हमेशा के लिए अपने परिवार का अभिन्न अंग बना लिया। भारतवासी कभी उनकी सेवाओं को विस्मृत नहीं कर सकते।

●●

रवि वर्मा

प्रतिभा-संपन्न कलाकार की कला का उन्मेष जीवन की दो परस्पर विरोधी परिस्थितियों में होता है। कुछ कलाकार जीवन की बाह्य परिस्थितियों की उपेक्षा कर कला के क्षेत्र में अपना सर्वश्रेष्ठ स्थान बना लेते हैं। ऐसे कलाकारों के जीवन की गति इतनी विषम और कंटकाकीर्ण होती है कि उनकी बौद्धिक उपलब्धियाँ उनके जीवन की कटु परिस्थितियों से बराबर टक्कर लेती रहती हैं। इनके साथ ही उनके जीवन में असंगत घटनाओं एवं असक्त वातावरण की एक ऐसी विलक्षण प्रतिक्रिया होती रहती है जो अशंक मनोवैज्ञानिक संभावनाओं को निरन्तर ललकारती एवं उन्हें चुनौती देती रहती हैं। इस प्रकार उनका भौतिक जीवन उनकी प्रतिभा के सर्वथा प्रतिकूल होता है और यह प्रतिकूलता जितनी ही गहन और गंभीर होती है उतनी ही अधिक उनकी प्रतिभा गतिशील होकर उनकी कला का उन्मेष करती है। ऐसे महान कलाकारों के जीवन की रूक्षता, सचमुच, कला के क्षेत्र में, एक भयंकर विडंबना है। लेकिन उनसे भिन्न कुछ ऐसे भाग्यशाली कलाकार भी होते हैं जो जीवन के संगत और उत्फुल्ल वातावरण में अपनी कला का उन्मेष करते हैं। उनके कृतित्व और उनकी जीवन-परिस्थितियों में इतनी संगत होती है कि उनके कृतित्व को उनके जीवन से और उनके जीवन को उनके कृतित्व से पृथक नहीं किया जा सकता। रवि वर्मा का नाम ऐसे ही भाग्यशाली कलाकारों में लिया जाता है। कला के क्षेत्र में उन्हें जो सफलता मिली है वह उनके समृद्ध भौतिक जीवन की देन है।

आधुनिक केरल-प्रदेश में त्रिवेन्दुरम नगर से २० मील उत्तर की ओर

किलिमन्नूर नाम का एक गाँव है। त्रावनकोर की रियासत के दिनों में इस गाँव का क्षेत्रफल लगभग १७ वर्ग मील था और इस पर कोइलथाम्पुरन् नामक एक समृद्ध राज-वंश का अधिकार था। त्रावनकोर के राज-वंश से इस वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध था और यह सम्बन्ध लगभग दो शताब्दियों तक बना रहा। त्रावनकोर के राज-वंश की राजकुमारियाँ इसी वंश में व्याही जाती थीं। इसलिए इस वंश का आस-पास के क्षेत्रों में भी काफ़ी नाम था। इसकी ख्याति का एक कारण यह भी था कि इसने बड़े-बड़े कलाकारों और साहित्यकारों को जन्म दिया था। रवि वर्मा का जन्म इसी वंश में ४ अप्रैल, सन् १८४८ ई० को हुआ था।

एक कुलीनतंत्रीय वंश में जन्म लेने के कारण राजकुमारों की भाँति रवि वर्मा का पालन-पोषण हुआ। उनकी माता अम्बाबाई विदुषी महिला थी और कविता भी करती थीं। उनके चाचा राजा राजा वर्मा कला-प्रिय व्यक्ति थे और वह प्राय: चित्र बनाया करते थे। रवि वर्मा खेलते-खेलते उनके पास पहुँच जाते थे और बड़े ध्यान से उनकी तूलिका की गति का अध्ययन किया करते थे। इसने तीन-चार वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्होंने उल्टी-सीधी रेखाएँ खींचकर चित्र बनाना और अपनी बाल-प्रतिभा एवं कल्पना का चमत्कार दिखाना आरम्भ कर दिया था। पाँच वर्ष की अवस्था होने पर उनका नाम एक स्थानीय विद्यालय में लिखाया गया। आरम्भ में उन्हें संस्कृत की शिक्षा दी गयी। अँग्रेजी-भाषा की शिक्षा का उस समय तक प्रचार नहीं हो पाया था। कुछ ही दिनों तक रवि वर्मा ने संस्कृत पढ़ी। उनका ध्यान भाषा के अध्ययन की अपेक्षा चित्रकारी की ओर अधिक था। वह अपनी कक्षा से भागकर विद्यालय की दीवारों पर खड़िया से तरह-तरह के चित्र बनाया करते थे। विद्यालय की दीवारें ही नहीं, बल्कि अपने महल की सुन्दर दीवारें भी उन्होंने खड़िया से रङ्ग डाली थीं। उनके इस स्वभाव से उनके अध्यापक और परिवार के लोग ऊब गये। उनकी पढ़ाई बन्दकर दी गयी।

आरम्भ में रवि वर्मा जो टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ बनाते थे उनमें नारी-शृंगार अधिक रहता था। उनकी इस प्रवृत्ति से असंतुष्ट होकर उनके माता-पिता ने उनमें वीर रस का उद्रेक करने की बहुत चेष्टा की, लेकिन उनकी कोई चेष्टा सफल न हो सकी। ऐसी स्थिति में उनके चाचा राजा राजा वर्मा ने उन्हें रङ्गीन चित्र बनाने की शिक्षा देना आरम्भ किया। कहा जाता है कि एक दिन राजा

राजा वर्मा अपने कमरे में बैठे हुए एक चित्र में रङ्ग भर रहे थे। उस चित्र में एक वृक्ष बना हुआ था। चित्र में रङ्ग भरते-भरते उन्हें किसी काम से बाहर जाना पड़ा। उनके कमरे से बाहर जाने के कुछ क्षण बाद ही रवि वर्मा उस कमरे में गये और उन्होंने अपने स्वभाव-वश उस वृक्ष पर एक तोते का चित्र बना दिया और भाग खड़े हुए। राजा राजा वर्मा ने जब वृक्ष पर एक पक्षी को बैठे हुए देखा तब वह प्रसन्नता से उछल पड़े। उस तोते ने उनके चित्र में नई जान डाल दी थी। उन्होंने बड़े उत्साह से उस चित्र को पूरा किया। वह चित्र आज किसी के सामने नहीं है, लेकिन रवि वर्मा ने उस वृक्ष पर एक तोते की आकृति बना कर अपने भावी जीवन के उद्देश्य की ओर जो संकेत किया वह युग-युग तक भारत के होनहार कलाकारों के लिए प्रेरणा का अबाध स्रोत बना रहेगा।

राजा राजा वर्मा चित्र-कला के निष्णात पंडित नहीं थे। उन्होंने तंजौर-शैली के एक प्रसिद्ध चित्रकार, अलगिरी नायडू, से चित्र-कला की शिक्षा प्राप्त की थी। उन्हें चित्र-कला का जितना ज्ञान था उसे उन्होंने बालक रवि वर्मा को देने मे कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। बालक रवि वर्मा ने भी थोड़े दिनों के अभ्यास से अपने चाचा के ज्ञान का पूरा लाभ उठाया और वह सुन्दर और भावपूर्ण चित्र बनाने लगे। उन दिनों त्रावनकोर रियासत की राजधानी त्रिवेन्द्रम बड़े-बड़े कलाकारों का आकर्षण-केन्द्र था। त्रावनकोर-नरेश बड़े कला-प्रेमी थे और अपने राज्य में वे प्रसिद्ध कलाकारों को आश्रय देते थे। चित्र-कला में विशेष अभिरुचि होने के कारण राजा राजा वर्मा भी प्रायः वहाँ जाया करते थे। सन् १८६२ ई० में वह अपने साथ रवि वर्मा को भी ले गये। उस समय रवि वर्मा की अवस्था १४ वर्ष की थी। राजा राजा वर्मा ने अवसर पाकर अपने भतीजे और होनहार शिष्य को त्रावनकोर-नरेश के सामने पेश किया। त्रावन-कोर-नरेश उनके सम्बन्धी तो थे ही, एक अच्छे कला-पारखी भी थे। बालक रवि वर्मा के कुछ चित्रों को देखकर वह बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने रवि वर्मा का उत्साह बढ़ाने के लिए उन्हें जल-मिश्रित रङ्ग बनाने का एक डिब्बा देकर पुरस्कृत किया और प्रत्येक तरह की सहायता देने का वचन भी दिया।

'वाटर-कलर' का डिब्बा पाकर रवि वर्मा का सोया हुआ भाग्य अँगड़ाई लेकर जाग उठा। उस समय त्रावनकोर के महाराजा के आश्रय में भारत के

अनेक प्रसिद्ध चित्रकार थे। महाराजा ने होनहार रवि-वर्मा की कला-प्रियता से प्रभावित होकर उन्हें त्रिवेन्द्रम में रहने और भारतीय कलाकारों से चित्र-कला की शिक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। महाराजा की सलाह मानकर वह त्रिवेन्द्रम में रहने और 'वाटर-कलर' में नये-नये प्रयोग करने लगे। विविध प्रकार के रङ्गों को मिलाकर नये-नये रङ्गों को प्राप्त करने में उन्हें अच्छी सफलता मिली। धीरे-धीरे उन्हें 'वाटर-कलर' को एक निश्चित अनुपात में मिलाने का ज्ञान हो गया। इस वैज्ञानिक प्रक्रिया-द्वारा उत्तमोत्तम फल प्राप्त करने की महत्त्वाकाँक्षा उनमें उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और वह अपने चित्रों में नये-नये प्राप्त-रङ्गों का प्रयोग करने लगे।

रवि-वर्मा जन्मजात चित्रकार थे। उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः भारतीय चित्र-कला की ओर थी। त्रावनकोर के राज-दरबार में उस समय चित्र-कला की कौन-सी पद्धति अपनाई जा रही थी, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु उस समय के जो चित्र यत्र-तत्र उपलब्ध हुए हैं उनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनमें पाश्चात्य कला की बाह्य निपुणता और भारतीय कला की आदर्शवादी रूढ़ियों का मेल अवश्य है। उनमें रेखाओं का सौंदर्य-बोध तो है, पर उनमें श्रेष्ठ मुग़ल-कला की व्यंजना का अभाव है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय त्रावनकोर के राज-दरबार में धीरे-धीरे भारतीय चित्र-कला का ह्रास हो रहा था, लेकिन इसके साथ ही उसके स्थान पर पाश्चात्य और भारतीय कला के उचित समन्वय का किसी को अच्छा ज्ञान नहीं था।

रवि वर्मा पौराणिक चित्रों के कलाकार थे। उनकी कला भारतीय कला के आदर्श से समन्वित थी। इसके साथ ही वह पाश्चात्य कला से भी अधिक प्रभावित थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह पौराणिक पात्रों को पाश्चात्य कला के माध्यम से चित्रित करने के लिए विशेष उत्सुक थे। लेकिन उन्हें इसकी शिक्षा देनेवाला कोई नहीं था। दरबारी कलाकार उन्हें शिक्षा देना पसन्द नहीं करते थे। पौराणिक चित्र बनाने में उनकी कला इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि दरबारी-चित्रकार उनसे ईर्ष्या करते थे। लेकिन रवि वर्मा के प्रशंसक रवि वर्मा को दरबार का सर्व-श्रेष्ठ चित्रकार मानते थे। इससे दरबारी कलाकारों की ख्याति पर बट्टा लगता था। ऐसी स्थिति में महाराजा को अपने दरबारी कलाकारों का पक्ष लेना पड़ता था।

उस समय के दरबारी कलाकारों में राम स्वामी नायडू प्रमुख कलाकार थे। वह रवि वर्मा के कट्टर विरोधी थे। वह रवि वर्मा की कला की कटु आलोचना कर उन्हें हतोत्साह करते रहते थे। राम स्वामी नायडू छाया-चित्र की कला में बेजोड़ थे। रवि वर्मा उनसे यह कला सीखने के इच्छुक थे, लेकिन उनके प्रबल विरोध के कारण रवि वर्मा उनसे कुछ भी न सीख सके। ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास करना पड़ा। वह स्वयं अपनी कला का अभ्यास करते रहे। दरबारी कलाकारों के विरोध के कारण त्रिवेन्द्रुरम के दरबार में रवि वर्मा के तीन-चार वर्ष बड़ी कठिनाई से बीते। सौभाग्य से सन् १८६६ ई० में महाराजा की सब से छोटी बहन के साथ उनका विवाह हो गया। इस सम्बन्ध के कारण दरबार में उनका प्रभाव बढ़ गया और विरोध भी शान्त हो गया। वह महल में रहने लगे।

त्रावनकोर के तत्कालीन नरेश पाश्चात्य कला के बड़े प्रशंसक थे। वह अपने परिवार के कुछ व्यक्तियों के चित्र पाश्चात्य कला की शैली में बनवाना चाहते थे। इस कार्य के लिए उन्होंने थियोडोर जान्सन को योरप से आमंत्रित किया। थियोडोर जान्सन तैल-चित्र बनाने की कला में मर्मज्ञ थे। वह सन् १८६८ ई० में त्रिवेन्द्रुरम आये। उस समय तक तैल-चित्र बनाने की कला का त्रिवेन्द्रुरम में किसी को ज्ञान नहीं था। त्रिवेन्द्रुरम के कलाकारों के लिए यह सर्वथा एक नई कला थी। रवि वर्मा का ध्यान इस कला की ओर आकृष्ट हुआ। अपनी चित्र-कला में इस नये माध्यम का प्रयोग करने और इसकी तकनीक सीखने के लिए उन्होंने थियोडोर जान्सन से भेंट की। थियोडोर जान्सन अपना अमूल्य समय किसी को अपनी कला की शिक्षा देने में नहीं लगाना चाहते थे। वह धन कमाने आये थे। किसी को अपनी कला सिखाने के लिए उन्होंने अपना घर नहीं छोड़ा था। इसलिए उन्होंने रवि वर्मा को सिखाने से साफ इनकार कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने रवि वर्मा को अपने कला-कक्ष में आने के लिए भी मना कर दिया। जब यह बात महाराजा को ज्ञात हुई तब उन्होंने थियोडोर जान्सन से सिफारिश की। महाराजा की सिफारिश से उन्होंने सिखाना तो स्वीकार नहीं किया, पर रवि वर्मा को इतनी सुविधा दे दी कि वह उनके कला-कक्ष में बैठकर उनकी पेंटिंग की प्रक्रिया का निरीक्षण-परीक्षण कर सकते हैं।

थियोडोर जान्सन ने रवि वर्मा को अपने कला-कक्ष में बैठने की जो सुविधा

प्रदान की वह रवि वर्मा के लिए वरदान हो गयी। रवि-वर्मा ने थियोडोर जान्सन के कला-कक्ष में बैठकर उनसे जो कुछ सीखा उसके आधार पर उन्होंने अनेक नये प्रयोग किये। धीरे-धीरे उन्होंने पाश्चात्य चित्र-कला में इतनी दक्षता प्राप्त कर ली कि उन्होंने दरबार के सभी कलाकारों को पछाड़ दिया। थियोडोर जान्सन-के त्रिवेन्द्रुरम से प्रस्थान करने के बाद उन्होंने अपनी कला को नया रूप दिया और उन्होंने उसकी उन्नति के लिए प्राण-पण से चेष्टा की। वह अपने कला-कक्ष में बैठे हुए सारे दिन और कभी-कभी सारी रात तैल-चित्र और वाटर-कलर के चित्र बनाते रहते थे। कलाकार अपनी कला के लिए पैसे कम, प्रोत्साहन अधिक चाहता है। पर रवि वर्मा को प्रोत्साहन देनेवाला कोई नहीं था। रवि वर्मा ने चित्र-कला को अपनी जीविका के साधन के रूप में नहीं अपनाया था। उसे उन्होंने अपनाया था अपनी प्रतिभा को संतुष्ट करने के लिए। इसलिए उसके प्रति उन्हें जी-जान से अधिक मोह था और वह उसी की साधना में लीन रहते थे। राज-परिवार को उनकी कला-प्रियता के प्रति विशेष दिलचस्पी नहीं थी। उनके चाचा, राजा राजा वर्मा, कभी-कभी त्रिवेन्द्रुरम आते थे, लेकिन अब उन्हें भी अपने भतीजे और शिष्य की कला के उन्नयन की चिन्ता नहीं थी। मौखिक सहानुभूति प्रकट करके ही वह चले जाते थे।

किसी सच्चे साधक को जब उसके हितैषियों की ओर से प्रोत्साहन नहीं प्राप्त होता तब परमात्मा उसे प्रोत्साहन दिलाने का विधान करता है। यद्यपि सन् १८७३ ई० तक रवि वर्मा की कला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी तथापि त्रावन-कोर की सीमा के बाहर उसका प्रचार नहीं था। वह स्वयं अपनी कला का प्रचार करें, यह उनके स्वभाव के विरुद्ध बात थी। कला स्वयं अपना प्रचार करती है, इसके वह क़ायल थे। इसलिए उन्होंने कभी किसी से अपनी कला के सम्बन्ध में चर्चा नहीं की। उनके सौभाग्य से सन् १८७३ ई० में मद्रास के टेक-निकल स्कूल के निरीक्षक, श्री चिशोल्म, का त्रिवेन्द्रुरम में आगमन हुआ। वहीं रवि-वर्मा से उनका प्रथम परिचय हुआ। उन्होंने रवि वर्मा के अनेक चित्र देखे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने सोचा कि यदि उनकी नव-अर्जित कला का त्रिवेन्द्रुरम की सीमा के बाहर प्रचार नहीं किया जायगा तो वह नष्ट हो जायगी। यह सोचकर उन्होंने रवि वर्मा को जीवन के किसी गम्भीर विषय पर

चित्र बनाने के लिए प्रोत्साहित किया और उसे मद्रास में होनेवाली कला-प्रदर्शनी में भेजने के लिए कहा। उनकी राय से महाराजा बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने रवि वर्मा को प्रदर्शनी के लिए चित्र बनाने की पूरी सुविधा प्रदान की।

रवि वर्मा ने बड़े परिश्रम से नायर तरुणी का एक ऐसा चित्र बनाया जिसमें वह बेला के हार से अपने केश का शृंगार कर रही थी। जनवरी, १८७४ ई० की मद्रास-कला-प्रदर्शनी में यह चित्र रखा गया। इस चित्र ने प्रदर्शनी में जान आ गई। उसे देखने के लिए प्रदर्शनी में दर्शकों की भीड़-पर-भीड़ आने लगी। निर्णायकों ने उसी चित्र को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया और उस पर रवि वर्मा को 'गवर्नर का स्वर्ण-पदक' प्रदान किया। उस समय लार्ड हॉबर्ट मद्रास के गवर्नर थे। उन्होंने रवि वर्मा को अपने बङ्गले पर बुलाकर उन्हें व्यक्तिगत रूप से बधाई दी। इससे रवि वर्मा का उत्साह बढ़ गया। अपने उस चित्र को उन्होंने वियना (स्विटजरलैंड) की कला-प्रदर्शनी में भेजा। वहाँ भी उसकी काफी प्रशंसा की गयी। इससे प्रोत्साहित होकर रवि वर्मा ने एक तमिल-तरुणी का ऐसा चित्र बनाया जिसमें वह वीणा-वादन कर रही थी। यह चित्र भी बेजोड़ था। सन् १८७५ ई० में प्रिंस आफ वेल्स मद्रास आये। इस शुभ अवसर पर त्रावनकोर-नरेश ने रवि वर्मा के दोनों चित्रों को उन्हें भेंट में दिया। प्रिंस आफ वेल्स उन चित्रों को देखकर बहुत प्रभावित हुए। उनमें भारतीय और पाश्चात्य, दोनों कलाओं का अभूतपूर्व समन्वय था।

इस प्रकार बाहर और भीतर से अपनी कला के उन्मेष के लिए पुचकार और प्रोत्साहन पाकर उन्होंने कई पौराणिक चित्रों की रचना की। उन चित्रों में से एक चित्र है—दुष्यन्त के लिए शकुन्तला का प्रेम-पत्र लिखना। इसकी रचना उन्होंने १८७६ ई० में की। उसी वर्ष मद्रास की कला-प्रदर्शनी में इसका प्रदर्शन हुआ। यह चित्र इतना सुन्दर और भव्य था कि इसे बकिंघम के ड्यूक ने क्रय कर लिया। इस समय बकिंघम के ड्यूक मद्रास के गवर्नर थे। उनकी मूल आकृति के बराबर आकार का चित्र बनाने के लिए योरप से एक चित्रकार बुलाया गया था। अपनी अठारह बैठकों में वह चित्र बनाने में सफल हुआ। परन्तु वह चित्र गवर्नर को नहीं पसन्द आया। ऐसी स्थिति में ड्यूक के चित्र बनाने का कार्य रवि वर्मा को सौंपा

गया। रवि वर्मा ने अपनी एक ही बैठक में वह चित्र बना दिया और उनका बनाया हुआ वह चित्र सबने पसंद किया। इससे अँग्रेजी शासकों के हृदय में भारतीय कलाकारों के प्रति आदर की भावना उत्पन्न हुई।

सन् १८७८ ई० से सन् १८८४ ई० तक रवि वर्मा का जीवन अत्यन्त व्यस्त रहा। सम्पूर्ण दक्षिण भारत में उनकी कला की ख्याति फैल गयी थी और बड़े-बड़े लोग उनके चित्रों को क्रय करने के लिए लालायित रहते थे। सन् १८७४ ई० तक उनकी कला उनके लिए मनोरंजन का साधन-मात्र थी, परन्तु इसके बाद उनकी कला उनकी जीविका का एक साधन हो गई। परन्तु उस समय भी वह धन कमाने के लोभ से अभिभूत होकर कला की साधना नहीं करते थे। वह कला की साधना करते थे अपनी कला के उत्कर्ष के लिए। ऐसी स्थिति में उनके बिना चाहे लक्ष्मी उनके पीछे-पीछे दौड़ती थी। चित्र बनकर तैयार नहीं हो पाता था कि बिक जाता था। ऐसी स्थिति में उन्हे नये-नये चित्र बनाने पड़ते थे। त्रावनकोर के महाराज के कहने से उन्होंने सीता के निर्वासन का एक चित्र बनाया। यह चित्र इतना भव्य और भावना-सम्पन्न था कि बम्बई के तत्कालीन गवर्नर श्री जेम्स फर्ग्यूसन ने उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास रख ली। इसी चित्र को देखकर सर टी० माधवराव ने गायकवाड़ के महाराजा स्याजीराव से उनकी प्रशंसा की। महाराजा गायकवाड़ ने रवि वर्मा को अपने राज्याभिषेक के अवसर पर सादर आमन्त्रित किया। रवि वर्मा उनके यहाँ चार महीने तक मेहमान रहे। इन चार महीनों में उन्होंने महाराजा के परिवार के लोगों के कई चित्र बनाये। वहाँ से आने के बाद ही उनके चाचा राजा राजा वर्मा का स्वर्गवास (१८८५ ई०) हो गया।

१८८५ ई० में रवि वर्मा का प्रवेश मैसूर-दरबार में हुआ। मैसूर के तत्कालीन महाराज ने उन्हें अपना आश्रय प्रदान किया। उनके आश्रय में रहकर रवि वर्मा ने उनके नये महल के लिए नौ चित्र बनाये। इन चित्रों को देखकर महाराज इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बहुमूल्य वस्तुओं के साथ-साथ दो सजे सजाये हाथी भेंट में देकर रवि वर्मा का सम्मान किया। मैसूर से घर लौटने के बाद फिर वह कहीं नहीं गये। सन् १८८८ ई० में उन्हें गायकवाड़ के महाराज ने रामायण और महाभारत की मार्मिक घटनाओं के आधार १४ चित्र बनाने का काम सौंपा। परन्तु इसी वर्ष उनकी माता उमा अम्बाबाई का स्वर्गवास हो गया। माता की मृत्यु का

उनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह एक वर्ष तक कोई चित्र नहीं बना सके। १८६० ई० में अपने गाँव किलीमन्नूर में अपने भाई और बहन के सहयोग से उन्होंने महाराज बड़ौदा के विशेष आग्रह जो पर चित्र बनाये उनकी काफी प्रशंसा हुई।

१८६० ई० के बाद रवि वर्मा के चित्रों की इतनी माँग बढ़ी कि बड़ोदा के दीवान राजा सर माधवराव के कहने से उन्होंने बम्बई में एक ऐसा शिला-मुद्रणालय स्थापित किया जिसपर तैल-चित्र के सदृश उनके चित्र प्रकाशित होने लगे। इस मुद्रणालय का प्रबन्ध एक यूरोपियन इंजीनियर के हाथ में था। उसने रवि वर्मा के चित्रों को साधारण जनता में भी लोक-प्रिय बना दिया। उनके प्रकाशित चित्रों की धड़ाधड़ बिक्री होने लगी। इससे उनकी आय बढ़ गयी। उनके पुत्र राम वर्मा राजा का कहना है कि रवि वर्मा अपने प्रत्येक मौलिक चित्र के लिए डेढ़ हजार से दो हजार रुपये तक लिया करते थे। वर्ष में वह कई चित्र बनाते थे। इस हिसाब से उनकी आय प्रति वर्ष पचीस हजार रुपये से पचास हजार रुपये तक हो जाती थी। वह राजाओं की भाँति सुख से अपना जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें किसी बात की कमी नहीं थी। लेकिन भौतिक ऐश्वर्य में पड़कर भी उन्होंने अपनी साधना की ओर से मुख नही मोड़ा। सन् १८६४ ई० तक वह बराबर अपनी कला-साधना में लीन रहे। सन् १८६४ ई० में महाराज त्रावनकोर के निधन के बाद वह अल्प-वयस्क महाराज के संरक्षक नियुक्त हुए। सन् १९०६ ई० तक अपने इस पद पर रहकर उन्होंने अपने दायित्व का पूरी तरह निर्वाह किया। इन बारह वर्षों में वह अधिक चित्र नही बना सके। सन् १९०५ ई० में उनके भाई का स्वर्गवास हो गया। भाई की मृत्यु का उनके हृदय पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह अपने जीवन से उदास हो गये। थोड़े ही दिनों में उनका स्वास्थ्य इतना गिर गया कि ५ अक्टूबर, १९०६ ई० को वह भी इस असार संसार से उठ गये।

रवि वर्मा अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे। उन्होंने अपने हाथों अपनी कला का शृङ्गार किया था। अपनी कला के उत्कर्ष के लिए उन्होंने किसी की चिरौरी-मिनती नहीं की। अपने पैरों पर खड़ेहोकर ही उन्होंने अमर ख्याति प्राप्त की। अपनी प्रतिभा और अपनी साधना में उनका अटूट विश्वास था।

राजघराने के विलासपूर्ण वैभव से घिरे हुए होने पर भी उन्होंने अपनी तूलिका का परित्याग नहीं किया। वह आश्चर्यजनक परिश्रमी थे। अपनी कला की साधना में उन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। उन्होंने लक्ष्मी की साधना नहीं की, पर लक्ष्मी उनके पीछे-पीछे चलती रही। ऐसे थे वह अपने समय के कलाकार! आज के कलाकारों को उनके चित्रों में अनेक दोष मिल सकते हैं, लेकिन जिस समय उन्होंने चित्र-कला की साधना आरम्भ की थी वह समय आज से सर्वथा भिन्न था। उस समय पाश्चात्य चित्र-कला के प्रभाव से भारतीय चित्र-कला अपने विकास के लिए छटपटा रही थी। रवि वर्मा ने उसके हृदय की धड़कन को महसूस किया और उसे उन्होंने अपनी साधना-द्वारा विकास के पथ पर ला खड़ा किया। इसीलिए वह भारत के 'माइकेल ऐंजिलो' कहे जाते हैं।

रवि वर्मा के पेंटिंग में अलंकरण की मात्रा अधिक है। उन्होंने अपनी पेंटिंग में पौराणिक नारी-सौंदर्य को ही मुख्यतः अभिव्यंजित किया है। उनके गाँव किलिमन्नूर में उनके अनेक चित्र मिलते है। त्रिवेन्दुरम की श्री चित्रालयम आर्ट-गैलरी में उनके २६ चित्रों का, बड़ौदा के लक्ष्मी विलास पैलेस में उनके १४ चित्रों का, मैसूर के महल में उनके ६ चित्रों का, उदयपुर के महल में उनके दो चित्रों का, त्रिवेन्दुरम के कला-विद्यालय में उनके पाँच चित्रों का, हैदराबाद के सर सालार जंग म्यूजियम में उनके चार चित्रों का और दिल्ली के नेशनल गैलरी आफ माडर्न आर्ट में उनके दो चित्रों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त कई भूतपूर्व भारतीय नरेशों के महलों में भी उनके मौलिक चित्र देखने को मिल सकते हैं। उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद उनके ८७ चित्रों का एक अलबम प्रकाशित किया गया था। अपने इन सभी चित्रों में रवि वर्मा अभी जीवित हैं और इन्हें देखकर आज के होनहार कलाकार प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

●●

नानासाहब पेशवा

उत्तर-प्रदेश में गंगा नदी के तट पर बसा हुआ बिठूर हिन्दुओं का तीर्थ स्थान है। इसका प्राचीन नाम ब्रह्मावर्त है। धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ इसे राजनीतिक महत्त्व भी प्राप्त है। सर्वप्रथम १८५७ ई० के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम की योजनाएँ यहीं बनायी गयी थीं। यह वह युग था जब एक ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्च अधिकारी अपनी भेद-नीति और कूट-नीति का जाल बिछाकर भारतीय नरेशों, नवाबों और जागीरदारों की सत्ता समाप्त करते जा रहे थे और दूसरी ओर धन-धरती से हीन भारतीय नरेश, नवाब और जागीरदार अपनी खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करने का स्वप्न देख रहे थे। ऐसे ही लोगों में पेशवा बाजीराव द्वितीय भी थे। दक्षिण भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक निज़ाम, सिंधिया, गायकवाड़, होलकर, भोंसले आदि सब ने कंधे डाल दिए थे। यदि किसी में थोड़ी जान शेष थी तो वह थे पेशवा बाजीराव द्वितीय। पेशवा बाजीराव द्वितीय (सन् १७९६-१८५१ ई०) पेशवा-वंश के अन्तिम दीपक थे और इस स्नेह-हीन दीपक की लौ भी टिमटिमा रही थी। शिवाजी के वंशज सतारा के राजा प्रतापसिंह इस टिमटिमाते दीपक को भी न देख सके। उन्होंने अंग्रेज़-अधिकारियों को पेशवाई का अन्त करने के लिए उभारा। इस प्रकार जिस राज-घराने से पेशवा को पेशवाई मिली थी उसी राज-घराने के एक वंशज ने उसकी होली जलाकर अपना हाथ सेंका। १३ जून, सन् १८१७ ई० को पूना के अंग्रेज़

रेजीडेंट एल्फिंस्टन ने पेशवा बाजीराव द्वितीय को प्राणघातक संधि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस संधि के अनुसार पेशवा बाजीराव को अँग्रेजी-शासन के पक्ष में ३४ लाख रु० वार्षिक मालगुजारी (राजस्व) के भू-खंडों का परित्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। इतने अधिक राजस्व से वंचित हो जाने पर पेशवा बाजीराव द्वितीय प्रतिशोध की भावना से छटपटा उठे। उनके सेनापति बापू गोखले ने एल्फिंस्टन की बम्बई तथा सिरूर छावनी में स्थित सेना की टुकड़ी पर आक्रमण कर दिया। खिरकी के युद्ध में उनकी पराजय हुई। इस पराजय से निराश होकर पेशवा बाजीराव द्वितीय पूना छोड़कर सेना-सहित भाग खड़े हुए। पुनः कोरेगाँव और अष्टी की लड़ाइयाँ हुईं। इन लड़ाइयों में भी वह पराजित हुए। एल्फिंस्टन ने सतारा के राजा प्रतापसिंह से मिलकर पेशवा के विरुद्ध एक घोषणा-पत्र निकलवाया। इसके अनुसार अँग्रेजी-सरकार ने पेशवा को ८ लाख पेंशन देना स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में जीवन-संघर्ष से हारे हुए पेशवा बाजीराव द्वितीय ने आत्म-समर्पण कर दिया। १ जून, सन् १८१८ ई० को संधि हुई। इस संधि के अनुसार उन्हें पूना छोड़ना पड़ा और उनके रहने के लिए बिठूर में एक जागीर दी गयी। ३४ लाख रुपये वार्षिक के राजस्व की जागीर छोड़कर उन्होंने एक छोटी-सी जागीर पर संतोष किया। उनके राज्य का कुछ अंश सतारा के राजा प्रतापसिंह को पुरस्कार के रूप में मिला और शेष कम्पनी के राज्य में मिला लिया गया।

जिस समय पेशवा बाजीराव द्वितीय पूना से बिठूर स्थानान्तरित किये गये उस समय लार्ड हेस्टिंग्स ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल (१८१३-२३ ई०) थे। उन्होंने पेशवा बाजीराव की सत्ता को हमेशा के लिए समाप्त करने के उद्देश्य से पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक-भ्राता अमृतराव (मृ० १८५३ ई०) से भी संधि की और उन्हें पेंशन देकर कर्वी-चित्रकूट (उत्तर प्रदेश, बाँदा) में रहने के लिए जागीर दे दी। अमृतराव की भाँति पेशवा के दूसरे भ्राता चिमनाजी अप्पा (मृ० १८३२ ई०) भी पेंशन लेकर काशी में रहने लगे। इस प्रकार पूना की पेशवाई-सत्ता उत्तर प्रदेश में आकर बिखर गयी। पूना में पेशवाई-सत्ता का अंत होने से उसके आश्रय में रहनेवाले लोग भी अपनी जीविका की खोज में इधर-उधर चले गये। कुछ लोगों ने कर्वी-चित्रकूट में शरण ली, कुछ लोगों ने काशी की ओर रुख किया और कुछ लोग बिठूर की ओर चले गये। बिठूर की ओर जाने

पेशवाई गद्दी पर किसी को बिठाने की बड़ी चिन्ता थी। माधोराव नारायण के अकस्मात आ जाने से उनकी यह चिन्ता कम हो गयी थी। उनके आते ही १८२७ ई० में उन्होंने ३ वर्ष के होनहार बालक नानाराव को अपना दत्तक-पुत्र बनाया। माधोराव नारायण के तीन पत्नियाँ थीं। गंगाबाई की कोख से तीन पुत्र थे : बाबा भट्ट (आना भट्ट), धोंड़ो पंत (नान साहब) और गंगाधर (बाला साहब), दूसरी पत्नी से सदाशिव (दादा साहब) और तीसरी पत्नी से पाण्डुरंग (राव साहब) थे। इन में से बाबा भट्ट का स्वर्गवास हो चुका था। इसलिए नाना साहब ही ज्येष्ठ पुत्र थे। नानसाहब को गोद लिए जाने के बाद गंगाधर और सदाशिव पंत को पुत्र के रूप में और पाण्डुरंग को पौत्र के रूप में गोद लिया गया। इसके साथ ही नानासाहब को ज्येष्ठ पुत्र स्वीकार कर उन्हें पेशवाई गद्दी का अधिकारी घोषित किया गया। इससे पेशवा को पिण्ड-दान केवल नाना साहब ही दे सकते थे। इस प्रकार दत्तक-पुत्र बनाने के पश्चात् पेशवा बाजीराव द्वितीय ने ११ दिसम्बर, सन् १८३९ ई० को एक अधिकार-पत्र लिखकर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। इस अधिकार-पत्र पर ३० अप्रैल, सन् १८४१ ई० को गवाहों के हस्ताक्षर हुए। बीच का समय केन्द्रीय सरकार से पत्र-व्यवहार करने में बीता था। इस अधिकार-पत्र के अनुसार सन् १८५० ई० में २५ बर्ष के हो जाने के कारण नानासाहब पूर्णरूप से पेशवाई गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये। इसके बाद ही २८ जनवरी, सन् १८५१ ई० को पेशाव बाजीराव द्वितीय का स्वर्गवास हो गया।

नानासाहब बचपन से ही उदार और सहनशील थे। दत्तक-पुत्र बनाये जाने के बाद उनका नाम नानाराव अथवा धोंडोपंत रखा गया और राजकुमारों की भाँति उन्हें हाथी-घोड़े की सवारी करने, तलवार चलाने, बन्दूक चलाने, मल्ल-युद्ध (कुश्ती) करने आदि की शिक्षा दी गयी। कसरत करने में उनकी विशेष रुचि थी। इसके साथ ही वह मेधावी भी थे। उन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। उर्दू, फ़ारसी और अँग्रेजी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। इस प्रकार शरीर-बल और बुद्धि-बल से संपन्न होकर जब उन्होंने यौवन के क्षेत्र में प्रवेश किया तब उनकी रग-रग से वीरता टपकती थी और वह साकर वीर रस दिखायी पड़ते थे। गोर

परन्तु कानपुर का कलेक्टर मोरलैण्ड नानाराव का कट्टर विरोधी था। वह नानाराव की प्रत्येक संस्तुति ठुकराने पर तुला हुआ था। शासकीय अनुमानों से पेशवा की जागीर तथा संपत्ति १६ लाख रुपये की थी जिससे ८० हजार रुपये की वार्षिक आय थी। हीरे-जवाहिरात तथा आभूषण इनके अतिरिक्त थे जिनका मूल्य लगभग ११ लाख रुपये था। इस स्थिति को देखकर बिठूर के स्थानापन्न कमिश्नर ग्रेटहेड ने शासन से संस्तुति की कि नाना धोंडो पंत को बाजीराव पेशवा की ८ लाख वार्षिक पेंशन का कुछ भाग अवश्य दिया जाय जिससे आश्रित परिवारों का भरण-पोषण हो सके, परन्तु कानपुर के कलेक्टर मोरलैण्ड के कुचक्रों के कारण ग्रेटहेड की संस्तुति ठुकरा दी गयी। लार्ड डलहौज़ी (१८४७-५६ ई०) उस समय भारत के गवर्नर जनरल थे। उन्होंने भी अपने १५ सितम्बर, १८५१ ई० के प्रपत्र द्वारा पूर्व-निर्णय का ही समर्थन किया। बिठूर में विशेष कमिश्नर का कार्यालय समाप्त कर दिया गया और पेशवा की जागीर कानपुर के कलेक्टर के अधिकार में चली गयी।

पेशवाई-वैभव में पले नाना धोंडो पंत ने जीवन के इस उलट-फेर की विशेष चिंता नहीं की। वह पेशवाई गद्दी पर बैठे और उन्होंने पेशवा महाराज की समस्त उपाधियाँ धारण कर लीं। इसके साथ ही उन्होंने केन्द्रीय शासन के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा और उसमें अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं को 'महाराजा' शब्द से संबोधित किया।इस पर केन्द्रीय शासन ने आपत्ति की। नाना धोंडो पंत ने इसके उत्तर में एक दूसरा प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमें उन्होने उपाधि के प्रयोग का स्पष्टीकरण किया और यह लिखा कि पेशवा ने शासन-सत्ता का अधिकार न तो अँग्रेजी-शासन से प्राप्त किया था और न ही दिल्ली-सम्राट से जिससे कि ईस्ट इण्डिया कंपनी ने सत्ता ग्रहण की, बल्कि उन्होंने अपने बाहुबल से साम्राज्य बनाया था। इसलिए उन्हें तथा उनके वंशजों को उपाधि धारण करने का पूर्ण अधिकार है। लेकिन उनके इस प्रार्थना-पत्र पर भी कोई सुनवाई नही हुई। कानपुर के कलेक्टर मोरलैण्ड ने इसे नानाराव को लौटा दिया। लार्ड डलहौज़ी के दिनांक सितम्बर १८५१ ई० के प्रपत्र ने नानाराव की रही-सही आशाओं को भी समाप्त कर दिया। लेकिन इतने पर भी नानाराव ने धैर्य का त्याग नहीं किया। वह यही चाहते थे कि पेशवा को जो ८ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन दी जाती

थी वह उन्हें भी मिलती रहे। इस उद्देश्य से उन्होंने लन्दन-स्थित 'कोर्ट ग्राफ डायरेक्टर्स' के पास तक प्रार्थना के साथ अपने विश्वस्तीय दीवान अजीमुल्ला खाँ को विलायत भेजने के सम्बन्ध में लार्ड डलहौजी से पत्र-व्यवहार किया। परन्तु लार्ड डलहौजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसने कोर्ट ग्राफ डायरेक्टर्स के पास भी इस आशय का पत्र भेज दिया कि नानाराव की प्रार्थना पर कोई ध्यान न दिया जाय। ऐसी स्थिति में नानाराव ने अपने दीवान अजीमुल्ला खाँ को अपना वकील बना कर महारानी विक्टोरिया (१८३७-१९०१ ई० के पास विलायत भेजने का निश्चय किया। फलतः अजीमुल्ला खाँ सन् १८५४ ई० में विलायत गये

लन्दन में अजीमुल्ला खाँ सतारा-नरेश के प्रतिनिधि श्रीरंगा रंगोजी बापू से मिले। दोनों ने विचार-विनिमय किया, परन्तु अजीमुल्ला खाँ को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। उन्होंने महारानी विक्टोरिया से भेंट की और कोर्ट ग्राव डायरेक्टर्स को भी प्रभावित करने की चेष्टा की, लेकिन उनकी कोई चेष्टा सफल नहीं हो सकी। फिर भी वह तुरन्त नहीं लौटे। उन्हें अँग्रेजी और फ्रेंच का अच्छा ज्ञान था। इसलिए लन्दन के फैशनेबल-समाज में उनकी बहुत आवभगत हुई। लन्दन से लौटते समय यूरोप में क्रीमिया-युद्ध (१८५४-५६ ई०) छिड़ गया। इस युद्ध में अँग्रेजी तथा फ्राँसीसी सेनाओं ने रूसी-सेना से टक्कर ली। यह दृश्य

देखने के लिए अजीमुल्ला खाँ ने, भारत लौटते समय, फ्रांस, इटली और रूस की यात्रा की। १८ जून, सन् १८५५ ई० के बाद जब अंग्रेजी और फ्रांसीसी सेनाएँ पराजित हुई तब उनके हृदय में उन रूसी-वीरों को देखने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई जिन्होंने अंग्रेजो को परास्त किया था। इस उद्देश्य से वह क्रीमिया में स्थित बाला-कलावा की उन खाइयों तक गये ज मे रूसी तोपों की गोलाबारी दिखायी दे सकती थी। इस तरह युद्ध तथा अँगे ्म्यता का आखो-देखा परिचय प्राप्तकर

परन्तु कानपुर का कलेक्टर मोरलैण्ड नानाराव का कट्टर विरोधी था। वह नानाराव की प्रत्येक संस्तुति ठुकराने पर तुला हुआ था। शासकीय अनुमानों से पेशवा की जागीर तथा संपत्ति १६ लाख रुपये की थी जिसमें ८० हजार रुपये की वार्षिक आय थी। हीरे-जवाहिरात तथा आभूषण इनके अतिरिक्त थे जिनका मूल्य लगभग ११ लाख रुपये था। इस स्थिति को देखकर बिठूर के स्थानापन्न कमिश्नर ग्रेटहेड ने शासन से संस्तुति की कि नाना धोंडो पंत को बाजीराव पेशवा की ८ लाख वार्षिक पेंशन का कुछ भाग अवश्य दिया जाय जिससे आश्रित परिवारों का भरण-पोषण हो सके, परन्तु कानपुर के कलेक्टर मोरलैण्ड के कुचक्रों के कारण ग्रेटहेड की संस्तुति ठुकरा दी गयी। लार्ड डलहौज़ी (१८४७-५६ ई०) उस समय भारत के गवर्नर जनरल थे। उन्होंने भी अपने १५ सितम्बर, १८५१ ई० के प्रपत्र द्वारा पूर्व-निर्णय का ही समर्थन किया। बिठूर में विशेष कमिश्नर का कार्यालय समाप्त कर दिया गया और पेशवा की जागीर कानपुर के कलेक्टर के अधिकार में चली गयी।

पेशवाई-वैभव में पले नाना धोंडो पंत ने जीवन के इस उलट-फेर की विशेष चिंता नहीं की। वह पेशवाई गद्दी पर बैठे और उन्होंने पेशवा महाराज की समस्त उपाधियां धारण कर ली। इसके साथ ही उन्होंने केन्द्रीय शासन के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा और उसमें अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं को 'महाराजा' शब्द से संबोधित किया। इस पर केन्द्रीय शासन ने आपत्ति की। नाना धोंडो पंत ने इसके उत्तर में एक दूसरा प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमें उन्होंने उपाधि के प्रयोग का स्पष्टीकरण किया और यह लिखा कि पेशवा ने शासन-सत्ता का अधिकार न तो अँग्रेजी-शासन से प्राप्त किया था और न ही दिल्ली-सम्राट से जिससे कि ईस्ट इण्डिया कंपनी ने सत्ता ग्रहण की, बल्कि उन्होंने अपने बाहुबल से साम्राज्य बनाया था। इसलिए उन्हें तथा उनके वंशजों को उपाधि धारण करने का पूर्ण अधिकार है। लेकिन उनके इस प्रार्थना-पत्र पर भी कोई सुनवाई नहीं हुई। कानपुर के कलेक्टर मोरलैण्ड ने इसे नानाराव को लौटा दिया। लार्ड डलहौज़ी के दिनांक सितम्बर १८५१ ई० के प्रपत्र ने नानाराव की रही-सही आशाओं को भी समाप्त कर दिया। लेकिन इतने पर भी नानाराव ने धैर्य का त्याग नहीं किया। वह यही चाहते थे कि पेशवा को जो ८ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन दी जाती

थीं वह उन्हें भी मिलती रहे। इस उद्देश्य से उन्होंने लन्दन-स्थित 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' के पास एक प्रार्थना के साथ अपने विश्वस्तीय दीवान अजीमुल्ला खाँ को विलायत भेजने के सम्बन्ध में लार्ड डलहौजी से पत्र-व्यवहार किया परन्तु लार्ड डलहौजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसने कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के पास भी इस आशय का पत्र भेज दिया कि नानाराव की प्रार्थना पर कोई ध्यान न दिया जाय। ऐसी स्थिति में नानाराव ने अपने दीवान अजीमुल्ला खाँ को अपना वकील बना कर महारानी विक्टोरिया (१८३७-१९०१ ई०) के पास विलायत भेजने का निश्चय किया। फलतः अजीमुल्ला खाँ सन् १८५४ ई० में विलायत गये।

लन्दन में अजीमुल्ला खाँ सतारा-नरेश के प्रतिनिधि श्रीरंगो बापू से मिले। दोनों ने विचार-विनिमय किया, परन्तु अजीमुल्ला खाँ को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। उन्होंने महारानी विक्टोरिया से भेंट की और कोर्ट आव डायरेक्टर्स को भी प्रभावित करने की चेष्टा की, लेकिन उनकी कोई चेष्टा सफल नहीं हो सकी। फिर भी वह तुरन्त नहीं लौटे। उन्हें अँग्रेजी और फ्रेंच का अच्छा ज्ञान था। इसलिए लन्दन के फैशनेबल-समाज में उनकी बहुत आवभगत हुई। लन्दन से लौटते समय यूरोप में क्रीमिया-युद्ध (१८५४-५६ ई०) छिड़ गया। इस युद्ध मे अँग्रेजी तथा फ्रांसीसी सेनाओं ने रूसी-सेना से टक्कर ली। यह दृश्य

देखने के लिए अजीमुल्ला खाँ ने, भारत लौटते समय, फ्रांस, इटली और रूस की यात्रा की। १८ जून, सन् १८५५ ई० के बाद जब अँग्रेजी और फ्रांसीसी सेनाएँ पराजित हुई तब उनके हृदय में उन रूसी-वीरों को देखने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई जिन्होंने अँग्रेजो को परास्त किया था। इस उद्देश्य से वह क्रीमिया में स्थित बालाकलावा की उन खाइयो तक गये जहाँ से रूसी तोपों की गोलाबारी दिखायी दे सकती थी। इस तरह युद्ध तथा अँग्रेजी सभ्यता का आँखों-देखा परिचय प्राप्तकर

अजीमुल्ला खां स्वदेश लौट आये। उनकी इस विदेश-यात्रा से भारतीय क्रान्ति की पृष्ठभूमि के निर्माण में विशेष सहायता मिली।

अजीमुल्ला खां के विलायत से लौटते ही नाना धोंडो पंत के संतोष का बाँध टूट गया। चारों ओर से निराश होकर उन्होंने क्रान्ति की योजना बनाना आरम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने सिंधिया-राजमाता बैजाबाई से संपर्क स्थापित किया। इसके बाद उन्होंने होल्कर, जयपुर, जोधपुर, झालावाड़, रीवा, बड़ौदा, हैदराबाद, कोल्हापुर, सतारा, इन्दौर आदि के राजाओं से पत्र-व्यवहार किया। ऐसे सभी पत्र सन् १८५५ ई० में भी लिखे जा चुके थे। लेकिन जब अवध के अपहरण के बाद १८५७ ई० के आरम्भ होते ही अवध में असंतोष की आग भड़क उठी और मुल्लाओं और फकीरों ने जिहाद का नारा लगाना आरम्भ कर दिया तब नाना साहब ने सब के साथ पुनः पत्र-व्यवहार कर मुग़ल सम्राट बहादुर शाह से भी संपर्क स्थापित किया। जम्मू के राजा गुलाबसिंह से भी उनका पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। इससे स्पष्ट है कि अँग्रेजी शासन के विरुद्ध राजाओं तथा नवाबों में पर्याप्त असंतोष था। इसी प्रकार का असंतोष भारतीय सेना में भी फैला हुआ था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अंतर्गत भारतीय सेना तीन खंडों में विभाजित थी: (१) बंगाल-आर्मी, (२) बंबई-आर्मी और (३) मद्रास-आर्मी। इनमें से बंगाल-आर्मी का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक था। यह क्षेत्र एक ओर कलकत्ता से पेशावर तक और दूसरी ओर अम्बाला से महो तक फैला हुआ था। कम वेतन, अधिकारियों-द्वारा दुर्व्यवहार, कर्नल व्हीलर-जैसे अधिकारियों-द्वारा ईसाई-धर्म का खुल्लम-खुल्ला प्रचार, नई वर्दी-सम्बन्धी कठोर नियम, विदेशों में भारतीय सेना भेजने का नियम, गाय और सुअर की चर्बी लगे हुए कारतूसों का आना आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनसे साधारणतः सभी सेनानी असंतुष्ट थे, लेकिन बंगाल-आर्मी को अन्य आर्मियों की अपेक्षा अत्यधिक असंतोष था। उसमें जो हिन्दू और मुसलमान सेनानी थे उनकी धार्मिक भावना बड़ी प्रबल थी। इसलिए उत्तर भारत में बंगाल-आर्मी की जहाँ-जहाँ छावनियाँ थीं वहाँ-वहाँ जाने और क्रान्ति का संदेश देने के उद्देश्य से नानासाहब और अजीमुल्ला खाँ एक साथ बिठूर से निकल पड़े। उनकी इन यात्राओं का ध्येय सर्वथा गोपनीय था। लेकिन जब वे काल्पी,

दिल्ली, ग्वालियर, मेरठ, अम्बाला आदि की यात्रा कर १८ अप्रैल, १८५७ ई० को लखनऊ पहुँचे तब वहाँ उनके ध्येय का भंडाफोड़ हो गया। लखनऊ में उनका जो भव्य स्वागत हुआ उसने अँग्रेज अधिकारियों को नानासाहब की ओर से सचेत कर दिया।

इस प्रकार सन् १८५७ ई० के भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की रूपरेखा निश्चित कर नानासाहब बिठूर लौट आये। तात्या टोपे बिठूर में ही थे। दिल्ली में मुगल-सम्राट् बहादुरशाह के परामर्श हो ही चुका था। कालपी में जगदीशपुर (बिहार) के कुँवरसिंह से भी बातें हो चुकी थीं। बस, योजना को आरम्भ करने-भर की देर थी। इसके अनुसार क्रान्ति का श्रीगणेश ३१ मई, १८५७ ई०, रविवार को होना था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस क्रान्ति का श्रीगणेश वस्तुतः २९ मार्च, १८५७ ई० को ही हो गया जब बैरकपुर में ३४ वीं भारतीय सेना के एक सेनानी मङ्गल पाँड़े ने परेड के मैदान में गाय की चर्बी से वेष्ठित कारतूस के विरुद्ध अँग्रेज-सैनिक की अवज्ञा करने और उसका सर तलवार-द्वारा धड़ से उड़ा देने के कारण तात्कालिक मृत्यु-दण्ड प्राप्त किया। यह घटना एक ऐसी सनसनीपूर्ण घटना थी जिसने बंगाल-आर्मी के सभी सैनिकों को सतर्क कर दिया। जिस धर्म-भावना से उत्तेजित होकर मङ्गल पाँड़े शहीद हुए उसी धर्म-भावना के कारण मेरठ में स्थित तीसरी घुड़सवारों की चपल रेजीमेंट में असंतोष की आग भड़क उठी और २३ अप्रैल को पचासों सेनानियों ने परेड पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन सेनानियों का 'कोर्ट-मार्शल' किया गया। उनमें से २५ सेनानियों को पद-च्युत कर दिया गया और शेष को छः से दस वर्ष के लिए जेल में ठूँस दिया गया। इस अपमान से सेनानी मर्माहत हो उठे। १० मई को साँय-काल के समय छावनी में हलचल मची और तीसरी घुड़सवार-सेना ने जेल जाकर अपने साथियों को मुक्त किया और ११ वीं तथा १२ वीं सेना की टुकड़ियों के साथ क्रांति का सिंहनाद किया। जिन अँग्रेज-सैनिकों ने परेड पर आकर उन्हें शान्त करने का उपक्रम किया उन्हें विद्रोही सेनानियों ने गोली मार दी। इसके बाद छावनी तथा नगर में मारकाट और लूट-मार आरम्भ हो गयी। अँग्रेज-सैनिकों के हाथ-पैर ढीले पड़ गये। वे कुछ न कर सके। मेरठ में लूट-मार करने के पश्चात्

क्रान्तिकारी सेनानी 'मारो फिरङ्गी को', 'हर-हर महादेव' आदि का नारा लगाते हुए दिल्ली की ओर बढ़ गये।

कानपुर भी भारतीय सेनानियों का एक मुख्य अड्डा था। सन् १८५६ ई० में अवध की नवाबी के पतन के बाद इसका महत्त्व दुगना हो गया था। यह अवध में घुसने का प्रवेश-द्वार था। ऐसी स्थिति में मेरठ और दिल्ली में क्रान्ति का विस्फोट होते ही ह्वीलर ने यहाँ विशेष तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। इसके साथ ही उसने नाना धोंडे पंत से भी सहायता माँगी। नानासाहब ने सहर्ष २०० घुड़सवार, ४०० पदाती और २ तोपें अँग्रेजों की सहायता तथा खजाने की सुरक्षा के लिए भेज दीं। इससे नानासाहब पर अँग्रेज-अधिकारियों का विश्वास जम गया। उस समय कानपुर का कलेक्टर हिलर्सडन था। उसने जब नानासाहब से प्राप्त हाथियों-द्वारा खजाने को गुप्त-स्थान में ले जाना चाहा तब सुरक्षा-सैनिकों ने विरोध किया। खजाने पर अँग्रेज-सैनिक तैनात करने की धमकी पर उनका विरोध और बढ़ गया। फलतः नानासाहब के सैनिकों को खजाने की सुरक्षा का भार सौंप दिया गया। इससे कानपुर में क्रान्ति होने के पहले ही नानासाहब को बिठूर से कानपुर में सैनिक लाने और खजाने पर अधिकार जमाने का अवसर मिल गया। क्रान्ति के समाचार पाकर अँग्रेज कानपुर खाली कर देना चाहते थे, पर ह्वीलर के आश्वासन देने पर उन्होंने बैरकों को अपना गढ़ बनाया। बैरकों में आटा, दाल, घी, नमक, चावल, चाय, चीनी, कच्ची शराब आदि एक हजार व्यक्तियों के लिए ३० दिन का सामान भर लिया गया। इस प्रकार २२ मई तक अँग्रेज स्त्रियाँ और बच्चे बैरकों में पहुँच गये। व्यय के लिए खजाने से १ लाख रुपया भी निकाल लिया गया था। इसके अतिरिक्त सेना में वितरण के लिए ३४ हजार रुपया भी गढ़ में रख लिया गया।

ह्वीलर को पूर्ण विश्वास था कि कानपुर में सेना विद्रोह नहीं करेगी, परन्तु हुआ इसके विरुद्ध। ४ जून को रात्रि में दो बजे सूबेदार टीकासिंह के नेतृत्व में क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। सर्वप्रथम पदाती-सेना (रेजीमेंट) तथा द्वितीय घुड़सवार-पल्टन ने सशस्त्र छावनी से बाहर आकर बंगलों में आग लगा दी, बारूद-खाने पर अधिकार जमा लिया, जेल से बंदियों को मुक्त कर दिया और खजाना लूटकर कानपुर से ३-४ मील की दूरी पर स्थित कल्याणपुर की ओर प्रस्थान किया। कल्याणपुर से क्रान्तिकारी दिल्ली जाना चाहते थे। नानासाहब, अजीमुल्ला

तथा बालासाहब (गङ्गाधर) ने कानपुर से वहाँ पहुँचकर उन्हें दिल्ली जाने से रोका। उन्होंने क्रान्तिकारियों को पहले कानपुर को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लेने का आदेश दिया। कानपुर से दिल्ली पहुंचना सरल नहीं था। इसके अतिरिक्त कानपुर में कर्नल ह्वीलर की सेना को बैरकों में सुरक्षित रखना आत्म-हत्या करना था। गङ्गा की नहर में ४० नावें गोला-बारूद तथा गोलियों से ठसाठस भरी हुई रुड़की भेजी जाने के लिए तैयार थीं। दिल्ली जाने से वे भी हाथ से निकल जातीं। इन बातों पर विचारकर क्रान्तिकारी कल्याणपुर से कानपुर की ओर लौट पड़े और उन्होंने गङ्गा-तट पर लगी नावों में भरी युद्ध-सामग्री पर अपना अधिकार जमा लिया।

कल्याणपुर में क्रान्ति की योजना सम्पन्न कर नानासाहब भी कानपुर लौट आये और उन्होंने क्रान्ति की बागडोर अपने हाथ में ले ली। खजाना उनके पास था। शस्त्रागार तथा नावों में लदी युद्ध-सामग्री पर उनका अधिकार था। उनके समर्थकों की भी कमी नहीं थी। इसीलिए उन्होंने अपना कूटनीतिपूर्ण गुप्त आवरण त्यागकर स्पष्ट रूप से युद्ध की घोषणा की और कर्नल ह्वीलर को इस आशय की सूचना भेज दी। यह सूचना पाकर कर्नल ह्वीलर को बहुत आश्चर्य हुआ। घबड़ा-कर वह अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करने लगा। इसी बीच ६ जून को बैरकों में स्थित अँग्रेजी सेना पर आक्रमण हो गया। मोर्चे पर तोपें लगा दी गयीं और गोला-बारी आरंभ हो गयी। ७ जून को स्थान-स्थान पर बँगलों में आग लगा दी गयी। १२ जून तक बराबर यही कार्य-क्रम चलता रहा। इसी बीच नानासाहब ने अपनी शासन-व्यवस्था सुदृढ़ की और यह घोषणा की कि सब क्रान्तिकारी मुगल-सम्राट के हरे झंडे के नीचे एकत्र होंगे। इसके साथ ही उन्होंने क्रान्तिकारियों का संगठन ठीक किया। लेकिन बाँदा, हमीरपुर, इटावा, झाँसी, जालौन आदि में संगठन की आवश्यकता थी। यह कार्य-भार तात्या टोपे और पाण्डुरंग (रावसाहब) को सौंपा गया। इससे चारों ओर क्रान्ति को सफलता मिलने लगी। परन्तु इतना सुदृढ़ संगठन होते हुए भी इलाहाबाद और वाराणसी में क्रान्ति सफल न हो सकी। यहाँ के क्रान्तिकारियों पर अमानुषिक अत्याचार किए गये। इन अमानुषिक अत्या-चारों से कानपुर के क्रान्तिकारियों का रक्त खौल उठा। २३ जून को उन्होंने

क्रान्तिकारी सेनानी 'मारो फिरङ्गी को', 'हर-हर महादेव' आदि का नारा लगाते हुए दिल्ली की ओर बढ़ गये।

कानपुर भी भारतीय सेनानियों का एक मुख्य अड्डा था। सन् १८५६ ई० में अवध की नवाबी के पतन के बाद इसका महत्त्व दुगना हो गया था। यह अवध में घुसने का प्रवेश-द्वार था। ऐसी स्थिति में मेरठ और दिल्ली में क्रान्ति का विस्फोट होते ही ह्वीलर ने यहाँ विशेष तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। इसके साथ ही उसने नाना धोंडे पंत से भी सहायता माँगी। नानासाहब ने सहर्ष २०० घुड़सवार, ४०० पदाती और २ तोपें अँग्रेजों की सहायता तथा खजाने की सुरक्षा के लिए भेज दीं। इससे नानासाहब पर अँग्रेज-अधिकारियों का विश्वास जम गया। उस समय कानपुर का कलेक्टर हिलर्सडन था। उसने जब नानासाहब से प्राप्त हाथियों-द्वारा खजाने को गुप्त-स्थान में ले जाना चाहा तब सुरक्षा-सैनिकों ने विरोध किया। खजाने पर अँग्रेज-सैनिक तैनात करने की धमकी पर उनका विरोध और बढ़ गया। फलतः नानासाहब के सैनिकों को खजाने की सुरक्षा का भार सौंप दिया गया। इससे कानपुर में क्रान्ति होने के पहले ही नानासाहब को बिठूर से कानपुर में सैनिक लाने और खजाने पर अधिकार जमाने का अवसर मिल गया। क्रान्ति के समाचार पाकर अँग्रेज कानपुर खाली कर देना चाहते थे, पर ह्वीलर के आश्वासन देने पर उन्होंने बैरकों को अपना गढ़ बनाया। बैरकों में आटा, दाल, घी, नमक, चावल, चाय, चीनी, कच्ची शराब आदि एक हजार व्यक्तियों के लिए ३० दिन का सामान भर लिया गया। इस प्रकार २२ मई तक अँग्रेज स्त्रियाँ और बच्चे बैरकों में पहुँच गये। व्यय के लिए खजाने से १ लाख रुपया भी निकाल लिया गया था। इसके अतिरिक्त सेना में वितरण के लिए ३४ हजार रुपया भी गढ़ में रख लिया गया।

ह्वीलर को पूर्ण विश्वास था कि कानपुर में सेना विद्रोह नहीं करेगी, परन्तु हुआ इसके विरुद्ध। ४ जून को रात्रि में दो बजे सूबेदार टीकासिंह के नेतृत्व में क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। सर्वप्रथम पदाती-सेना (रेजीमेंट) तथा द्वितीय घुड़सवार-पल्टन ने सशस्त्र छावनी से बाहर आकर बंगलों में आग लगा दी, बारूद-खाने पर अधिकार जमा लिया, जेल से बंदियों को मुक्त कर दिया और खजाना लूटकर कानपुर से ३-४ मील की दूरी पर स्थित कल्याणपुर की ओर प्रस्थान किया। कल्याणपुर से क्रान्तिकारी दिल्ली जाना चाहते थे। नानासाहब, अजीमुल्ला

तथा बालासाहब (गङ्गाधर) ने कानपुर से वहाँ पहुँचकर उन्हें दिल्ली जाने से रोका। उन्होंने क्रान्तिकारियों को पहले कानपुर को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लेने का आदेश दिया। कानपुर से दिल्ली पहुँचना सरल नहीं था। इसके अतिरिक्त कानपुर में कर्नल ह्वीलर की सेना को बैरकों में सुरक्षित रखना आत्म-हत्या करना था। गङ्गा की नहर में ४० नावें गोला-बारूद तथा गोलियों से ठसाठस भरी हुई रुड़की भेजी जाने के लिए तैयार थीं। दिल्ली जाने से वे भी हाथ से निकल जातीं। इन बातों पर विचारकर क्रान्तिकारी कल्याणपुर से कानपुर की ओर लौट पड़े और उन्होंने गङ्गा-तट पर लगी नावों में भरी युद्ध-सामग्री पर अपना अधिकार जमा लिया।

कल्याणपुर में क्रान्ति की योजना सम्पन्न कर नानासाहब भी कानपुर लौट आये और उन्होंने क्रान्ति की बागडोर अपने हाथ में ले ली। खजाना उनके पास था। शस्त्रागार तथा नावों में लदी युद्ध-सामग्री पर उनका अधिकार था। उनके समर्थकों की भी कमी नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपना कूटनीतिपूर्ण गुप्त आवरण त्यागकर स्पष्ट रूप से युद्ध की घोषणा की और कर्नल ह्वीलर को इस आशय की सूचना भेज दी। यह सूचना पाकर कर्नल ह्वीलर को बहुत आश्चर्य हुआ। घबड़ाकर वह अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करने लगा। इसी बीच ६ जून को बैरकों में स्थित अँग्रेजी सेना पर आक्रमण हो गया। मोर्चे पर तोपें लगा दी गयीं और गोला-बारी आरंभ हो गयी। ७ जून को स्थान-स्थान पर बँगलों में आग लगा दी गयी। १२ जून तक बराबर यही कार्य-क्रम चलता रहा। इसी बीच नानासाहब ने अपनी शासन-व्यवस्था सुदृढ़ की और यह घोषणा की कि सब क्रान्तिकारी मुगल-सम्राट के हरे झंडे के नीचे एकत्र होंगे। इसके साथ ही उन्होंने क्रान्तिकारियों का संगठन ठीक किया। लेकिन बाँदा, हमीरपुर, इटावा, झाँसी, जालौन आदि में संगठन की आवश्यकता थी। यह कार्य-भार तात्या टोपे और पाण्डुरंग (रावसाहब) को सौंपा गया। इससे चारों ओर क्रान्ति को सफलता मिलने लगी। परन्तु इतना सुदृढ़ संगठन होते हुए भी इलाहाबाद और वाराणसी में क्रान्ति सफल न हो सकी। यहाँ के क्रान्तिकारियों पर अमानुषिक अत्याचार किए गये। इन अमानुषिक अत्याचारों से कानपुर के क्रान्तिकारियों का रक्त खौल उठा। २३ जून को उन्होंने

चौगुने उत्साह से बैरकों पर आक्रमण किया। इस आक्रमण से अँग्रेजों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। भुखमरी का दानव उनके सामने आकर खड़ा हो गया। बारूद समाप्त हो गयी और तोपें बेकार हो गयीं। ऐसी स्थिति में हथियार डालने के अतिरिक्त और कोई चारा न रह गया। अन्त में अपनी विवशता देखकर अँग्रेजों ने हथियार डाल दिये। फलतः २६ जून को दोनों के प्रतिनिधियों की बैठक हुई। इसमें समर्पण की जो शर्तें तय हुई उनके अनुसार २७ जून को प्रातःकाल ६ बजे तक बैरक के सभी अंग्रेज बाल-बच्चों-सहित सत्तीचौरा-घाट पर पहुँचा दिए गये। वहाँ उन्हें इलाहावाद तक पहुँचाने के लिए ४० नावें तैयार थीं। कुछ में फूस की छत थी, अन्य खुली हुई थीं। उनमें खाद्य-सामग्री भी रख दी गयी थी। अँग्रेज उनमें आराम से बैठ गये। उनके बैठते ही घाट पर खड़ी अपार भीड़ की ओर से बिगुल बजा और बिगुल बजते ही समस्त नावों के नाविक नावें छोड़कर नदी में कूद पड़े। उनके कूदते ही अँग्रेजों ने उन पर गोली चला दी। पानी में डुबकी लगाकर अधिकांश नाविक बच गये, पर अँग्रेजों ने अपनी जल्दबाजी से खतरा मोल ले लिया। अंग्रेजों की ओर से गोली चलते ही घाट पर खड़े सैनिकों ने भी गोली चलाना शुरू किया। नावों की फूस की छतों में आग लग गयी और बहुत-से अँग्रेज बाल-बच्चों-सहित मारे गये। नाना साहब को जब इस दुर्घटना का समाचार मिला तब वह विकल हो उठे। स्त्रियों और बच्चों की हत्या से उन्हें बहुत दुःख हुआ। उनकी आज्ञा से २८६ व्यक्तियों में से १२५ महिलाओं तथा बच्चों को बन्दी बनाया गया। इसी प्रकार नाव से भागे हुए ८० अँग्रेज-स्त्री-पुरुष और भी बन्दी बनाये गये। इन बंदियों को नहर के किनारे स्थित बीबी-घर में रखा गया। ३० जून को सभी पुरुषों को फाँसी दे दी गयी।

कानपुर से अँग्रेजों के निष्कासन के बाद नानासाहब ने कानपुर में २८ जून को असने राज्याभिषेक का आयोजन किया। आरम्भ में मुग़ल-सम्राट के सम्मान में १०१ तोपों की सलामी दी गयी। स्वयं नानासाहब के सम्मान में २१ तोपों की सलामी हुई। तात्या टोपे और सेनापति टीकासिंह का ११ तोपों-द्वारा स्वागत किया गया। इस शुभ अवसर पर सैनिकों को १ लाख रुपये का पुरस्कार दिया गया। इसके बाद नानासाहब बिठूर गये और वहाँ वैदिक रीति से उनका राज्याभिषेक हुआ। उनको पेशवाई-मुकुट पहनाया गया। ६ जुलाई तक इस उत्सव से

निवृत्त होकर उन्होंने अपनी सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। सत्तीचौरा घाट के हत्याकाण्ड से अँग्रेज सैनिक उत्तेजित हो उठे थे और वह उनका बदला लेने पर तुले हुए थे। ९ जून को फतेहपुर स्वतंत्र हो चुका था और यहाँ नानासाहब पेशवा राजा घोषित हो चुके थे। यह इलाहाबाद और कानपुर के मध्य स्थित था। इसलिए यही युद्ध का अड्डा बना। १२ जुलाई को यहाँ युद्ध हुआ। इस युद्ध में क्रान्तिकारी-सेना पराजित हो गयी और ३२ दिन की स्वतंत्रता के बाद फतेहपुर पुनः अँग्रेजी शासन के अन्तर्गत हो गया। इसके बाद १५ जुलाई को आँग गाँव तथा पाण्डु नदी के युद्ध में भी क्रान्तिकारियों को सफलता नहीं मिली। पाण्डु नदी के युद्ध में विजयी होने से अँग्रेजों के लिए कानपुर पहुँचने का द्वार हाथ आ गया। ऐसी स्थिति में नानासाहब को स्वयं रण-क्षेत्र में आना पड़ा। यह युद्ध अहरिया ग्राम में हुआ, परन्तु इसमें किसी की विजय नहीं हुई। इसी बीच १५ जुलाई को बीबी-घर के २१० अँग्रेज स्त्री-बच्चों को मौत के घाट उतार दिया गया और उनकी लाशें पास के कुएँ में फेंक दी गयीं। इस दुर्घटना में नानासाहब का हाथ नहीं था। उस दिन वह कानपुर में नहीं, अहरिया ग्राम में थे। अहरिया ग्राम से १६ जुलाई को वह कानपुर आये। कानपुर में प्रथम बार घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध में क्रन्तिकारियों ने जी-जान से प्रयत्न किया, परन्तु भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया। अंग्रेजों की विजय हुई। बिठूर के प्रथम युद्ध में भी अँग्रेज ही विजयी हुए। इससे नानासहाब को बिठूर से विदा होना पड़ा। विदा होते समय उन्होंने अपनी सेना की सलामी ली। मुगल-सम्राट के सम्मान में १०० तोपें, बाजीराव पेशवा के सम्मान में ८० तोपें और ६० तोपें उनके सम्मान में दाग़ी गयीं। इसके बाद उसी दिन रात में उन्होंने अपना सारा सामान लेकर नावों-द्वारा गंगा-पार उन्नाव जिले के फतेहपुर चौरासी नामक स्थान की ओर कूच किया और वहाँ पहुँचकर चौधरी भोपाल सिंह की गढ़ी में अपना शिविर स्थापित किया। परन्तु यहाँ वह न रह सके। बेगम हजरतमहल ने उन्हें अपने यहाँ लखनऊ बुला लिया और शीशमहल में उन्हें उतारा। जिस समय लखनऊ में उनका प्रवेश हुआ, उस समय उनके सम्मान में ११ तोपें सलामी की दाग़ी गयीं।

बिठूर से निष्कासित होने पर भी नाना साहब अधीर नहीं हुए। परिस्थितियाँ उनके विरुद्ध थीं, लेकिन फिर भी वह मैदान में डटे रहे। शासन ने उनके पीछे अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। हैवलाक तो आरंभ से ही उनके पीछे पड़ा हुआ था। इलाहाबाद तथा कलकत्ता से भी आउटरम, नील, आयर, कूपर, कोलिन कैम्पबेल-जैसे चुने हुए सेनानी हैवलाक की सहायता के लिए आ पहुँचे थे। ऐसी स्थिति में क्रान्तिकारियों की सफलता संदिग्ध थी। लेकिन फिर भी नाना साहब ने बड़ी तत्परता से अँग्रेजी सेना का सामना किया। २८ और २९ जुलाई को क्रान्तिकारियों ने उन्नाव में मंगलवार (मगरवार) नामक स्थान पर हैवलाक का मुकाबला किया, परन्तु उन्हें पीछे हटना पड़ा। उन्नाव पर अधिकार कर हैवलाक ने बशीरतगंज पर छापा मारा, किन्तु इसके बाद ही वह संकट में पड़ गया। उनके वाम-पक्ष पर नानासाहब-द्वारा भेजे गये सैनिक एकत्र हो गये। उनके साथ दानापुर (बिहार) तथा ग्वालियर के क्रान्तिकारी भी आकर मिल गये और सब ने कानपुर पर आक्रमण की तैयारी की। परन्तु कानपुर तथा बिठूर के युद्धों में क्रान्तिकारी सेनानी संघर्ष करने के बाद पीछे हट गये। फिर भी अँग्रेजों को बराबर उनका भय बना रहा। सितम्बर मास तक कानपुर तथा बिठूर में अँग्रेजों की यही दुर्दशा रही। परन्तु इसके बाद ही २० सितम्बर को बूढ़े मुगल-सम्राट बहादुरशाह के आत्म-समर्पण कर देने पर क्रान्तिकारियों के सैनिक संगठन को बड़ा धक्का लगा। फिर भी उनकी साहस नहीं टूटा। तात्या टोपे के नेतृत्व में उन्होंने कानपुर पर आक्रमण किया। २७ नवम्बर को भीषण संघर्ष हुआ। ५ दिसम्बर तक दोनों दलों के बीच झड़पें होती रहीं। अन्त में ६ दिसम्बर को अँग्रेजी-सेना विजयी हुई और जनवरी, सन् १८-५८ ई० तक उसने कानपुर और लखनऊ के बीच के मार्ग पर पूरा अधिकार स्थापित कर लिया। इसके साथ ही नानासाहब को बन्दी बनाने के लिए २८ फरवरी को १ लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा की गयी। ऐसी स्थिति में नानासाहब ने अवध में ठहरना उचित नहीं समझा। वह शाहजहाँपुर, बदायूँ, फरीदपुर, बहराइच आदि होते हुए नेपाल की ओर निकल गये। उनकी खोज होती रही, परन्तु उनके रहस्यमय जीवन का कुछ भी पता न चल सका। आज भी उनका जीवन

रहस्यमय बना हुआ है। उपलब्ध प्रमाणों से इतना ही ज्ञात हो सका है कि वह १८७९ ई० तक अवश्य जीवित थे।

नाना साहब उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान देश-भक्त क्रान्तिकारी थे। १८५७ की महान क्रान्ति का उन्होंने जिस साहस, जिस दृढ़ता और जिस वीरता से नेतृत्व किया उससे सिद्ध होता है कि उनमें नायकत्व का अद्वितीय गुण था। उनकी लोक-प्रियता तथा उनके प्रति असाधारण स्वामि-भक्ति बड़े उच्च स्तर की थी। उनके प्रति उनके अनुयायियों का इतना अधिक विश्वास था कि १ लाख रुपये तक का पुरस्कार उनके किसी भी निकटतम विश्वास-पात्र साथी को लोभ के चँगुल में न फँसा सका। उनके सन् १८७१ ई० के पत्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने २० वर्ष तक बराबर अनेक प्रकार की यातनाओं को सहन किया, लेकिन अपना मस्तक नीचा नहीं किया। वह अपने समय के अनन्य देश-प्रेमी थे और अपने महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व दिया। जिस दिन उन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध अस्त्र-शस्त्र ग्रहण किया उस दिन से वह बराबर अपने जीवन की विरोधी परिस्थियों के साथ जूझते रहे, पर वह कभी निराश नहीं हुए। बार-बार विफल होने के बाद भी वह देश को विदेशी शासकों के चँगुल से मुक्त करने का स्वप्न देखते रहे। उनका युग हिंसा का युग था। सेना के बल पर ही क्रान्ति हो सकती थी। इसलिए मार-काट अवश्यम्भावी थी। फिर भी मानवता के नाते नानासाहब को स्त्री-बच्चों तथा साधारण प्रजा की सुरक्षा का ध्यान बना रहता था। वह हत्यारे नहीं थे, पर अवसर पड़ने पर वह हत्या से नहीं चूकते थे। यही युग-धर्म था। इसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने जो कुछ किया, देश के उद्धार के लिए किया। उनकी देश-भक्ति हमारे लिए एक ऐसी मिसाल है जिस से हमें बराबर प्रेरणा मिलती रहेगी।

●●

लोकमान्य तिलक

"स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। हम उसे लेकर रहेंगे। जैसे अग्नि मे उष्णता अलग नहीं की जा सकती, वैसे ही कोई हम से स्वराज्य अलग नही कर सकता। पराधीनता विषवत् है और स्वतंत्रता अमृत-तुल्य है। राजनीतिक दासता नरक और स्वतंत्रता ही स्वर्ग है। स्वतंत्रता माँगने से नहीं मिलती, वह बलिदान से मिलती है।"—ये उद्गार हैं लोकमान्य तिलक के जो अपनी भरी जवानी में ही अपनी जान हथेली पर रखकर स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े थे। उनमें अद्भुत उत्साह और कार्य-क्षमता थी। भय तो उन्हे था ही नहीं—न अपनी जीविका और न अपने जीवन का। जिस समय वह लाखों की भीड़ में बोलने लगते थे उस समय उनकी दहाड़ एक सिंह की दहाड़ होती थी। झुकना तो वह जानते ही नही थे। तत्कालीन अँग्रेजी सरकार ने उन्हें बार-बार झुकाने की कोशिश की, लेकिन वह नही झुके, हिमालय की तरह अटल और अडिग रहे।

लोकमान्य तिलक का जन्म जिला रत्नगिरि (बम्बई प्रदेश : कोंकण) के अन्तर्गत खिचल गाँव के सम्मानित ब्राह्मण-परिवार में २३ जुलाई, सन् १८५६ ई० को हुआ था। उनके परदादा केशवराव इसी गाँव में रहते थे और पेशवा के राज्य मे तहसीलदार थे। घुड़सवारी, तैराकी और बन्दूक चलाने में भी वह निपुण थे। उनमें आत्म-सम्मान की भावना भी अधिक थी। सन् १८१७ ई० में पेशवाई का अन्त होने पर बम्बई की सरकार ने उन्हें अपने यहाँ नौकर रखना चाहा, पर विदेशी सरकार की नौकरी करना उन्होंने पसंद नही किया। पेशवा की नौकरी से मुक्त होकर वह अपने गाँव चले गये।

केशवराव के बड़े पुत्र का नाम था रामचन्द्र और रामचन्द्र के बड़े पुत्र का नाम था गंगाधर। जिस समय गंगाधर पूना में पढ़ रहे थे, उसी समय उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इससे उनके पिता के हृदय पर ऐसी गहरी चोट लगी कि वह घर-बार छोड़कर चित्रकूट चले गये। ऐसी स्थिति में परिवार के भरण-पोषण का भार गंगाधर के कंधों पर आ पड़ा और उनकी पढ़ाई छूट गयी। वह एक मराठी-पाठशाला में अध्यापक हो गये। उस समय उन्हें प्रति मास पाँच रुपये मिलते थे। वह बहुत परिश्रमी और अध्ययनशील थे। धीरे-धीरे उन्नति करके वह एक कुशल अध्यापक हो गये। लोकमान्य तिलक उन्हीं की पहली संतान थे। प्रथम संतान होने के नाते उनकी माता पार्वतीबाई ने उनका बड़े दुलार से पालन-पोषण किया। परदादा के नाम पर उनका नाम केशव रखा गया, परन्तु पहले लड़के का नाम न लेने के रिवाज के कारण घर के लोग उन्हें 'बाल' कह-कर पुकारने लगे। कालान्तर में उनका यही नाम पड़ गया और वह बाल गंगाधर तिलक के नाम से प्रसिद्ध हुए।

बाल गंगाधर थे तो दुबले-पतले, पर स्वभाव से बड़े हठीले थे। जिस बात पर वह अड़ जाते थे, उसे पूरा कराकर ही दम लेते थे। बुद्धि उनकी बड़ी प्रखर थी। पाठशाला में प्रवेश करने के पूर्व ही उन्होंने संस्कृत के बहुत से श्लोक कंठस्थ कर लिये थे। एक श्लोक कंठस्थ करने पर उनके पिता उन्हें एक पैसा देते थे। इस तरह बाल गंगाधर ने काफी पैसे जमाकर लिये थे। संस्कृत का किंचित अभ्यास करने के पश्चात् उन्होंने एक मराठी-पाठशाला में पढ़ना आरम्भ किया। इस पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करने के बाद वह पूना के एक स्कूल में भर्ती हुए। विद्यार्थी-जीवन में ही उनका विवाह हो गया। इसके कुछ दिनों बाद उनकी माता का और फिर उनके पिता का भी स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार एक साथ उन्हें कई कठिनाइयों ने आघेरा, परन्तु वह विचलित नहीं हुए। अपने संकट-काल में ही उन्होंने मैट्रिक पास किया।

मैट्रिक पास करने के बाद बाल गंगाधर पूना के डेक्कन कालेज में प्रविष्ट हुए। उनका शरीर दुबला-पतला था। इसलिए उनके सहपाठी प्रायः उनकी हँसी उड़ाया करते थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने सबसे पहले अपने स्वास्थ्य की चिन्ता की। एक वर्ष तक नियमित रूप से व्यायाम करने से उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया

और वह काफी तगड़े हो गये। इसके बाद उन्होंने अपनी पढ़ाई पर ध्यान दिया। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने आनर्स के साथ बी० ए० पास किया और फिर वकालत की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

पूना के डेक्कन कालेज में पढ़ते समय ही बाल गंगाधर के व्यक्तित्व का विकासारम्भ हुआ। इन्ही दिनों उन्हें देश-सेवा की धुन सवार हुई जो उनकी अवस्था और शिक्षा के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वकालत पास करने के बाद उन्होंने देश-सेवा को ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया। उस समय पूना में विद्यालय तो अनेक थे, पर राष्ट्रीय शिक्षा 'देनेवाला एक भी विद्यालय नही था। तिलक और विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने उस समय इसकी आवश्यकता महसूस की और पहली जनवरी, १८८० ई० को उन्होंने 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में यह स्कूल लोक-प्रिय हो गया और पाँच वर्ष के भीतर ही इसमें एक हजार विद्यार्थी हो गये। इस स्कूल ने विद्यार्थी-समाज में राष्ट्र-प्रेम का अच्छा प्रचार किया। इस से उत्साहित होकर तिलक और उनके साथियों ने जनवरी, १८८४ ई० में एक नये कालेज की स्थापना की। इसके लिए काफी धन एकत्र किया गया। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर, सर जेम्स फर्ग्यूसन, ने इस कालेज की इमारत का शिलान्यास किया और उन्हीं के नाम पर इस कालेज का नाम फर्ग्यूसन कालेज रखा गया। यह कालेज आज भी सारे देश का एक प्रसिद्ध कालेज है और इसमें अनेक देश-भक्तों ने शिक्षा प्राप्त की है।

राष्ट्रीय शिक्ष के प्रचार और प्रसार के साथ-साथ तिलक और उनके साथियों ने जन-जीवन में राष्ट्रीय भावना का उद्रेक करने के लिए दो समाचार-पत्रों को जन्म दिया। छपाई की मशीन खरीदी गयी, टाइप आया और जनवरी, सन् १८८१ ई० में दोनों समाचार-पत्र निकलने लगे। एक समाचार-पत्र मराठी में निकलता था। उसका नाम था 'केसरी'। दूसरा समाचार-पत्र अँग्रेजी में निकलता था। उसका नाम था 'मराठा'। इन दोनों समाचार-पत्रों के प्रकाशन में तिलक और उनके साथियों को लोहे के चने चबाने पड़े, पर उन्होंने अपना साहस नहीं छोड़ा। आगरकर 'केसरी' का और तिलक 'मराठा' का संपादन करते थे। दोनों की उग्र नीति थी। उन दिनों कोल्हापुर-राज्य के शासन में बड़ी दुर्व्यवस्था थी। 'केसरी' और 'मराठा' ने वहाँ के शासकों के कार्य की तीव्र आलोचना की। इस

आलोचना को पढ़कर कोल्हापुर के एजेंट और दीवान भड़क उठे। उन्होंने दोनों संपादकों पर मान-हानि का अभियोग लगाया। मुकदमा चला और न्यायालय ने दोनों संपादकों को चार-चार महीने का कारावास-दण्ड दिया। यह तिलक की प्रथम जेल-यात्रा थी। इसी जेल-यात्रा के साथ उनके राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। जेल से मुक्त होकर जब वह बाहर आये तब जनता ने उनका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया। इस से उनका नाम चारों ओर फैल गया।

लोकमान्य तिलक स्वभावतः क्रान्तिकारी थे। उनको क्रान्ति-भावना के दो रूप थे। राजनीति में उनकी क्रान्ति-भावना विदेशी शासन के उन्मूलन के पक्ष में थी। वह विदेशी शासन के कट्टर विरोधी थे और निर्भीकतापूर्वक अँग्रेजी-शासन की आलोचना करते थे। लेकिन समाज-सुधार के क्षेत्र में उनकी क्रान्ति-भावना विशेष उग्र नहीं थी। धर्म-शास्त्रों की मर्यादा के विरुद्ध वह कोई समाज-सुधार करने के पक्ष में नहीं थे। उनके मित्र गोपालकृष्ण आगरकर के विचार इस मामले में काफी उग्र थे। वह धर्म-शास्त्र की मर्यादा की उपेक्षा कर समाज-सुधार करना चाहते थे। इसी बात पर लोक मान्यतिलक से उनका विरोध हो गया और वह 'केसरी' से अलग हो गये। ऐसी स्थिति में लोक मान्यतिलक ने दोनों पत्रों का संपादन-भार अपने कंधों पर उठा लिया (१८९१ ई०) और सफलतापूर्वक उसका निर्वाह किया।

उन दिनों महाराष्ट्र में क्राफ़र्ड नाम का एक अँग्रेज-कलेक्टर था। वह बड़ा विलासी और अन्यायी था। उसके बँगले पर गोरों की बैठकें जमी रहती थीं। वह घूस भी लेता था। लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में उसके विरुद्ध कई लेख लिखे और उसके भ्रष्टाचरण की आलोचना कर सरकार से उसकी जाँच करवाने की माँग की। इस माँग के फलस्वरूप क्राफर्ड को अपनी कलेक्टरी से अलग होना पड़ा। तिलक की इस सफलता ने उन्हें बहुत लोक-प्रिय बना दिया। उनके अनुयायियों की संख्या तीव्र-गति से बढ़ने लगी और थोड़े ही समय में वह महाराष्ट्र के तेजस्वी देश-भक्त तरुणों की 'राष्ट्रीय-पक्ष' नामक संस्था का नेतृत्व करने लगे। बम्बई-सरकार ने उन्हें बम्बई-व्यवस्थापिका-सभा का सदस्य बनाया। अपने इस पद से उन्होंने अँग्रेजी शासन के जन-हित-विरोधी-कार्यों और योजनाओं की तीव्र आलोचना की।

लोकमान्य तिलक महाराष्ट्र के प्राण थे। महाराष्ट्र में देश-प्रेम की भावना जाग्रत करनेवाले वह पहले व्यक्ति थे। उनकी नस-नस में राष्ट्र-प्रेम समाया हुआ था और वह उससे संपूर्ण महाराष्ट्र को ओतप्रोत कर देना चाहते थे। अपनी इस अभिलाषा को रचनात्मक रूप देने के लिए उन्होंने दो उत्सवों का आयोजन किया : (१) गणेश-उत्सव और (२) शिवाजी-जयन्ती। महाराष्ट्र में गणेश-उत्सव एक धार्मिक पर्व के रूप में प्रत्येक घर में मनाया जाता था। तिलक ने इसे सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय रूप दिया और पहले-पहल यह उत्सव अपने नये रूप में १८६४ ई० में पूना में मनाया गया। इसके बाद यह महाराष्ट्र और उसके आस-पास के क्षेत्रों के जन-जीवन का प्रधान राष्ट्रीय उत्सव हो गया। इसी प्रकार रायगढ़ के दुर्ग में सर्वप्रथम १८९६ ई० में मराठा-केसरी छत्रपति शिवाजी की जयंती मनाई गयी और फिर प्रति वर्ष मनाई जाने लगी।

लोकमान्य महाराष्ट्र के बड़े उत्साही नेता थे। सन् १८९६ ई० के अकाल में उन्होंने महाराष्ट्र की बड़ी सेवा की। उन्होंने गाँव-गाँव में स्वयं-सेवकों को भेजकर जनता के कष्टों की जाँच की और उनकी ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट कर लगान की छूट आदि की माँग की। इसी बीच भयंकर प्लेग फैला। थोड़े ही दिनों में उसने ऐसा भीषण रूप धारण कर लिया कि लोग कुत्ते-बिल्लियों की मौत मरने लगे। दक्षिण भारत में यह बीमारी बिलकुल नई थी। तिलक ने इस बीमारी के अधिकारी विद्वानों से लेख लिखवाये और उन्हें उन्होंने 'केसरी' में प्रकाशित किया। सरकार ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया। पूना और उसके आस-पास के क्षेत्रों में बीमारी की रोक-थाम के लिए उसने रैण्ड नाम के एक विशेषज्ञ को नियुक्त किया। रैण्ड ने मिलिट्री के टामियों से इस कार्य में सहायता ली। टामियों ने रोगियों को खोजने के बहाने घरों में घुसकर स्त्रियों को अपमानित करना आरंभ कर दिया। इससे जनता में असंतोष फैला। तिलक ने अपने पत्रों में इसकी कड़ी आलोचना की। इस आलोचना के फलस्वरूप एक नया अस्पताल अवश्य खुल गया, लेकिन टामियों का अत्याचार कम नहीं हुआ। असंतोष बढ़ता ही गया और २७ जून, सन् १८९७ ई० की रात को दामोदर चाफेकर नाम के एक नौजवान ने रैण्ड साहब को अपनी गोली से ढंडा कर दिया।

रैण्ड साहब की हत्या से अँग्रेजी सरकार बौखला उठी। पूना में पुलिस का

जाल बिछ गया और उसके व्यय का लगभग डेढ़ लाख रुपया वहाँ की जनता पर मढ़ दिया गया। तिलक ने इसका घोर विरोध किया। अंग्रेजी सरकार पहले से ही अवसर की ताक में थी। उसने तिलक पर राजद्रोह का अभियोग लगा कर १४ सितम्बर, सन् १८९७ ई० को डेढ़ साल की कड़ी सजा दी। यह उनकी दूसरी जेल-यात्रा थी। अपनी इस जेल-यात्रा में उन्होंने वेद-काल के निर्णय से संबंधित एक गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखा और उसे लन्दन की प्राच्य-समिति में भेजा। उनकी इस रचना से प्रो० मैक्समूलर आदि बहुत प्रभावित हुए। उनके अनुरोध पर सरकार ने तिलक को छः मास पूर्व ही ६ सितम्बर, सन् १८९८ ई० को जेल से मुक्त कर दिया। इसके कुछ दिनों बाद उनके कुछ विरोधियों ने सरकार से मिलकर उन पर एक मुकदमा चलाया जिसे 'ताई महाराज का मुकदमा' कहते हैं। यह मुकदमा कई वर्षों तक चला। अन्त में वह विजयी हुए और उनके विरोधियों को मुँह की खानी पड़ी।

आरंभ में लोकमान्य तिलक का कार्य-क्षेत्र महाराष्ट्र था, परन्तु ज्यों-ज्यों उनका सेवा-कार्य बढ़ता गया त्यों-त्यों उनका कार्य-क्षेत्र भी बढ़ता गया। १८८९ ई० में उन्होंने गोपालकृष्ण गोखले के साथ काँग्रेस में प्रवेश किया। काँग्रेस के तत्कालीन आदर्शों के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी और वह काँग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में भाग लेते थे। उनकी नीति अत्यन्त उग्र थी। अँग्रेजी सरकार के अन्याय और अत्याचार पर वह एक दम उबल पड़ते थे। देश का अपमान वह एक क्षण के लिए भी सहन नहीं कर सकते थे। १६ अक्तूबर, १९०५ ई० को तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन (१८९९-१९०५ ई०) ने बंगाल का विभाजन कर दिया। इससे सारे देश में तहलका मच गया। भारतीयों ने दिन-भर अनशन किया और शोक प्रकट किया। जगह-जगह वन्दे-मातरम के गगन-भेदी नारे लगाये गये और स्पष्ट रूप से भारतीयों की एकता का प्रदर्शन किया गया। इस देश-व्यापी आन्दोलन में लोकमान्य तिलक ने खुलकर भाग लिया। उन्होंने अपने पत्र 'केसरी' में अँग्रेजी सरकार की विभाजन-नीति की निर्भीकतापूर्वक निन्दा की। इसके साथ ही उन्होंने सारे देश-वासियों को और विशेषतः बंगालियों को साहसपूर्वक अँग्रेजी सरकार के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए प्रोत्साहित किया। बंगाल में विपिनचन्द्र पाल ने और पंजाब में लाला लाजपतराय ने 'बंग-भंग' आन्दोलन को इतना उग्र

बना दिया कि सरकार काँप उठी। उन्हीं दिनों संपूर्ण भारत में 'बाल-पाल-लाल' की धूम मच गयी। बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय—तीनों काँग्रेस के उग्र नेता थे। तीनों ने सारे देश में बंग-भंग का तीव्र आन्दोलन चलाकर अँग्रेजों की शासन-नीति के प्रति जनता को सतर्क कर दिया।

सन् १९०५ ई० में वाराणसी में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में 'बंग-भंग' के संबंध में विधिवत् विरोध प्रदर्शित किया गया, परन्तु बंग-भंग-आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार-द्वारा जो दमनकारी उपाय काम में लाये जा रहे थे उनके संबंध में कॉंग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया वह स्पष्ट नहीं था। दरअसल उस समय काँग्रेस में सरकार की दमन-नीति का खुलकर विरोध करने का साहस नहीं था। यह साहस सन् १९०६ ई० में आ गया। सन् १९०६ ई० में कलकत्ता में कॉंग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति दादाभाई नौरोजी थे। दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' को कॉंग्रेस का लक्ष्य घोषित किया। इस घोषणा ने काँग्रेस में एक नई जान डाल दी। यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसके संबंध में दो मत हो ही नहीं सकते थे। लेकिन इस प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के उपायों के सम्बन्ध में सब का एक मत नहीं था। कुछ लोग सरकार से सहयोग के आधार पर स्वराज्य प्राप्त करने के हिमायती थे। 'बाल-पाल-लाल' का इस मत से घोर विरोध था। इस विरोध के कारण ही काँग्रेस दो दलो में विभाजित हो गया। एक दल 'नरम-दल' हो गया। इस दल के नेता दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय आदि थे। दूसरा दल 'गरम-दल' था। इस दल के नेता बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, अरविन्द घोष आदि थे। इस दल के समर्थकों का कहना था कि राजभक्ति का ढकोसला त्याग देना चाहिए। स्वराज्य चापलूसी के प्रस्ताव पास करने से नहीं मिलेगा। नरम-दल शान्तिपूर्ण याचना के पक्ष में था और अपनी कार्य-प्रणाली को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। कलकत्ता-अधिवेशन समाप्त होने के बाद पूरे वर्ष-भर इन दोनों दलों में कशमकश चलती रही। लोकमान्य तिलक के अनवरत प्रयत्न से बहिष्कार-आन्दोलन ने काफी जोर पकड़ा। इससे दक्षिण में उनका प्रभाव बढ़ गया। इसी बीच मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मंडल तत्कालीन वाइसराय लार्ड मिण्टो (१९०५-१० ई०) से

मिला और उसने पृथक-निर्वाचन की माँग की। उसकी यह माँग स्वीकृत हुई। इसी समय 'मुस्लिम लीग' भी स्थापित हुई।

सन् १९०७ ई० में सूरत में काँग्रेस हुई। इस काँग्रेस-अधिवेशन में नरम-दल और गरम-दल के बीच अत्यधिक मत-भेद उत्पन्न हो गया। काँग्रेस २७ दिसम्बर को २॥ बजे से आरंभ हुई। १६०० से अधिक प्रतिनिधि मौजूद थे और वातावरण में काफी तनाव था। स्वागताध्यक्ष के भाषण के बाद जब स्वागत-समिति के नियमानुसार नरम-दल के मनोनीति सभापति डा० रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया गया तब इतना गुलगपाड़ा मचा कि अधिवेशन की कार्यवाही अगले दिन के लिए स्थगित कर दी गयी। इस बीच निपटारे की पूरी चेष्टा की गयी, मगर कोई फल नहीं निकला। २८ दिसम्बर को फिर कॉंग्रेस की बैठक हुई। लोकमान्य तिलक ने बैठक होने के पूर्व ही मालवीयजी के पास एक चिट भेज दी थी जिसमें लिखा था —'जब सभापति के चुनाव के प्रस्ताव का समर्थन हो चुके तब मैं प्रतिनिधियों से कुछ कहना चाहता हूँ।' लेकिन अधिवेशन आरंभ होने पर लोकमान्य की इस चिट पर, याद दिलाने के बावजूद, ध्यान नहीं दिया गया। इस खुले अपमान से तिलक बौखला उठे और बोलने के लिए मंच की ओर बढ़े। मंच की ओर उनका बढ़ना था कि गुलगपाड़ा आरंभ हो गया। इतने में प्रतिनिधियों में से किसी ने एक जूता उठाकर फेंका जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को छूता हुआ सर फीरोजशाह मेहता को लगा। इस घटना से हाथापाई की नौबत आ गयी। कुर्सियाँ फेंकी गयीं और डंडे चलने लगे। इससे उस दिन भी कॉंग्रेस की बैठक न हो सकी। अन्त में नरम-दल वालों ने ऐसा 'कनवेंशन' बनाया जिससे गरम-दल के लोग काँग्रेस में आ ही न सकें। इस प्रकार अगले ६-७ वर्षों तक कॉंग्रेस के दोनों दलों में मत-भेद चलता रहा और समझौता न हो सका।

इसमें शक नहीं कि दलबन्दी के कारण सूरत-कॉंग्रेस सफल न हो सकी, पर उसने देश में एक छोर से दूसरे छोर तक तहलका मचा दिया। दक्षिण में बाल गंगाधर तिलक ने, बंगाल में विपिनचन्द्र पाल ने और पंजाब में लाला लाजपतराय ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार के लिए प्राण-पण से चेष्टा की। इन नेताओं ने केवल अपने क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सारे देश में घूम-घूमकर अपने विचारों का प्रचार किया। इससे राष्ट्रीय

शिक्षा, स्वदेशी-आन्दोलन और बहिष्कार-आन्दोलन में तीव्रता आ गयी। सरकार ने दमन-नीति से काम लिया। रक्तपात की धमकी दी। लेकिन जनता ने शान्ति-पूर्वक सरकार के अत्याचारों को सहन किया। प्रत्येक प्रान्त ने बङ्गाल के प्रश्न के साथ अपनी समस्याओं को जोड़कर आन्दोलन को और भी तीव्रतर कर दिया। पंजाब में लाला लाजपतराय और सरदार अजितसिंह निर्वासित किये गये। बङ्गाल के नौ नेता निर्वासित हुए। सन् १६०८ ई० में यह स्थिति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। अनेक समाचार-पत्रों के संपादकों पर मुकदमे चलाये गये और वे बन्दी हो गये। महाराष्ट्र में 'काल' के संपादक प्रो० परांजपे पकड़ लिये गये और उनपर मुकदमा चलाया गया। इस मुकदमे की पैरवी करने के लिए तिलक बम्बई गये। बम्बई में १३ जुलाई को वह भी पकड़ लिए गये। पाँच दिनों की सुनवाई के बाद वह छः वर्ष के लिए निर्वासित किये गये। सन् १८६७ में छुटी हुई छः मास की कैद भी इसके साथ जोड़ दी गयी। छः मास तक साबरमती के जेल में बन्द रखने के बाद सरकार ने उन्हें माण्डले (बर्मा) के जेल में भेज दिया।

लोकमान्य तिलक की लम्बी सजा का समाचार सारे देश में बिजली की तरह फैल गया। छोटे-बड़े सभी नगरों के बाजार बन्द हो गये। छात्रों और कारखानों के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। सभाएँ हुईं और जुलूस निकाले गये। सभाओं और जुलूसों पर लाठियों और गोलियों की वर्षा हुई। कई लोग मारे गये और बहुत-से घायल हुए। इस प्रकार समूचे देश में लोकमान्य तिलक का यश फैल गया। लोकमान्य तिलक ने अपनी इस तीसरी जेल-यात्रा में 'गीता-रहस्य' की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने गणित और ज्योतिष के साथ-साथ पाली, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं का भी अध्ययन किया। इसी बीच पूना में उनकी पत्नी का स्वर्गवास (१६१२ ई०) हो गया। इस समाचार से उन्हें बहुत दुःख हुआ। अपनी सजा काटकर १६ जून, सन् १६१४ ई० को वह स्वदेश लौटे। इस अवसर पर जनता ने उनका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया।

लोकमान्य तिलक के आते ही देश के राजनीतिक क्षेत्र में एक नया उत्साह भर गया। जुलाई, सन् १६१४ ई० में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ गया और नवम्बर में जर्मनी फ्रांस का दरवाजा खटखटाने लगा। यह देखकर भारतीय सेना फ्लांडर्स रण-क्षेत्र में भेज दी गयी। वहाँ भारतीय सेना ने मित्र-राष्ट्रों को एक भारी विपत्ति

से बचा दिया। इससे भारतीय नेताओं को विशेष बल मिला। उस समय काँग्रेस में दो दल थे। नरम-दल और राष्ट्रीय दल। नरम-दल के नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे और राष्ट्रीयदल का नेतृत्व श्रीमती एनीबेसेण्ट कर रही थीं। उन्होंने लार्ड पेण्टलैण्ड के समय में 'होमरूल' आन्दोलन का प्रश्न उठाया और काँग्रेस के दोनों दलों में समझौता कराने की कोशिश की, लेकिन वह सफल न हो सकीं। ऐसी ही स्थिति में लोकमान्य तिलक ने जेल से छूटकर भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। उन्होंने अपने कार्य-क्रम में तीन बातों को स्थान दिया: (१) काँग्रेस में मेल पैदा कराना, (२) राष्ट्रीय-दल का पुनः संगठन करना और (३) होमरूल-आन्दोलन को तीव्रतर करना। अपने प्रथम उद्देश्य में वह शीघ्र सफल न हो सके, लेकिन उन्होंने अपने राष्ट्रीय-दल का संगठन करने के लिए जीतोड़ प्रयत्न किया। सन् १९१५ ई० में काँग्रेस का अधिवेशन बम्बई में हुआ। इस अधिवेशन ने काँग्रेस के विधान में ऐसा संशोधन कर दिया जिसके द्वारा राष्ट्रीय-दल के लोग भी काँग्रेस के प्रतिनिधि चुने जा सकते थे। लोकमान्य तिलक ने इस संशोधन का हृदय से स्वागत किया। लेकिन इसके अनुसार काँग्रेस में प्रवेश पाने के लिये उन्हें पूरे वर्ष भर प्रतीक्षा करनी थी। अतः उन्होंने २३ अप्रैल, १९१६ ई० को अपनी 'होमरूल लीग' की स्थापना की। इसके छः महीने बाद पहली सितम्बर को श्रीमती एनीबेसेण्ट ने भी अपनी 'होमरूल लीग' खड़ी की। दोनों संस्थाओं में गड़बड़ न हो, इसलिए एनीबेसेण्ट ने सन् १९१७ ई० में अपनी लीग का नाम 'आल इण्डिया होमरूल लीग' रख दिया।

अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार लोकमान्य तिलक सन् १९१६ ई० की लखनऊ काँग्रेस में सम्मिलित हुए। इस काँग्रेस के सभापति श्री अम्बिकाप्रसाद मजूमदार थे। यह काँग्रेस अपने ढङ्ग की अद्वितीय थी। इसमें हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य हुआ, स्वराज्य की योजना पेश हुई और काँग्रेस के दोनों दलों में समझौता हो गया। इससे अगले वर्ष, सन् १९१७ ई० में, सारे देश में बड़ी तेजी के साथ एक राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो गयी। होमरूल की आवाज देश के सुदूर स्थानों तक फैल गयी और सर्वत्र होमरूल लीग की स्थापना हो गयी। इसकी शक्ति, श्रीमती बेसेण्ट के सन् १९१७ ई० के कलकत्ता-काँग्रेस के सभापति-पद से दिये गये भाषण से और भी बढ़ गयी। इस प्रकार सारे देश में 'होमरूल' का विचार दावानल

की भाँति फैल गया। अब इंगलैण्ड में 'होमरूल' के प्रचार की आवश्यकता थी। यह स्वर्ण अवसर भी हाथ आ गया।

लोकमान्य जिस समय माण्डले-जेल में थे उस समय भारत में उनके विरुद्ध प्रचार करने के लिए सर ह्वैलेण्टाइन शिरोल नामक एक लेखक ने अँग्रेजी में 'इण्डियन अनरेस्ट' (भारतीय अशान्ति) की रचना की थी। इस पुस्तक में तिलक को भारतीय अशान्ति का जनक बतलाकर उनपर अनेक दोषारोपण किये गये थे। तिलक इसे सहन न कर सके। उन्होंने इँगलैण्ड के हाईकोर्ट में शिरोल पर मान-हानि का मुकदमा चलाया और इसके लिए स्वयं ३० अक्टूबर, सन् १९१८ ई० को वह इंग्लैण्ड गये। मुकदमें के लिए इग्लैण्ड जाना एक बहाना-मात्र था। वह जानते थे कि मुकदमें में विपक्षी की ही विजय होगी। 'होम रूल' के प्रचार का काम उन्होंने अपने जिम्मे ले लिया था और वह इंग्लैण्ड जाकर वहाँ 'होमरूल' का प्रचार करना चाहते थे। इसी लिए वह इंग्लैण्ड गये। इग्लैण्ड में उन्होंने भारत की माँग का जोरदार शब्दों में प्रचार किया।

लोकमान्य तिलक इंग्लैण्ड में लगभग एक वर्ष तक 'होमरूल' का प्रचार करते रहे। इस बीच देश की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ बदल गयी थी। सरकारी दमन-चक्र के कारण संपूर्ण देश में असंतोष फैला हुआ था। जून, सन् १९१८ ई० में माण्टेगू- चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी थी और इसका चारों ओर विरोध हो रह था। इस विरोध को शान्त करने के लिए अँग्रेजी सरकार दमन के कठोर उपायों से काम ले रही थी। ११ नवम्बर, सन् १९१८ ई० को सुलह की घोषणा के साथ यूरोपीय युद्ध समाप्त हुआ और इसके साथ ही सन् १९१९ ई० के फरवरी मास में रौलट-बिल ने देश को अपना दर्शन दिया। इस बिल ने देश में एक ओर से दूसरे छोर तक आग लगा दी। गाँधीजी ने उपवास के साथ रौलट-बिल के विरुद्ध आन्दोलन का श्रीगणेश किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ। यह नया अध्याय था १३ अप्रैल, सन् १९१९ ई० को बैसाखी के दिन होनेवाला अमृतसर में जलियाँवाला हत्या-काण्ड। इस हत्याकाण्ड ने देश में ही नहीं, संपूर्ण विश्व में तहलका मचा दिया। ऐसी स्थिति में लोकमान्य तिलक २७ नवम्बर, सन् १९१९ ई० को स्वदेश लौट आये। संपूर्ण देश में उनका अभूतपूर्व स्वागत किया। इसी वर्ष उन्होंने अमृतसर

के काँग्रेस-अधिवेशन में भाग लिया। इसके बाद उन्होंने सिंध का दौरा किया। इस दौरे के बाद उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। २३ जुलाई, सन् १९२० ई० को उनकी ६४ वीं 'वर्ष-गाँठ' सारे देश में बड़ी धूमधाम से मनायी गयी। इसके बाद ही वह कफ-ज्वर से पीड़ित हो गये और ३१ जुलाई की रात्रि के १२ बजकर ४० मिनट पर बम्बई में वह चिर-निद्रा में लीन हो गये।

लोकमान्य तिलक अपने समय के सच्चे कर्मयोगी थे। वह हिमालय की भाँति अडिग और सागर की भाँति गंभीर थे। वह स्वाभिमानी, निर्भीक और राष्ट्र-धर्म के सच्चे उपासक थे। वह सब कुछ सह सकते थे, पर अपना और अपने देश का अपमान उनके लिए असह्य था। दासता के युग में एक वही ऐसे नेता थे जिन्होंने जेलों की लम्बी-लम्बी सजाएँ काटकर भी कभी पीछे कदम नहीं हटाया। एक सजा काटने के बाद वह दूने उत्साह से काम करते थे। ऐसा उत्साह उस समय किसी नेता में नहीं था। सन् १९०८ ई० में जब जज ने उनको सजा दी और उनके बारे में खरी खोटी बातें कहकर उनसे पूछा कि आपका कुछ कहना है तब उन्होंने उसका जो उत्तर दिया वह सदा याद रखने योग्य है। उन्होंने कहा—"जूरी के इस निर्णय के बावजूद मैं यह कहता हूँ कि मैं निरपराध हूँ। संसार में ऐसी बड़ी शक्तियाँ भी हैं जो सारे जगत का व्यवहार चलाती हैं और संभव है, ईश्वरीय इच्छा यही हो कि जो काय मुझे प्रिय है वह मेरे आजाद रहने की अपेक्षा मेरे कष्ट सहन से अधिक फूले-फले।" ऐसी ही ओजास्विता उन्होंने सन् १८९७ ई० में दिखाई थी जबकि उनपर राजद्रोहात्मक लेखों के लिए मुकदमा चल रहा था और उनसे सिर्फ यह कहा गया कि वह अदालत में कह दें कि वे लेख उनके लिखे नहीं हैं। परन्तु उन्होंने अपनी बचत के लिए झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने बड़ी शान्ति और अनासक्ति के साथ इन सजाओं को काटा और जेल में बैठे बड़े-बड़े भव्य-ग्रन्थों की रचना की। यदि उन्हें सजाएँ न भुगतनी पड़तीं तो 'आर्कटिक होम आफ दि वेदाज' और 'गीता-रहस्य' जैसी रचनाओं से हम वंचित रह जाते।

लोकमान्य तिलक बड़े दूरदर्शी नेता थे। अँग्रेजी-नीति के वह अच्छे जानकार थे। वह यह समझते थे कि बिना उग्र नीति धारण किये स्वराज्य नहीं मिल सकता। इसी बात में गोपालकृष्ण गोखले से उनका मत-भेद था। दोनों ने अपने जीवन में भारी त्याग किया था, लेकिन दोनों की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न थी।

गोखले दासता की ठिठुरन से बचने के लिए स्वतंत्रता की तपन चाहते थे, पर उनमें अग्नि प्रज्ज्वलित करने की सामर्थ्य नहीं थी। वह सामर्थ्य लोकमान्य की रग-रग में भरी हुई थी। सन् १९०५ के बंग-भंग-आन्दोलन को सन् १९११ ई० में जो सफलता मिली उसका श्रेय उनको भी प्राप्त था। गोखले की भांति 'जो मिलता जाय लेते जाओ और अधिक पाने के लिए लड़ते-झगड़ते रहो' में उनका विश्वास नहीं था। वह 'उलट-फेर' के नेता थे। अपनी इस नीति से उन्होंने भारत की सोती जनता को जगाकर गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलनों की सफलता के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। वह एक दम खरे थे। लगी-लिपटी और गोलमोल बात करने के वह आदी नहीं थे। अपने इस स्वभाव के कारण उन्हें विरोधों का सामना करना पड़ता था। लेकिन उन्होंने उन विरोधों की कभी चिन्ता नहीं की। वह झुकना तो जानते ही नहीं थे। बड़े-बड़े विरोधों के बीच भी वह हिमालय की भांति अटल रहते थे और यह इसलिए कि उन्हें अपनी नीति में विश्वास था। ऐसा ओजस्वी था उनका व्यक्तित्व जिसके सहसा उठ जाने से भारत के हृदय पर जो चोट लगी वह विस्मृत नहीं की जा सकती।

महर्षि कर्वे

हमारे देश के आधुनिक इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी ऐसे नर-रत्नों के लिए प्रसिद्ध है जिन्होंने अपने तप, त्याग और सेवा से हमारी सुषुप्त चेतनाओं को जाग्रत

कर हमें नया आलोक प्रदान किया है। उन्हीं नर-रत्नों की परम्परा में महर्षि कर्वे का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। महर्षि कर्वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके जीवन का एक ही आदर्श था और उसी आदर्श की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन होम कर दिया। उनके आत्मचरित की भूमिका लिखते हुए एक प्रसिद्ध अँग्रेज शिक्षा-शास्त्री ने उनकी तुलना अर्जुन से की थी। शस्त्र-प्रतियोगिता में जब गुरु द्रोणाचार्य ने अर्जुन को बता दिया कि उन्हें पेड़ पर बैठी चिड़िया की आँख में तीर मारना है तब उसी क्षण से उनकी दृष्टि में चिड़िया की आँख के सिवा शेष सब दृश्यों का अस्तित्व तिरोभाव हो गया। इसी प्रकार महर्षि कर्वे को जब अपनी सेवा के प्रारम्भिक जीवन में नारी-जाति को शिक्षित बनाने एवं उसकी सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रेरणा प्राप्त हुई तब उन्होंने अपनी सारी शक्ति उसी पर केंद्रित कर दी और अन्ततः अपने उद्देश्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की।

महर्षि कर्वे का वास्तविक नाम घोंडो केशव कर्वे था। लोग उन्हें अण्णा साहब कर्वे भी कहते थे। १८ अप्रैल, सन् १८५८ ई० को महाराष्ट्र के अन्तर्गत रत्नागिरि जिले के दपोली ताल्लुका में स्थित मुरुड नामक गाँव के एक चित्पावन-ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था। पेशवाओं के अभ्युदय-काल में उनके पूर्वज अच्छे जमीदार थे और उन्होंने मुरुड में कई मंदिरों और सरोवरों का निर्माण कराया था। वे पेशवा और उनके सरदारों के महाजन थे। परन्तु सन् १८१८

ई० में पेशवायी का अन्त होते ही महाजनी निकल गयी और सारा रुपया डूब गया। इससे उनके परिवार में संपन्नता के स्थान पर दरिद्रता ने प्रवेश किया और उनके दादा को गायें चराकर अपने परिवार का पालन-पोषण करना पड़ा। इसी कारण अण्णा साहब के पिता श्री केशव बापूजी कर्वे की शिक्षा नहीं हो सकी। श्री केशव बापूजी कर्वे जब केवल ग्यारह वर्ष के अबोध बालक थे तभी उनके पिता का स्वर्ग-वास हो गया। ऐसी स्थिति में उनके बड़े भाई ने बची-खुची जागीर भी उड़ा-पुड़ा डाली। इससे परिवार पर और भी अधिक तबाही आ गयी। रोटी-कपड़े के लाले पड़ गये। कुछ होश सँभालने पर श्री केशव बापूजी कर्वे ने अपना पेट पालने के लिए एक जागीरदार के यहाँ २५ रु० मासिक वेतन पर नौकरी कर ली। महर्षि कर्वे के जन्म के समय बड़ी कठिनाई से दोनों समय उनके परिवार में चूल्हा जल पाता था।

श्री केशव बापूजी कर्वे थे तो अत्यन्त दरिद्र, परन्तु वह अपने विचारों में दरिद्र नहीं थे। उनका परिवार मुरुड का एक सम्मानित परिवार था और उसकी खु-बू उनके शरीर और रक्त में भरी हुई थी। अशिक्षित होते हुए भी वह अपने पुत्र धोंड़ो को ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देने का स्वप्न देखा करते थे। उस समय मुरुड में गुरु सोमण ने एक स्वदेशी पाठशाला खोल ली थी। इस पाठशाला में कक्षा ६ तक की पढ़ाई होती थी। इसी पाठशाला में धोंड़ो ने पढ़ना आरम्भ किया। पढ़ने-लिखने में धोंड़ो तेज थे, लेकिन उनके स्वभाव में संकोच अधिक था। वह खुलकर अपनी बात कहने से हिचकते रहते थे। इससे उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लेकिन इस दोष के साथ उनमें एक गुण भी था। वह गुण था, मन की दृढ़ता। अपने इस गुण के कारण उन्होंने अपने संकोची स्वभाव पर विजय प्राप्त कर ली थी। बचपन से ही वह इस गुण के अभ्यासी हो गये थे और एक इसी गुण ने उन्हें ऊँचा उठाया था। गुरु सोमण उनके इस गुण पर मुग्ध रहते थे। वह प्रति दिन उनसे मराठी-समाचार-पत्र पढ़वाते थे। धोंडो उनकी आज्ञा से शाम को गाँव के एक मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर बैठ जाते थे और वहीं से मराठी समाचार-पत्र पढ़कर सब को सुनाया करते थे। इससे धोंडो ने शीघ्र ही मराठी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

उन दिनों छठवीं कक्षा की वार्षिक परीक्षा सतारा में होती थी। छठवीं कक्षा

की परीक्षा देने के लिए घोंडो अपने चार सहपाठियों के साथ पैदल ही सतारा गये। चार दिन की लम्बी यात्रा के बाद वह सतारा पहुँचे। ठिगना कद था उनका। परीक्षा में बैठने के लिए सत्तरह वर्ष का होना अनिवार्य था। ठिगना कद होने से अधिकारियों की दृष्टि में वह सत्तरह वर्ष के नहीं जँचे। इसलिए उन्हें परीक्षा में बैठने की आज्ञा नहीं दी गयी। उचित अवस्था का प्रमाण-पत्र होते हुए भी अपने संकोची स्वभाव के कारण वह एक शब्द भी विरोध में न कह सके और चुपचाप मुरुड लौट आये। मुरुड आकर उन्होंने अपना समय नष्ट नहीं किया। जो लोग उनसे अधिक पढ़े-लिखे थे उनसे वह पढ़ते थे और जो लोग कम पढ़े-लिखे अथवा अशिक्षित थे उन्हें वह पढ़ाते थे। ट्रेनिंग-कालेज से छुट्टी पर आये हुए शिक्षकों से वह संस्कृत पढ़ा करते थे। इस प्रकार कुछ ही समय में उन्होंने संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन की योग्यता प्राप्त कर ली और दूसरे वर्ष, सन् १८७५ ई० में, उन्होंने कोल्हापुर से वर्नाक्यूलर फाइनल की परीक्षा पास की।

मुरुड में अंग्रेजी-शिक्षा का कोई विद्यालय नहीं था। पिता की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी और घर में दरिद्रता अट्टहास कर रही थी। ऐसी स्थिति में मुरुड से बाहर जाकर पढ़ने का कोई सहारा नहीं था। उस समय मुरुड के एक सज्जन ने अपने पुत्र को अँग्रेजी पढ़ाने के लिए एक अध्यापक रख लिया था। इसी अध्यापक से घोंडो ने अँग्रेजी में कक्षा तीन तक की योग्यता प्राप्त की। इसके बाद धीरे-धीरे स्वाध्याय से उन्होंने अपनी योग्यता बढ़ा ली और आगे पढ़ने के लिए वह रत्नागिरि चले गये। कुछ दिनों तक उन्होंने वहाँ के एक हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, परन्तु वहाँ का जलवायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। इसलिए वह मुरुड लौट आये और आगे पढ़ने के लिए बम्बई चले गये। घर से उन्हें तीन-चार रुपया मासिक सहायता मिलती थी। लगन के पक्के घोंडो उसी से अपना काम चलाते थे। निजी तौर पर विद्यार्थियों को पढ़ाकर भी वह कुछ कमा लेते थे। वह जो कुछ कमाते थे उसमें से एक पैसा प्रति रुपया वह बचा लेते थे। इस तरह जब उनके पास कुछ धन जमा हो जाता था तब वह उसे मुरुड में स्त्री-शिक्षा के प्रचारार्थ भेज देते थे। ऐसी थी स्त्री-शिक्षा के प्रसार के प्रति विद्यार्थी-जीवन में ही उनकी लगन! इस लगन की परीक्षा भी कम नहीं हुई।

बम्बई आने के कुछ दिनों बाद ही घोंडो के पिता का स्वर्गवास हो गया,

लेकिन उन्होंने न तो अपनी पढ़ाई समाप्त की और न स्त्री-शिक्षा के लिए पैसा भेजना ही बन्द किया। वह दिन-रात कठिन परिश्रम करते थे। उन दिनों महाराष्ट्र में भिक्षा माँगकर अथवा दूसरों से सहायता लेकर पढ़ना बुरा नहीं समझा जाता था। लेकिन धोंडो ने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। तरह-तरह की विपत्तियों का सामना कर १८८१ ई० में उन्होंने बंबई के एक स्कूल से मैट्रीकुलेशन पास किया और फिर विलसन कालेज में अपना नाम लिखाया। इस कालेज में उन्होंने एक वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद प्रिंसिपल वर्ड्सवर्थ के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह एल्फिस्टन कालेज में पढ़ने लगे। इस कालेज में वह निःशुल्क पढ़ते थे। प्रति दिन वह तीन-चार घण्टे ट्यूशन करते थे। इससे उनकी पढ़ाई में बड़ी बाधा पड़ती थी। परन्तु इसकी चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की। दो-दो बजे रात तक जगकर वह अपनी पढ़ाई पूरी कर लेते थे। इस प्रकार १८८४ ई० में उन्होंने एल्फिस्टन कालेज से बी० ए० पास किया। उस समय तक उनका विवाह हो चुका था और उनकी पत्नी भी उनके साथ रहती थीं। ऐसी स्थिति में उनका खर्च बहुत बढ़ गया था। अपनी पढ़ाई के सम्बन्ध में अपने मामा से उन्होंने जो ऋण लिया था उसे भी उन्हें थोड़ा-थोड़ा करके चुकाना पड़ता था। मुरुड में स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए भी वह कुछ-न-कुछ भेजते रहते थे। इसलिए जीवन की ऐसी झंझटों में पड़कर उन्होंने आगे पढ़ने का विचार त्याग दिया।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् धोंडो केशव कर्वे ने अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। गणित उनका प्रिय विषय था। इस विषय के अध्यापकों की उन दिनों बड़ी माँग थी। इसलिए थोड़े ही दिनों में बम्बई की कई पाठशालाओं के साथ उनका सम्पर्क हो गया। इससे उन्हें १७५ रु० मासिक की आमदनी हो जाती थी, लेकिन उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ता था। वह प्रति दिन ५ बजे प्रातःकाल घर से निकल जाते थे और ८-९ बजे रात तक लौटते थे। अधिकांश मार्ग उन्हें पैदल ही तय करना पड़ता था। उन्हें न तो खाने की चिन्ता रहती थी और न विश्राम की। उन्हें अपने ही भरण-पोषण की फिक्र नहीं थी। १५ वर्ष की अवस्था में, जब वह सोमण गुरु की पाठशाला के एक छात्र थे, उनका विवाह हो गया था। उनकी पत्नी राधाबाई मुरुड गाँव की ही थीं। राधाबाई की गोद

में एक बालक भी था। मुरुड के कई निर्धन विद्यार्थी भी कर्वेजी के साथ रहते थे और उनके भरण-पोषण का भार भी उन्हें उठाना पड़ता था। मुरुड में एक कन्या-पाठशाला थी। उसकी भी सहायता उन्हें करनी पड़ती थी। मुरुड में उनका जो परिवार था उसकी भी सहायता वह करते थे। एक साथ इतने सहायता-कार्य और आमदनी केवल १७५ रु०! न जाने कैसे वह इस धन में से कुछ बचा भी लेते थे! अपने पुत्र के उपनयन-संस्कार के अवसर पर उन्होंने दो सौ रुपये सेवा-कार्य के लिए दिये थे।

बम्बई में रहते हुए कर्वेजी ने केवल पढ़ाने-लिखाने और विद्यार्थियों को सहायता देने का ही कार्य नहीं किया, बल्कि उन्होंने अपने गाँव की उन्नति पर भी ध्यान दिया। मुरुड की उन्नति के लिए उन्होंने एक स्थायी कोष का आयोजन किया। उस समय मुरुड के बहुत से लोग बम्बई में रहते थे। कर्वेजी ने उन लोगों के साथ संपर्क स्थापित किया और उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त कर मुरुड में सार्वजनिक सेवा का कार्य आरंभ किया। नई-नई सड़कों का निर्माण हुआ, जीर्ण-शीर्ण मंदिरों की मरम्मत की गयी, बालिकाओं की शिक्षा के लिए एक पाठशाला खोली गयी और एक स्नेह-वर्धक मंडली की स्थापना की गयी। इन लोकोपयोगी कार्यों से कर्वेजी का नाम चारों ओर फैल गया और लोग उन्हें बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार वह अपने सेवा-कार्य में लगे हुए ही थे कि उनकी सुशीला पत्नी का स्वर्गवास (सन् १८८९ ई०) हो गया। इस आकस्मिक दुर्घटना से उनके हृदय पर बड़ी ठेस लगी, पर उन्होंने शान्त चित्त से इसे सहन किया और अपनी पत्नी की पुण्य स्मृति में उन्होंने पाँच सौ रुपये स्त्री-शिक्षा के लिए दान किया।

कर्वेजी अपने विचारों में बड़े उदार थे। दूसरों का दुःख देखकर उनका हृदय शीघ्र ही पसीज जाता था। पर-दुःख-कातरता उनमें इतनी अधिक थी कि वह उस से मुक्त होने के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने में जरा भी नहीं हिचकते थे। इसके साथ ही उनकी धार्मिक भावना भी अत्यन्त प्रबल थी। वह नियमपूर्वक नृसिंहवाड़ी के दत्त-मंदिर में दर्शन के लिए जाया करते थे। एक दिन जब वह उस मंदिर में दर्शन करने के लिए गये तब वहाँ वह एक विधवा की दुर्दशा देखकर अत्यन्त विह्वल हो गये। वह विधवा अत्यन्त दीन और उपेक्षित थी। जहाँ वह रहती थी वहाँ एक कामी पुरुष ने बलात्कार कर उसे भ्रष्ट कर दिया था और गर्भ रहने पर

उसे ही दोषी ठहराया था। उसकी कारुण्यपूर्ण मुद्रा उनके हृदय पर ऐसी अंकित हो गयी कि उन्होंने उसी क्षण विधवाओं के उद्धार का व्रत लिया। उन्होंने यह भी संकल्प किया कि यदि उन्हें पुनर्विवाह की आवश्यकता महसूस हुई तो वह विधवा से ही विवाह करेंगे। उनका यह संकल्प कट्टरपंथियों के उस युग में एक क्रान्तिकारी विचार था। इस विचार से उत्पन्न होनेवाले परिणामों से भी वह परिचित थे, परन्तु फिर भी अपने संकल्प से वह नहीं डिगे।

पत्नी के निधन के पश्चात् कर्वेजी अधिक दिनों तक बम्बई में नहीं रहे। सन् १८९१ ई० के अगस्त मास में उन्हें श्री गोपालकृष्ण गोखले का एक पत्र मिला। श्री गोखले बम्बई के ऐलिफिस्टन कालेज में उनके सहपाठी रह चुके थे। वह कर्वेजी की योग्यता से भलीभाँति परिचित थे। उस समय उन्हें फर्ग्यूसन कालेज, पूना के लिए एक गणित-अध्यापक की आवश्यकता थी। फर्ग्यूसन कालेज सन् १८८५ ई० में स्थापित हुआ था और उसे बम्बई-विश्वविद्यालय ने बी० ए० की कक्षाएँ चलाने की आज्ञा दे दी थी। उस समय लोकमान्य तिलक गणित की शिक्षा देते थे। सन् १८९० ई० में उन्होंने अपने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया। उनके त्याग-पत्र देने पर कुछ समय तक श्री गोखले स्वयं गणित की शिक्षा देते रहे। परन्तु समयाभाव के कारण वह यह अतिरिक्त कार्य-भार संभालने में असमर्थ हो गये। ऐसी स्थिति में कर्वेजी से प्रार्थना की गयी। कर्वेजी ने श्री गोखले की प्रार्थना स्वीकार करली और वह १५ नवम्बर, सन् १८९१ ई० को बम्बई से पूना चले गये।

बम्बई में कर्वेजी की आय लगभग २०० रु० मासिक थी। पूना में उन्हें केवल १०० रु० मासिक मिलते थे। लेकिन उन्हें पूना में बम्बई की अपेक्षा अधिक संतोष था। पूना में उनका जीवन दौड़-धूप का जीवन नहीं था और वह वहाँ सुनिश्चित रूप से अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते थे। पूना आने के चार महीने बाद ही अप्रैल सन् १८९२ में वह 'डक्केन एडूकेशन सुसाइटी' के आजीवन सदस्य हो गये। इस संस्था की भी उन्होंने बड़ी सेवा की। इन्हीं दिनों उनसे एक कुमारी कन्या से विवाह करने के लिए कहा गया। उस समय उनकी अवस्था पैंतीस वर्ष की थी। उनकी माता जीवित थीं। वही कुमारी कन्या से विवाह करने का आग्रह कर रही थीं। कर्वेजी ने उनके पास अपने स्पष्ट विचार लिखकर भेज दिये। उनके भाई और उनकी माताजी ने उनके विचारों से सहमत होकर उन्हें विधवा-विवाह

करने की आज्ञा दे दी। अतः कर्वेजी ने अपने मित्र नरहर पंत की बाल-विधवा बहन आनन्दीबाई के साथ ११ मार्च, सन् १८९३ ई० को विवाह किया। आनन्दीबाई पंडिता रमाबाई रानडे (सन् १८६२-१९२४ ई०) के साथ पूना के शारदा-सदन में पढ़ती थीं। पंडिता रमाबाई रानडे ने अपने घर पर ही विवाह-कार्य संपन्न कराया जिसमें पूना के सभी समाज-सुधारकों ने भाग लिया। परन्तु इस विवाह से पूना और महाराष्ट्र के ब्राह्मण-समाज में एक तूफान उठ खड़ा हुआ। यह वह जमाना था जब समाज-सुधार की बात करना तो दूर, सार्वजनिक समारोहों में चाय पीना भी विधर्मी होने के बराबर समझा जाता था। ऐसे कट्टरपंथी युग में कर्वेजी ने विधवा-विवाह कर हिन्दू-समाज को एक बड़ी चुनौती दी। समाज-सुधारकों ने तो उनके साहस की बड़ी प्रशंसा की, लेकिन कट्टरपंथियों ने ब्राह्मण-समाज से उन्हें बहिष्कृत कर उनकी नींद हराम कर दी। बहिष्कार की प्रचण्डता और गुरुता इतनी अधिक बढ़ गयी कि मुरुड की जनता, जो उन पर जान देती थी, उनके जान की गाहक हो गयी। उसने उनके मुरुड आने पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। इन प्रतिबन्धों के कारण कर्वेजी कई वर्ष तक अपने भाई-बहनों और माता से भेंट नहीं कर सके। उनके मुरुड न जाने से वहाँ का सेवा-कार्य भी बन्द हो गया। लगभग दस वर्ष पश्चात् जब मुरुड निवासियों का क्रोध कुछ शान्त हुआ तब कर्वेजी अपने गाँव जाने लगे। उस समय भी वह मुरुड जाकर गाँव के बाहर एक टूटे-फूटे घर में अलग रहते थे और चोरी से आधी रात होने पर वह अपनी माता-बहन से भेंट कर पाते थे। जीवन की ऐसी कंटकाकीर्ण परिस्थितियों में पड़कर भी उन्होंने धैर्य से काम लिया और अपने उद्देश्य पर डटे रहे।

कर्वेजी के स्वभाव में एक विशेषता थी और वह यह कि जिस बात को वह उचित समझते थे उस पर वह विघ्न-बाधाओं के बावजूद भी जमे रहते थे। उन्होंने विधवा-विवाह काम-वासना की तृप्ति अथवा पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों को दूर करने के लिए नहीं किया था। उन्हें पुनर्विवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने विधवा-विवाह विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने के विचार से किया था। उस समय के सुधारक विधवा-विवाह की चर्चा तो करते थे, लेकिन समाज के भय से कोई विधवा-विवाह करने का साहस नहीं करता था। कर्वेजी ने अपने व्यक्तिगत् साहस से इस भय का अन्त कर दिया और अपने आदर्श से उन्होंने

दूसरों को भी प्रेरणा दी। ऐसी स्थिति में उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि समाज से बाहिष्कृत परिवारों और उनके बच्चों की रक्षा कैसे की जाय ? इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने ऐसे सम्पन्न व्यक्तियों की खोज की जिन्होंने विधवा-विवाह किया था। इन व्यक्तियों से संपर्क स्थापित कर उन्होंने विधवाओं के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध किया और विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए सन् १८९३ ई० में उन्होंने एक 'विधवा-विवाहोत्तेजक मंडली' की स्थापना की। इसके साथ ही विधवा-विवाह कराने के लिए उन्होंने कई पंडितों को तैयार किया। जनता में विधवा-विवाह का प्रचार करने के लिए उन्होंने कई स्थानों की यात्रा भी की और भाषण देकर लोगों को विधवा-विवाह करने-कराने के लिए प्रोत्साहित किया।

अपनी इन यात्राओं में कर्वेजी ने यह अनुभव किया कि जबतक स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार न होगा तबतक विधवा-विवाह में पूरी सफलता मिलना असंभव है। अपने इस अनुभव को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने सन् १८९६ ई० में 'विधवा-विवाहोत्तेजक मंडली' के अन्तर्गत एक 'विधवा-आश्रम' खोलने का संकल्प किया। अपने इस संकल्प को उन्होंने श्री आगरकर-द्वारा 'सुधारक' नामक पत्र में प्रकाशित कराया। उनके इस संकल्प की सभी समाज-सुधारकों ने प्रशंसा की। अतः १८ जून, सन् १८९६ ई० को पूना में एक 'विधवा-समाज' की स्थापना की गयी। इस समाज की स्थापना में कर्वेजी की पत्नी ने विशेष सहयोग दिया। सन् १८९८ ई० में कर्वेजी ने इस संस्था के लिए दस हजार रुपया एकत्र किया। इससे उन्हें अपने उद्देश्य के सफल होने की आशा हो गयी और फिर सन् १८९९ ई० में उन्होंने 'विधवा-आश्रम' की स्थापना की। सन् १९०० ई० में पूना में प्लेग फैलने पर यह संस्था पूना से ४ मील दूर स्थित हिंगणे नामक गाँव में स्थानांतरित कर दी गयी। आरंभ में ५०० रु० लगाकर एक भवन बनाया गया। इसमें केवल दो ही विधवाएँ थीं। पर धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती गयी और कालान्तर में इस संस्था ने एक महान संस्था का रूप धारण कर लिया।

हिंगणे में विधवा-आश्रम की सफलता से प्रभावित होकर स्त्री-शिक्षा-प्रेमी जनता ने कर्वेजी से बालिकाओं के लिए भी एक विद्यालय खोलने की प्रार्थना की। कुछ लोग तो अपनी पुत्रियों को 'विधवा-आश्रम' में ही भेजने के लिए तैयार हो

गये। स्त्री-शिक्षा के प्रति जनता की ऐसी उत्सुकता से कर्वेजी को बहुत प्रोत्साहन मिला। उन्होंने सन् १९०७ ई० में कन्याओं की शिक्षा के लिए एक अलग विद्यालय खोलने का निश्चय किया और उसका आरम्भ उन्होंने अपने पास से एक हजार रुपया देकर किया। परन्तु इतने से तो काम चल नहीं सकता था! यह काम काफी खर्चे का था। हिंगणे में एक 'विधवा-आश्रम' चल ही रहा था। उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए भी पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने ४ नवम्बर, सन् १९०८ ई० को एक ऐसी संस्था को जन्म दिया जिसे 'निष्काम-कर्ममठ' कहते हैं। इस संस्था के सदस्यों ने निस्स्वार्थ-सेवा का व्रत लिया और घूम-घूम कर 'विधवा-आश्रम' तथा 'महिला-विद्यालय' के लिए धन एकत्र किया। यह कार्य चल ही रहा था कि कर्वेजी ने 'विधवा-आश्रम' के निकट महिला-विद्यालय के लिये भवन बनवाना आरंभ कर दिया। धीरे-धीरे भवन तैयार हो गया और उसमें पढ़ाई होने लगी।

सन् १९१४ ई० में कर्वेजी ने फर्ग्यूसन कालेज से अवकाश ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने अपना सारा समय 'विधवा-आश्रम' और विद्यालय की सेवा में लगा दिया। सन् १९१४ ई० में विद्यालय में केवल ९० छात्राएँ थीं। धीरे-धीरे उसमें छात्राओं की संख्या बढ़ती गयी और वह एक हाईस्कूल से कालेज और कालेज से एक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। सन् १९१५ ई० में काँग्रेस के बम्बई-अधिवेसन के अवसर पर जब उन्होंने बम्बई में होनेवाली राष्ट्रीय समाज-परिषद के सामने अध्यक्ष के पद से इस विद्यालय की योजना प्रस्तुत की थी तब लोगों को उनकी बातों पर संदेह हुआ था, लेकिन कर्वेजी को अपनी योजना में विश्वास था। उनकी योजनाएँ भी अनोखी होती थीं। वह जानते थे कि बहुत-सी कन्याएँ धनाभाव के कारण पढ़ नहीं पातीं। ऐसी स्थिति में उन्होंने उनके अभिभावकों के सामने दो शर्तें रखीं। पहली शर्त तो यह थी कि उनका विवाह २० वर्ष की अवस्था होने पर किया जाय और दूसरी शर्त थी कि वे इस अवधि के भीतर शिक्षित होकर शिक्षा-व्यय लौटा दें। ये दोनों शर्तें कठिन थीं, पर लोगों में अपनी कन्याओं को शिक्षा देने की प्यास इतनी अधिक थी कि वे राजी हो गये। इस प्रकार ज्यों-ज्यों महिला-विद्यालय का कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे आर्थिक सहायता भी मिलती गयी और उसमें छात्राओं की संख्या भी बढ़ती गयी। इस प्रकार उसकी बढ़ती हुई

लोक-प्रियता से प्रभावित होकर तत्कालीन सरकार ने उसे मान्यता प्रदान की। अप्रैल, सन् १९१६ ई० में बम्बई-विश्वविद्यालय की सीनेट का संगठन हुआ जिसने हिंगणे के महाविद्यालय को एक महिला-विश्वविद्यालय का रूप दे दिया। इस सीनेट के कर्वेजी भी एक सदस्य थे। सन् १९१९ ई० में सर दामोदर ठाकरसे ने उसे १५ लाख रुपये का दान देकर उसकी अनेक आर्थिक कठिनाइयों को दूर कर दिया और उसका नाम 'नाथीबाई दामोदर ठाकरसे भारतीय महिला-विश्वविद्यालय' हो गया।

इस महिला-विश्वविद्यालय के धनाभाव को दूर करने तथा स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में नई-नई जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से कर्वेजी ने विदेश की भी यात्राएँ कीं। सन् १९२८ ई० में वह योरप, अमरीका और जापान गये। सन् १९३० में उन्होंने दक्षिण-अफ्रीका की यात्रा की। इन यात्राओं से उन्हें स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक नई बातें ज्ञात हुईं और उन्होंने उनको अपनी शिक्षा-योजना में स्थान दिया। सन् १९३६ ई० में उन्होंने 'महाराष्ट्र ग्राम-शिक्षण मंडल' की स्थापना की। इसके लिए उन्होंने घर-घर घूमकर धन एकत्र किया। इस मंडल की ओर से ४० पाठशालाएँ खोली गयीं और इनके द्वारा ग्रामों में शिक्षा का प्रचार किया गया। लगभग १३ वर्ष तक इन पाठशालाओं को चलाने का सारा भार 'महाराष्ट्र-ग्राम शिक्षण-मंडल' को वहन करना पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् १९४९ ई० में बम्बई राज्य की राष्ट्रीय सरकार ने उन्हें चलाने का दायित्त्व अपने ऊपर ले लिया। कर्वेजी का ध्यान केवल शिक्षा-प्रचार की ओर ही नहीं गया, समाज से छुआ-छूत और ऊँच-नीच के भेद-भावों को दूर करने के लिए भी उन्होंने सन् १९४४ ई० में 'समता-संघ' की स्थापना की।

इस समय कर्वेजी हमारे बीच नहीं हैं। ९ नवम्बर सन् १९६२ ई० को प्रात: काल वह इस असार संसार से विदा हो गये। लेकिन उनकी यादगार के रूप में उनकी संस्थाएँ मौजूद हैं और उनके प्रत्येक अंग में वह समाये हुए हैं। वह हमारे देश के गौरव थे। उनका जीवन निष्काम-साधना का जीवन था। वह सच्चे अर्थ में कर्मयोगी थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वह उच्च कोटि के संन्यासी थे। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर और एक साधारण विद्यार्थी के रूप में अपना जीवन आरंभ कर उन्होंने असाधारण प्रतिभा और लोकोत्तर कृतित्त्व-शक्ति का परिचय दिया था। वह निर्लोभी और निराभिमानी थे। उन्होंने काफी पैसा

पैदा किया और अपनी कमाई के एक-एक पैसे का हिसाब रखा। अपने परिवार के अत्यन्त आवश्यक मामलों पर ही वह व्यय करते थे। लेकिन दान देने में उनका हाथ खुला रहता था। शिक्षा समाप्त करने पर शिक्षा-व्यय लौटाने का नियम उन्होंने संस्था के सम्बन्ध में ही नहीं बनाया था, बल्कि उस नियम को उन्हों ने अपने घरेलू मामले में भी लागू किया था। उनके पुत्र शंकर ने जब बी० ए० पास कर डाक्टरी पढ़ने की इच्छा प्रकट की तब उन्होंने उसके सामने यही शर्त रखी थी। शंकर ने इस शर्त को स्वीकार कर ही डाक्टरी पढ़ी। ऐसा था उनका हिसाब-किताब और यह इसलिए कि वह समाज-सेवी थे। फिर भी अपनी आत्म-कथा में उन्होंने लिखा है : "समाज-सेवा के क्षेत्र में मैंने जो थोड़ा-बहुत कार्य किया है वह इतना संभल-संभलकर किया है कि उसका कोई खास महत्त्व नहीं है। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में मुझे जो थोड़ी-बहुत सफलता मिली है वह मेरे सहक-र्मियों, मित्रों और जनता का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सहायता का सुफल है। उसमें मेरा हाथ बहुत कम है।" यह बात उन्होंने मात्र शिष्टाचार के नाते नहीं कही थी, बल्कि प्रत्येक सवा-कार्य में अपने को निमित्त मात्र समझने की प्रवृत्ति उनके स्वभाव का अविभाज्य अंग थी।

कर्वेजी 'जीवेम शरदः शतम्' के आदर्श थे। उन्होंने लगभग १०४ वर्ष की उम्र पाई थी, लेकिन इतने वर्षों में उन्होंने एक क्षण भी विश्राम नहीं किया। बचपनमें सोमण गुरु ने अनेक कोमल हृदय में सेवा के जो बीज बो दिये थे वे अनुकूल वातावरण और जलवायु पाकर अंकुरित एवं पल्लवित हुए और धीरे-धीरे उन्होंने विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया। कर्वेजी के जीवन का मुख्य-कार्य-क्षेत्र समाज था। उन्होंने समाज के प्रत्येक अंग के सुधार पर ध्यान दिया। समाज में नव-जाग्रति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने स्त्री-शिक्षा को ही चुना और उसी के माध्यम से उन्होंने समाज की अन्य सुधार-योजनाओं को प्रसारित एवं प्रचारित किया। इसीलिए उन्हें अपनी प्रत्येक योजना में सफलता मिली। वह अपने विचारों और कार्य-शैली में उग्र नहीं थे। एक सच्चे सुधारक में जिन गुणों का होना आवश्यक है, उन सबका उनके व्यक्तित्व में उचित समन्वय था। त्यागी वह इतने महान थे कि उन्होंने सन् १८९९ ई० में ही अपनी ५ हजार रुपये की बीमा-पालिसी आश्रम को दान कर दी थी। उन्होंने लाखों

रुपया एकत्र किया, लेकिन उसमें से कभी एक पाई भी अपने ऊपर व्यय नहीं की। अवकाश-ग्रहण करने पर वह अपने घर से हिंगणे पैदल ही आते-जाते थे। लम्बी-लम्बी यात्राओं के लिए भी उन्होंने कभी आश्रम के कोष से एक पैसा नहीं लिया। वह अपने परिवार के लिए आलीशान इमारत बनवा सकते थे, अपनी स्त्री के शरीर को स्वर्ण के आभूषणों से ढक सकते और अच्छा खा-पहन सकते थे, लेकिन इन सब की ओर उनका ध्यान नहीं गया। वह एक साधारण कच्चे घर में रहते थे और उनके परिवार के लोग साधारण वेश-भूषा में अपना जीवन व्यतीत करते थे। आश्रम और विद्यालय के साधारण-से-साधारण काम के मुका-बले में उन्होंने अपने परिवार के अत्यन्त आवश्यक कार्य की भी उपेक्षा की। ऐसा निस्पृही और अपरिग्रही था उनका जीवन !

कर्वेजी मान-सम्मान के भूखे नहीं थे। मान-सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा से उन्होंने सेवा-व्रत नहीं लिया था। नारी-जाति के प्रति उनकी कारुण्य भावना ही उन्हें सेवा के क्षेत्र में खींच लाई थी और वह उसी भावना से बल पाकर कार्य-रत रहते थे। उसी भावना ने उन्हे ऊँचा उठाया था और फिर मान-सम्मान उनके पीछे पीछे घूमता रहा। सन् १९४२ ई० में काशी-विश्वविद्यालय ने, सन् १९५१ ई० में पूना-विश्वविद्यालय ने और सन् १९५४ ई० में प्रयाग-विश्व-विद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि से और सन् १९५८ ई० में बम्बई-विश्वविद्यालय ने उन्हें एल-एल० डी० की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने भी उनकी निस्स्वार्थ सेवाओं का मूल्यांकन किया और उन्हें २६ जनवरी, सन् १९५६ ई० को 'पद्मभूषण' और इसके दो वर्ष पश्चात् २६ जनवरी, सन् १९५८ ई० को 'भारत-रत्न' की सर्वोच्च उपाधि देकर उनका गौरव बढ़ाया। सच पूछिए तो उनके लिए इन उपाधियों का कोई महत्त्व नहीं था। उन्होंने समाज और विशेषतः नारी-समाज के लिए इतना महत्त्व-पूर्ण कार्य किया था कि उनको दिया जानेवाला कोई भी सम्मान बड़ा नहीं कहा जा सकता। १०५ वर्ष की लम्बी आयु उन्होंने समाज की सेवा में ही बिताई थी। अपनी वृद्धावस्था में भी वह जवानों को मात करते थे। ऐसा अदम्य उत्साह, ऐसा आंतरिक तेज, ऐसा महान् आत्म-बल, अपने निश्चय के प्रति ऐसी निष्ठा महर्षियों में ही होती है और वह सचमुच हमारे देश के आधुनिक युग के महर्षि थे।

विष्णुनारायण भातखण्डे

भारतीय संगीत-कला के इतिहास में मुगलों का शासन-काल संगीत-कला के उत्कर्ष का काल माना जाता है। इस काल में प्रथम मुगल-सम्राट बाबर (१५२६-३० ई०) से लेकर शाहजहाँ (१६२७-५८ ई०) तक चोटी के संगीतज्ञों की एक ऐसी शृंखला मिलती है जिसने भारतीय संगीत को अपूर्व गौरव प्रदान किया है। इतिहास देखने से पता चलता है कि हुमायूँ के समय (१५३०-५६ ई०) में बच्चू नाम का एक प्रसिद्ध गायक था। १५३५ ई० में हुमायूँ ने जब माण्डवगढ़ (मालवा) पर अपना अधिकार जमा लिया और क़ैदियों के वध की आज्ञा प्रसारित की तब उसे ज्ञात हुआ कि उन क़ैदियों में बच्चू नाम का एक संगीतज्ञ भी है। हुमायूँ संगीत का अत्यन्त

प्रेमी था। दिल्ली में वह सोमवार और बुधवार को नियमपूर्वक बड़े-बड़े संगीतज्ञों के संगीत का आनन्द लिया करता था। इसलिए जब उसे माण्डवगढ़ के क़ैदियों में एक संगीतज्ञ के होने का समाचार मिला तब उसने उस संगीतज्ञ को बुलाकर उसका गाना सुना। उसके गाने पर वह इतना मुग्ध हुआ कि उसने उसे मुक्तकर अपने दरबारी संगीतज्ञों में स्थान दिया। १५४० ई० में हुमायूँ के परास्त होने पर जब सूर-वंश का अभ्युदय हुआ तब भी संगीत की प्रतिष्ठा कम नहीं हुई। इस्लाम शाह और आदिलशाह, दोनों संगीत-प्रेमी थे। अकबर (१५५६-१६० ई०) का संगीत-प्रेम तो प्रसिद्ध ही है। उसके दरबार में हिन्दू, ईरानी, तूरानी, काश्मीरी संगीतज्ञों को उच्च स्थान प्राप्त था। उसने अपने संगीतज्ञों को सात वर्गों में विभाजित कर दिया था और प्रति दिन उनमें से एक वर्ग के संगीतज्ञों का गाना सुनता था। वृन्दावन के बाबा हरिदास (१४८०-१५७५ ई०) और उनके प्रसिद्ध शिष्य

मियाँ तानसेन (१५०६-८९ ई०) उस समय के प्रसिद्ध गायक थे। मियाँ तानसेन का अकबरी दरबार में सर्वोच्च स्थान था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुलरहीम खानखाना, राजा भगवानदास और मानसिंह भी संगीत-प्रेमी थे। इसलिए अकबर के दीर्घ शासन-काल में संगीत की काफ़ी उन्नति हुई। नये-नये रागों का भारतीय संगीत में प्रवेश हुआ और संगीत की कई संस्कृत-पुस्तकों का फारसी में अनुवाद हुआ। जहाँगीर (१६०५-२७ ई०) और शाहजहाँ के समय (१८२७-५८ ई०) में भी संगीत की यह परम्परा बनी रही, किन्तु औरंगजेब के समय (१६५८-१७०७ ई०) में यह परम्परा समाप्त-सी हो गई। राजाओं-महाराजाओं तथा नवाबों के दरबार में संगीत का प्रचार न्यूनाधिक होता रहा और मुगल-सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले के समय (१७१९-४८ ई०) में संगीत-कला एक बाजारू कला हो गयी। उसका शास्त्रीय रूप लुप्त हो गया।

अंग्रेजों के शासन-काल में सरकार की ओर से संगीत-कला को प्रोत्साहन मिलने की कोई आशा नहीं थी। देशी राज्यों के शासक भी विदेशी चमक-दमक से प्रभावित होकर भारतीय संगीत को एक घटिया श्रेणी की कला समझने लगे थे। ऐसी स्थिति में कुछ पेशेवर गायकों तक ही यह कला सीमित हो गयी थी। उनके भद्दे प्रदर्शन इसे और भी पतन की ओर ढकेल रहे थे। जो संगीत अतीत में भक्ति और मुक्ति का एक साधन समझा जाता था वही अब वासना और विलासिता का मुख्य साधन बनता जा रहा था। ऐसी स्थिति में संगीत के पुनरुद्धार की अत्यन्त आवश्यकता थी।

भारतीय संगीत के पुनरुद्धार की एक दूसरी दृष्टि से भी आवश्यकता थी। तुर्कों और मुगलों के स्थायी रूप से बस जाने और लगभग पाँच-छः सौ वर्ष तक उनके शासन करने के कारण हमारे रहन-सहन, हमारे खान-पान, हमारी वेश-भूषा और हमारे आचार-विचारों में ही परिवर्तन नहीं आ गया था; हमारी कलाओं ने भी एक नया रूप अपना लिया था। संगीत-कला की तो अत्यन्त दुर्दशा हो रही थी। उसका नया रूप अत्यन्त अस्त-व्यस्त था। उसे शास्त्रीय रूप देनेवाला उस समय कोई नहीं था।

पं० विष्णुनारायण भातखण्डे ने उक्त दोनों आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति की। उन्होंने भारतीय संगीत को सुरा-सुन्दरी के विलासमय वातावरण से

न कालकर उसका पुनरुद्धार ही नहीं किया, सदियों के विनिमय और समन्वय के फलस्वरूप भारतीय संगीत में जिन अनेक नवीन कला-तत्वों का समावेश हो गया था उनको शास्त्रीय रूप भी प्रदान किया। वह आधुनिक युग की संगीत-कला के प्रथम आचार्य और प्रचारक थे। आज संगीत-कला का जो संवर्धन और विकास हो रहा है उसका श्रेय उन्हें ही प्राप्त है।

भातखण्डे का जन्म १० अगस्त, सन् १८६० ई० को गोकुलाष्टमी के दिन बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत वालकेश्वर ग्राम के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनकी माता को संगीत से अत्यधिक प्रेम था। माता का यह प्रेम उनके दूध के साथ बालक भातखण्डे को भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार स्वर के संस्कार उन्हें पालने से ही प्राप्त होते रहे और उन्हें बचपन से ही संगीत के प्रति सहज अनुराग हो गया। माँ के मधुर कंठ से निकली धुनों की वह हूबहू नकल करने लगे। तीन-चार वर्ष की अल्पावस्था में उन्होने माता के अनेक भजनों और भाव-गीतों को ज्यों-का-त्यों कंठस्थ कर लिया। बालक भातखण्डे की यह ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा उनकी अवस्था के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और छः सात वर्ष की अवस्था में ही वह एक अच्छे गायक हो गये।

एक अच्छे गायक होने के साथ-साथ भातखण्डे एक अच्छे विद्यार्थी भी थे। उस समय संगीतज्ञ समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। संगीत-प्रेमी होना आवारगी का लक्षण समझा जाता था। इसलिए उनके पिताजी उनके संगीत-प्रेम को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते थे। उनका यह भी विचार था कि संगीत-प्रेम अध्ययन में बाधक होता है। लेकिन यह जानते हुए भी भातखण्डे ने संगीत के अभ्यास से हाथ नहीं खींचा। वह बराबर संगीत का अभ्यास करते रहे। अपने विद्यालय में वह संगीत और बाँसुरी बजाने के लिए प्रसिद्ध थे। वह प्रत्येक सङ्गीत-प्रतियोगिता में भाग लेते थे और प्रथम पुरस्कार प्राप्त करते थे। पढ़ने-लिखने में भी वह किसी से पीछे नहीं थे। वह प्रति वर्ष उत्तीर्ण होते गये। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वह बम्बई गये। बम्बई के एलफिस्टन कालेज में कुछ दिनों तक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने पूना के डेक्कन कालेज में भी शिक्षा प्राप्त की और वहाँ से उन्होने सन् १८८३ ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की।

भातखण्डे के परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। जीवन में एक

ओर उनका अध्ययन चलता था, दूसरी ओर सङ्गीत का अभ्यास। सङ्गीत का अभ्यास जारी रखने के लिए उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होना था। इसलिए उन्होंने बी० ए० पास करने के बाद, बम्बई के एलफिंस्टन हाईस्कूल में नौकरी स्वीकार करली और अध्यापन-कार्य करने लगे। इसी बीच सन् १८८१ ई० में वह वकालत की परीक्षा में बैठे और उसमें उत्तीर्ण हो गये। वकालत करने के लिए वह कराँची गये, किन्तु वहाँ उनकी वकालत नहीं चली। इसलिए वह बम्बई लौट आये और फिर उन्होंने बम्बई में ही वकालत शुरू की।

लेकिन वकालत करने के लिए भातखण्डे का जन्म नहीं हुआ था। उनका जन्म हुआ था सङ्गीत-कला के उद्धार और संस्कार के लिए। इसका संकेत उनकी माता ने ही दे दिया था। वकालत उनकी जविका का साधन-मात्र थी। उसकी उपेक्षा वह नही कर सकते थे, लेकिन इसके साथ ही अपनी माता के संकेत को भी वह नहीं भूले। उन दिनों सङ्गीत की शिक्षा प्राप्त करना सरल काम नहीं था। इने-गिने सङ्गीतज्ञ होते थे जो बड़ी कठिनाई से दूसरों को अपनी कला का ज्ञान कराते थे। ऐसी स्थिति में भातखण्डे को सङ्गीत की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बम्बई में उच्च शिक्षा प्राप्त करते समय उन्होंने बम्बई के वैष्णाव-पंथी अंध वृद्ध-नेता सेठ वल्लभदास दामोदरदास से सितार बजाना सीखा। थोड़े ही दिनों में इस कला में वह कुशल हो गये। इसके बाद उन्होंने शास्त्रीय संगीत का अभ्यास किया। उन दिनों बम्बई में 'गायन उत्तेजक मंडली' नाम की एक सङ्गीत-संस्था थी। इस संस्था का उद्देश्य भारतीय सङ्गीत का पुनरुद्धार तथा प्रचार करना था। भातखण्डे इस संस्था के सदस्य हो गये। इससे उन्हें कुछ चोटी के कलाकारों के संपर्क में आने का अवसर मिला। उन्होंने ध्रुपद के प्रसिद्ध गायक रावजी बुआ से शास्त्रीय सङ्गीत की शिक्षा ली। प्रसिद्ध गायक इनायतहुसेन खाँ के छोटे भाई मुहम्मद खाँ से भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा, किन्तु उन्हें उनकी पुरानी ढर्रे की शिक्षा से सन्तोष नहीं हुआ। वास्तव में वे कंठ के उस्ताद थे, सङ्गीत-शास्त्र से उनका परिचय नहीं था। वे दरबारी सङ्गीतज्ञ थे और अपने आपको सङ्गीत का आचार्य मानकर थोथा गर्व करते थे। सङ्गीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों में वे बिलकुल कोरे थे। ऐसी स्थिति से प्रभावित होकर भातखण्डे ने सङ्गीत के शास्त्रीय पक्ष के पुनरुद्धार की दृढ़ प्रतिज्ञा की।

'सङ्गीत-शास्त्र', 'राग-कल्पद्रुमांकुर', 'रामचंद्रिका-सार', 'हिन्दुस्तानी सङ्गीत', 'क्रमिक पुस्तक मालिका' आदि कई ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त उन्होंने कई प्राचीन-अर्वाचीन संस्कृत-ग्रन्थों का मराठी-गुजराती आदि भाषाओं में अनुवाद किया। उन्हें संस्कृत, अंग्रेजी, बङ्गला, उर्दू, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलगु, तमिल आदि कई भाषाओं की अच्छी जानकारी थी। किसी विवादास्पद विषय पर अधिक टीका-टिप्पणी करना वह पसन्द नहीं करते थे।

सङ्गीत का पुनरुद्धार करने के लिए भातखण्डे ने जहाँ अनेक ग्रन्थों की रचना की वहाँ जन-जीवन में उसका प्रचार करना भी वह नहीं भूले। सन् १९१६ ई० में उन्होंने बड़ौदा में प्रथम अखिल भारतीय सङ्गीत-सम्मेलन का आयोजन किया। इसके बाद क्रमशः लखनऊ, दिल्ली, बम्बई आदि में सङ्गीत-सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों का संगीत के प्रति जनता की संकुचित विचार-धारा पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और उसने सङ्गीत-शिक्षा के प्रति अपनी रुचि प्रकट की। ऐसी स्थिति में सङ्गीत-विद्यालयों की आवश्यकता का अनुभव हुआ। भातखण्डे ने इस आवश्यकता की भी पूर्ति की। उन्होंने लखनऊ में मॉरिस म्यूजिक कालेज, ग्वालियर में माधव-सङ्गीत-विद्यालय और बड़ौदा में बड़ौदा म्यूजिक कालेज की स्थापना की। इन कालेजों से कई अच्छे सङ्गीतकार निकले जिन्होंने सङ्गीत-कला का प्रचार करने में पूरा योग दिया। आज आये दिन भारत के कोने-कोने में जो सङ्गीत-सम्मेलन होते रहते है और प्रत्येक बड़े-छोटे नगर में जो सङ्गीत-विद्यालय खोले जा रहे हैं उनका श्रेय भातखण्डे को ही प्राप्त है।

भातखण्डे भारत की दिव्य-विभूति थे। उनका जीवन आदर्श जीवन था। बम्बई के वह सम्मानित वकील थे। वकालत से उन्हें जो कुछ प्राप्त होता था उसी पर वह जीवन-निर्वाह करते थे। सङ्गीत को उन्होंने अपनी जीविका का साधन नहीं बनाया था। वह अत्यन्त धर्म-भीरु और कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। वह नित्य प्रति दो घन्टे पूजा-पाठ करते थे। अंधविश्वास और पाखण्ड के वह कट्टर विरोधी थे। परिश्रम करने से वह कभी नहीं घबड़ाते थे। वह जो काम अपने हाथ में लेते थे उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। इतना परिश्रम-साध्य एवं सात्विक जीवन व्यतीत करने पर भी वह रोग की चपेट में आ गये। सन् १९३३ ई० में उन्हें लकवा मार गया। इससे उनका शरीर बेकार-सा हो गया, किन्तु फिर भी

उन्होंने सङ्गीत की सेवा से मुख नहीं मोड़ा। माधव सङ्गीत-विद्यालय, ग्वालियर के निदेशक के रूप में वह कार्य करते रहे। अन्त में गणेश चतुर्थी, १६ सितम्बर, सन् १९३६ ई० को उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उस समय उनकी अवस्था ८६ वर्ष की थी। अपनी इतनी लम्बी आयु में उन्होंने एक क्षण भी विश्राम नहीं किया। उन्होंने आर्थिक संकटों का ही सामना नहीं किया, मानसिक संकट भी उन्हें उठाने पड़े। उनकी पत्नी का स्वर्गवास हुआ। उनकी पुत्री ने हमेशा के लिए उनसे विदा ली, लेकिन इन आकस्मिक विपत्तियों में पड़कर भी उन्होंने भारतीय सङ्गीत के उन्नयन और विकास पर हमेशा ध्यान रखा और जब वह इस संसार से विदा हुए तब उन्हें यह सन्तोष था कि उनका लगाया हुआ भारतीय-सङ्गीत का पौधा एक हरे-भरे विशाल वृक्ष का रूप धारण कर बराबर लहलहाता रहेगा।

●●

मोक्षगुण्डम् विश्वेश्वरैया

आधुनिक युग में पश्चिम की इंजीनियरिंग-कला से प्रभावित होकर लोग यह समझते हैं कि हमारे पूर्वज इस कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे, परन्तु उनकी यह धारणा निराधार है। राजा भगीरथ, नल और नील हमारे देश के कल्पित इंजीनियर नहीं, हमारी ही तरह हाड़-मांस के पुतले थे। उन्होंने अपनी इंजीनियरिंग-कला का जो परिचय हमें दिया है वह हमारे देश का गौरव है और हमारे लिए उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। वे पौराणिक व्यक्ति होते हुए भी हमारे लिए वास्तविक हैं और यह इसलिए कि उनकी कला के चिह्न अब-तक वर्तमान हैं। समय ने उनके जीवन के वास्तविक रूप पर पर्दा डाल दिया है, पर वह उनके कृतित्व को नहीं छिपा सका है। उन्हीं की कृतित्त्व की परंपरा में कावेरी का बाँध भी प्रसिद्ध है। यह बाँध ईसा की पहली शताब्दी में बनाया गया था। उस समय कावेरी-प्रदेश (तमिलाकम्) पर करिकाल नाम का एक प्रतापी और कला-प्रेमी राजा राज करता था। वह चोल-वंश का था और उसकी राजधानी कावेरी नदी के निकास के निकट स्थित कावेरी पट्टिनम् थी। उसके शासन-काल में कावेरी का तट स्थान-स्थान पर शिथिल हो गया था। इस कारण वर्षा के दिनों में कावेरी में बाढ़ आने पर आस-पास के खेत जल-मग्न हो जाते थे और तट पर बसे हुए गांव-

व बह जाते थे। इस विपत्ति को रोकने और कावेरी के जल को रोककर उन खेतों की सिंचाई के काम में उसे लाने के लिए राजा करिकाल चोल ने एक विशाल योजना बनायी। उसने निश्चय किया कि श्रीरंगम् से कावेरीपट्टिनम् तक कावेरी नदी के दोनों किनारों को इतना ऊँचा कर दिया जाय कि उसका जल

बाढ़ आने पर भी, बाहर न जा सके। इस निश्चय के अनुसार कावेरी के दोनों तटों को एक सौ मील से अधिक लम्बाई तक ऊँचा करना पड़ा। आजकल, जब हर तरह के छोटे-बड़े वैज्ञानिक यंत्र काम में लाये जाते हैं तब भी इतनी दूर तक एक बड़ी नदी के दोनों किनारों को ऊँचा करने का काम आसान नहीं है। लेकिन डेढ़ हजार वर्ष पूर्व, आज के-से यंत्रों के अभाव में इतनी विशाल योजना यह सिद्ध करती है कि हमने पश्चिम से यह कला नहीं सीखी। पश्चिमवालों ने ही हमसे यह कला सीखी, क्योंकि उस समय पश्चिम को इस कला का कुछ भी ज्ञान नहीं था। हमारे देश में यह कला किसी-न-किसी रूप में बराबर जीवित रही और आज भी जीवित है। आधुनिक युग में डा० मोक्षगुण्डम् विश्वेश्वरैया उसी कला-परंपरा के प्रतीक थे। राजा भगीरथ, नल और नील के बाद भारत में इंजीनियरिंग-कला की प्रतिष्ठा बढ़ानेवालों में उनका सर्वप्रथम स्थान था।

डा० विश्वेश्वरैया हमारे देश के गौरव थे। उनकी इंजीनियरिंग-कला इतनी उच्चकोटि की थी कि संसार के बड़े-बड़े इंजीनियर उनका लोहा मानते थे। उनका संपूर्ण जीवन देश के निर्माण-कार्य में ही बीता था। वह सच्चे अर्थ में कर्म-योगी थे। निष्काम-कर्म ही उनके जीवन का आदर्श था। उन्होंने लोभ-वश कभी कोई कार्य नहीं किया। करोड़ों रुपये का काम उन्होंने किया, लेकिन पाप की कमाई से उन्होंने अपनी कला को कलंकित नहीं किया। वह कर्म में विश्वास करते थे। यही उनके जीवन का रहस्य था और इसीलिए वृद्ध होने पर भी उनमें युवकों का-सा साहस था। १५ सितम्बर, सन् १९६१ ई० को समूचे भारत ने उनकी सौवीं वर्षगाँठ मनायी थी। इस शुभ अवसर पर हमारी केन्द्रीय सरकार ने उनके नाम का डाक-टिकट प्रकाशित कर उनका सम्मान किया था और सन् १९५५ ई० में उन्हें 'भारत-रत्न' की उपाधि से विभूषित किया था। उस समय सारे देश ने एक स्वर से उनके दीर्घ जीवी होने की कामना प्रकट की थी, पर वह पूरी न हो सकी। १४ अप्रैल, सन् १९६२ ई० को प्रातः काल ४॥ बजे वह हमारे बीच से उठ गये।

डा० विश्वेश्वरैया मैसूर-प्रदेश के नागरिक थे। उनके पूर्वज कुर्नूल (आँध्र प्रदेश) के एक छोटे से गाँव, मोक्षगुण्डम्, से आकर बंगलौर के निकट मुडनहल्ली नामक गाँव में बस गये थे। इसी गाँव में डा० विश्वेश्वरैया ने १५ सितम्बर, १८६१ ई०

को जन्म लिया। उनके पिता पं० श्रीनिवास शास्त्री अपने समय के बहुत बड़े विद्वान्, परोपकारी, देश-भक्त और धर्मात्मा थे। उनकी माता व्यंकचम्मा भी धर्म-भीरु थीं। पूजा-पाठ में उनका जी लगता था। घर के काम से छुट्टी पाकर वह अपना सारा समय पूजा-पाठ में ही बिताती थीं। ऐसे माता-पिता के आचरण का बालक विश्वेश्वरैया पर पूरा प्रभाव पड़ा। बचपन से ही पढ़ने-लिखने में उनका मन लगने लगा और वह अपने आचरण से सबके आर्कषण-केन्द्र बन गये। जब वह पाँच वर्ष के हुए तब उनका परिवार मुडनहल्ली से पास ही के एक दूसरे गाँव चिकवल्लापुर चला गया। मुडनहल्ली में कोई पाठशाला नहीं थी। चिकबल्लापुर में एक प्रारंभिक पाठशाला थी। इसी पाठशाला में विश्वेश्वरैया का नाम लिखवाया गया। उनके अध्यापक थे श्री नाथमुनि नायडू। बालक विश्वेश्वरैया के व्यवहार, शिष्टाचार और कुशाग्र बुद्धि से वह इतने प्रभावित थे कि वह उन्हें अपने अवकाश के क्षणों में अपने घर पर भी पढ़ाया करते थे और उन्हें सुन्दर चरित्र-निर्माण-संबंधी पुस्तकें पढ़ने के लिए दिया करते थे। उनके व्यक्तित्त्व का बालक विश्वेश्वरैया के मन और मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बालक विश्वेश्वरैया के मन और मस्तिष्क पर प्रभाव डालनेवाले दूसरे व्यक्ति थे उनके मामा श्री रमैय्या। तत्कालीन मैसूर-राज्य में श्री रमैय्या का बहुत प्रभावशाली व्यक्तित्त्व था।

आरंभ में लगभग सात-आठ वर्ष (१८६७-७५ ई०) तक बालक विश्वेश्वरैया की शिक्षा चिकबल्लापुर में ही हुई। इसी बीच उनके पिता का रायचूर में स्वर्गवास हो गया। उनके पिता प्रायः तीर्थ-यात्रा किया करते थे। घर-गृहस्थी के प्रति उनकी विशेष रुचि नहीं थी। इसलिए श्रीमती व्यंकचम्मा को आये दिन अनेक प्रकार की आर्थिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं। अपने पति के स्वर्गवासी होने पर तो उनका रहा-सहा सहारा भी चला गया। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में विश्वेश्वरैया की आगे की पढ़ाई एक कठिन समस्या बन गयी। लेकिन उन्होंने हाथ-पैर नहीं ढीले किये। साहस बटोरकर उन्होंने विश्वेश्वरैया को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए बँगलोर के सेण्ट्रल कालेज में दाखिल कराया। यह १८७५ ई० की बात है। इसी कालेज से पाँच वर्ष बाद विश्वेश्वरैया ने १८८० ई० में विशेष योग्यता के साथ बी० ए० पास किया।

बँगलौर के सेंट्रल कालेज में विश्वेश्वरैया का विद्यार्थी-जीवन बड़ी कठिनाई से बीता। न पास में पैसा और न अपना घर! खाने-पीने का भी कोई निश्चित प्रबंध नहीं! दूसरा कोई होता तो कंधे डाल देता, लेकिन विश्वेश्वरैया अपनी धुन के पक्के विद्यार्थी थे। अपनी शिक्षा का व्यय-भार स्वयं उठाने के लिए वह एक कुर्गी परिवार में ट्यूशन करते थे। कालेज के प्रिंसिपल श्री चार्ल्स उनके अध्यवसाय से बहुत प्रभावित थे और वह उनकी सहायता करते थे। उनके सामयिक प्रोत्साहन से विश्वेश्वरैया ने अपनी पढ़ाई जारी रखी। उनका उत्साह देखकर मैसूर-राज्य ने उन्हें आगे पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति दी। इसलिए वह इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करने के लिए पूना के विज्ञान-कालेज में प्रविष्ट हुए। इस कालेज से उन्होंने नवम्बर, सन् १८८३ ई० में इंजीनियरिंग की उच्च परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और वह बाम्बे प्रेसीडेंसी में सर्वप्रथम आये। पास होते ही उन्हें नौकरी भी मिल गयी। सन् १८८४ ई० में वह बम्बई-सरकार के सार्वजनिक निर्माण-विभाग (पी० डब्लू० डी०) में सहायक इंजीनियर हो गये। अपने इस पद से उन्होंने बड़ी लगन से काम किया और उन्नति करके १९०४ ई० में वह सुपरिन्टेंडिंग इंजीनियर हो गये।

बम्बई-सरकार की नौकरी करते हुए उन्हें नौ वर्ष हो चुके थे। इतने दिनों में ही उन्होंने सब के हृदय पर अपनी कार्य-कुशलता का सिक्का जमा दिया था। बड़े-बड़े इंजीनियर उनकी कला का लोहा मानने लगे थे। इसलिए उन्हें खानदेश भेजा गया। खानदेश जिले की एक नहर में उन्हें पाइप-साइफन लगाने का काम सौंपा गया था। उनके लिए वैयक्तिक हैसियत से कार्य-क्षेत्र में उतरने का यह पहला अवसर था। नहर में पाइप-साइफन लगाना आसान काम नहीं था। बड़े-बड़े इंजीनियर हताश हो चुके थे। यह जानते हुए भी विश्वेश्वरैया सन् १८९३ ई० के मार्च के महीने में खानदेश पहुँचे। अपनी आत्म-कथा में इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—'मैं उस समय अपने काम में बिल्कुल नया था। ऊपर से वर्षा के कारण नदी बरसाती पानी से लबालब भर जाती थी और मुझे काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। मैं थोड़ा निराश हो गया—कैसे काम को काबू में किया जाय? लेकिन मेरे यौवन की उमंगों के लिए यह एक करारी चुनौती थी। मेरा भविष्य अग्नि-परीक्षा की शर्त लगाकर मेरा स्वागत

कर रहा था। एक दिन मैं संकल्प की साँस भर कर उठा और फिर क्या हुआ, मुझे मालूम भी न हो सका। पाइप-साइफन लग गया। अधिकारियों ने बधाई और प्रोत्साहन के पत्र मेरे पास भेजे और तभी मुझे महसूस हुआ कि मेरे संकल्प ने कठिनाइयों की दीवारें ढहा दी हैं। कभी-कभी यह प्रारंभिक घटना आज भी मेरी आँखों के सामने झूल जाती है। वास्तव में, मेरा सारा भावी जीवन इसी घटना की लम्बी परछाईं है।'

खानदेश की नहर में पाइप-साइफन लगा देने से अंग्रेज-इंजीनियरों पर विश्वेश्वरैया की काफी धाक जम गयी। रक्त में यौवन की गर्माहट थी और हृदय में उत्साह भरा था। दिन-रात वह अपनी कला की साधना में लगे रहते थे। इससे उनकी काफी ख्याति फैल गयी थी। इसलिए उसी वर्ष (सन् १८९३ ई०) बम्बई के पी० डब्लू० डी० के प्रधान श्री ई० के० रोनाल्ड ने उन्हें सिंध के उत्तरी इलाके में भेजा। इस इलाके में जो काम उन्हें सौंपा गया था वह सिंधु नदी से सक्कर-निवासियों के लिए पीने का पानी सुलभ करने का था। नदी के किनारे स्थित 'एडिनबरा कैसिल हिल' नामक पहाड़ी के ऊपर एक जलाशय बना हुआ था। पम्पों के द्वारा नदी का पानी इसी जलाशय में पहुँचाना पड़ता था और फिर वहाँ से वह सक्कर-निवासियों को नलों-द्वारा प्राप्त होता था। सिंध नदी का जल बालू से भरा गंदला और मटमैला था, इसलिए उसे सक्कर-निवासियों में वितरित करने के पूर्व उसे 'फिल्टर' की सहायता से स्वच्छ करने की आवश्यकता पड़ती थी, लेकिन नगरपालिका उस समय इस कार्य के लिए अधिक धन व्यय करने के पक्ष में नहीं थी। ऐसी स्थिति में विश्वेश्वरैया वहाँ पहुँचकर सोच में पड़ गये। अँग्रेज-विशेषज्ञों ने इस काम को असंभव घोषित कर दिया था और इसे स्थगित करने के लिए उन्होंने लिखा-पढ़ी आरंभ कर दी थी। विश्वेश्वरैया ने इसे चुनौती के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने उस स्थान का कई बार बड़े ध्यान से निरीक्षण किया। इससे उन्हें एक उपाय सूझा। इस उपाय से बिना किसी प्रकार के अतिरिक्त व्यय के ही समस्या आसानी से सुलझ गयी। उन्होंने नदी की सतह से एक वृत्ताकार-सुरंग लगवाई जो कुछ दूर जाकर बाहर निकलती थी। इस सुरंग द्वारा पर्याप्त मात्रा में शुद्ध जल प्राप्त होने लगा। यही जल पाइप-द्वारा पहाड़ी पर

स्थित उस जलाशय में पहुँचा दिया जाता था और वहाँ से वह सब के लिए सुलभ हो जाता था।

सक्कर-बाँध की इस सफलता ने उनके नाम में चार चाँद लगा दिये थे। अपनी कार्य-कुशलता से उन्होंने अपना ही नहीं, अपने देश का भी मस्तक ऊँचा उठा दिया था। कई प्रांतीय सरकारें एवं रियासतें उन्हें अपने यहाँ बुलाने का प्रयत्न करने लगी थीं। बम्बई के रिकार्ड में उनकी जो प्रशंसा अंकित है वह शायद किसी भारतीय इंजीनियर को उनके समय तक नसीब नहीं हो सकी थी। लेकिन अपनी इस प्रशंसा और नामवरी से उन्हें तनिक भी संतोष नहीं हुआ। वह जीवन में कुछ और कर दिखाना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कुछ योजनाएँ बनाली थीं। इन योजनाओं की पूर्ति सरकारी नौकरी करते हुए संभव नहीं थी। इसलिए उन्होंने १९०८ ई० में सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद उन्होंने यूरप की यात्रा की। यूरप में उन्हें इंजीनियरिंग-कला के नये-नये अनुभव प्राप्त हुए। वहाँ उन्होंने एक विद्यार्थी की भाँति बहुत कुछ सीखा। वहाँ से स्वदेश लौटकर उन्होंने सन् १९०८ ई० में निजाम-राज्य के अन्तर्गत प्रमुख परामर्शदाता तथा निरीक्षक-इंजीनियर के सम्मानित पद पर एक वर्ष तक कार्य किया। लेकिन यहाँ उनका जी नहीं लगा। मैसूर-राज्य के तत्कालीन दीवान के आग्रह से उन्होंने निजाम-राज्य की नौकरी से त्याग-पत्र देकर सन् १९०९ ई० में मैसूर-राज्य में नौकरी करली और वहाँ के प्रमुख इंजीनियर हो गये। इस पद पर उन्होंने तीन वर्ष (१९०९-१२) ई० तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया।

सन् १९०२ ई० की बात है। उस समय मैसूर-सरकार कावेरी नदी पर एक जल-बाँध बनाने का विचार कर रही थी। उसके अनुसार श्रीरङ्गपट्टम् से दस मील पश्चिम में स्थित कलामवाड़ी नामक गाँव में एक जलाशय बनाने का निश्चय किया गया था। इस बाँध से मैसूर-सरकार ने एक लाख पचास हजार एकड़ भूमि की सिंचाई और अस्सी हजार हार्सपावर बिजली प्राप्त करने का अनुमान लगया था। कोलार की सोने की खानों के लिए भी उसे इस अस्सी हजार के अतिरिक्त ग्यारह हजार हार्सपावर बिजली प्राप्त करने की पूरी आशा थी। इस योजना को सफल बनाने के लिए ही विश्वेश्वरैया की प्रमुख इंजीनियर के पद पर नियुक्ति की गयी थी। विश्वेश्वरैया ने इस योजना पर विचार किया और फिर उन्होंने अपने विचारों

कर रहा था। एक दिन मैं संकल्प की साँस भर कर उठा और फिर क्या हुआ, मुझे मालूम भी न हो सका। पाइप-साइफन लग गया। अधिकारियों ने बधाई और प्रोत्साहन के पत्र मेरे पास भेजे और तभी मुझे महसूस हुआ कि मेरे संकल्प ने कठिनाइयों की दीवारें ढहा दी हैं। कभी-कभी यह प्रारंभिक घटना आज भी मेरी आँखों के सामने झूल जाती है। वास्तव में, मेरा सारा भावी जीवन इसी घटना की लम्बी परछाईं है।'

खानदेश की नहर में पाइप-साइफन लगा देने से अंग्रेज-इंजीनियरों पर विश्वेश्वरैया की काफी धाक जम गयी। रक्त में यौवन की गर्माहट थी और हृदय में उत्साह भरा था। दिन-रात वह अपनी कला की साधना में लगे रहते थे। इससे उनकी काफी ख्याति फैल गयी थी। इसलिए उसी वर्ष (सन् १८९३ ई०) बम्बई के पी० डब्लू० डी० के प्रधान श्री ई० के० रोनाल्ड ने उन्हें सिंध के उत्तरी इलाके में भेजा। इस इलाके में जो काम उन्हें सौंपा गया था वह सिंधु नदी से सक्कर-निवासियों के लिए पीने का पानी सुलभ करने का था। नदी के किनारे स्थित 'एडिनबरा कैसिल हिल' नामक पहाड़ी के ऊपर एक जलाशय बना हुआ था। पम्पों के द्वारा नदी का पानी इसी जलाशय में पहुँचाना पड़ता था और फिर वहाँ से वह सक्कर-निवासियों को नलों-द्वारा प्राप्त होता था। सिंध नदी का जल बालू से भरा गंदला और मटमैला था, इसलिए उसे सक्कर-निवासियों में वितरित करने के पूर्व उसे 'फिल्टर' की सहायता से स्वच्छ करने की आवश्यकता पड़ती थी, लेकिन नगरपालिका उस समय इस कार्य के लिए अधिक धन व्यय करने के पक्ष में नहीं थी। ऐसी स्थिति में विश्वेश्वरैया वहाँ पहुँचकर सोच में पड़ गये। अँग्रेज-विशेषज्ञों ने इस काम को असंभव घोषित कर दिया था और इसे स्थगित करने के लिए उन्होंने लिखा-पढ़ी आरंभ कर दी थी। विश्वेश्वरैया ने इसे चुनौती के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने उस स्थान का कई बार बड़े ध्यान से निरीक्षण किया। इससे उन्हें एक उपाय सूझा। इस उपाय से बिना किसी प्रकार के अतिरिक्त व्यय के ही समस्या आसानी से सुलझ गयी। उन्होंने नदी की सतह से एक वृत्ताकार-सुरंग लगवाई जो कुछ दूर जाकर बाहर निकलती थी। इस सुरंग द्वारा पर्याप्त मात्रा में शुद्ध जल प्राप्त होने लगा। यही जल पाइप-द्वारा पहाड़ी पर

स्थित उस जलाशय में पहुँचा दिया जाता था और वहाँ से वह सब के लिए सुलभ हो जाता था।

सक्कर-बाँध की इस सफलता ने उनके नाम में चार चाँद लगा दिये थे। अपनी कार्य-कुशलता से उन्होंने अपना ही नहीं, अपने देश का भी मस्तक ऊँचा उठा दिया था। कई प्रांतीय सरकारें एवं रियासतें उन्हें अपने यहाँ बुलाने का प्रयत्न करने लगी थीं। बम्बई के रिकार्ड में उनकी जो प्रशंसा अंकित है वह शायद किसी भारतीय इंजीनियर को उनके समय तक नसीब नहीं हो सकी थी। लेकिन अपनी इस प्रशंसा और नामवरी से उन्हें तनिक भी संतोष नहीं हुआ। वह जीवन में कुछ और कर दिखाना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कुछ योजनाएँ बनाली थीं। इन योजनाओं की पूर्ति सरकारी नौकरी करते हुए संभव नहीं थी। इसलिए उन्होंने १९०८ ई० में सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद उन्होंने यूरप की यात्रा की। यूरप में उन्हें इंजीनियरिंग-कला के नये-नये अनुभव प्राप्त हुए। वहाँ उन्होंने एक विद्यार्थी की भाँति बहुत कुछ सीखा। वहाँ से स्वदेश लौटकर उन्होंने सन् १९०८ ई० में निजाम-राज्य के अन्तर्गत प्रमुख परामर्शदाता तथा निरीक्षक-इंजीनियर के सम्मानित पद पर एक वर्ष तक कार्य किया। लेकिन यहाँ उनका जी नहीं लगा। मैसूर-राज्य के तत्कालीन दीवान के आग्रह से उन्होंने निजाम-राज्य की नौकरी से त्याग-पत्र देकर सन् १९०९ ई० में मैसूर-राज्य में नौकरी करली और वहाँ के प्रमुख इंजीनियर हो गये। इस पद पर उन्होंने तीन वर्ष (१९०९-१२) ई० तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया।

सन् १९०२ ई० की बात है। उस समय मैसूर-सरकार कावेरी नदी पर एक जल-बाँध बनाने का विचार कर रही थी। उसके अनुसार श्रीरङ्गपट्टम् से दस मील पश्चिम में स्थित कलामबाड़ी नामक गाँव में एक जलाशय बनाने का निश्चय किया गया था। इस बाँध से मैसूर-सरकार ने एक लाख पचास हजार एकड़ भूमि की सिंचाई और अस्सी हजार हार्सपावर बिजली प्राप्त करने का अनुमान लगया था। कोलार की सोने की खानों के लिए भी उसे इस अस्सी हजार के अतिरिक्त ग्यारह हजार हार्सपावर बिजली प्राप्त करने की पूरी आशा थी। इस योजना को सफल बनाने के लिए ही विश्वेश्वरैया की प्रमुख इंजीनियर के पद पर नियुक्ति की गयी थी। विश्वेश्वरैया ने इस योजना पर विचार किया और फिर उन्होंने अपने विचारों

को लिखकर मैसूर-नरेश के पास भेज दिया। लगभग २५३ लाख की उनकी स्कीम थी। इतनी बड़ी स्कीम को सफल बनाना साधारण काम नहीं था। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इसके लिए इतने धन का प्रबन्ध कैसे हो? मैसूर-नरेश बड़े उदार और अपने राज्य के कल्याणकारी रचनात्मक कार्यों में दिलचस्पी लेते थे। फिर भी इतनी बड़ी रकम वह तुरन्त नहीं निकाल सकते थे। सोचने-विचारने में उन्हें कुछ समय लग गया। इससे विश्वेश्वरैया को बहुत दुःख हुआ और वह छुट्टी लेकर उत्तर भारत की यात्रा करने चले गये। महाराज दूरदर्शी थे। वह ताड़ गये। उन्होंने विश्वेश्वरैया को मैसूर बुलाया और योजना की पूरी छान-बीन कर उसे कार्यान्वित करने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। विश्वेश्वरैया का मनोरथ पूरा हो गया। अपने संस्मरण में उन्होंने लिखा है—"मैं यह नहीं जानता कि महराज ने इस योजना के संबंध में दूसरे इंजीनियरों से सलाह ली थी या नहीं। उन्होंने बिना किसी काट-छाँट या संशोधन के मुझे पूरी स्वीकृति दे दी थी। इसके लिए मैं महराज का अपने प्रति बड़ा भारी विश्वास मानता हूँ।" और इसमें शक नहीं कि वह इसके उचित पात्र थे। अपनी योग्यता को प्रदर्शित करने का लोभ उनमें नहीं था। उनकी प्रत्येक योजना जन-कल्याण की दृष्टि से होती थी और वह थोड़े व्यय में अधिक से अधिक लाभ की योजना बनाते थे। यह क्षमता उस समय के किसी इंजीनियर में नहीं थी। इसलिए वह शीघ्र ही अपने अधिकारियों के विश्वास-भाजन बन जाते थे।

मैसूर में कृष्णराज सागरम् का निर्माण विश्वेश्वरैया के जीवन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसकी रचना उनकी संपूर्ण इंजीनियरिंग-योग्यता, उनकी सूझ-बूझ, उनकी ईमानदारी, उनके श्रम और उनके अध्यवसाय का परिचय देती है। ऐसा महान कार्य उस समय तक किसी भारतीय इंजीनियर ने नहीं किया था। बड़े-बड़े पाश्चात्य विशेषज्ञ इसे देखकर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। यह अपने ढंग का अद्वितीय बाँध है। इसका निर्माण-कार्य सन् १९११ में आरंभ हुआ। सोलह वर्ष इसके बनवाने में लगे और कुल ढाई करोड़ रुपया इसमें व्यय हुआ। जब तक यह बनकर तैयार नहीं हो गया तबतक विश्वेश्वरैया सुख की नींद नहीं सो सके। यह बाँध ८६०० फुट लम्बा और १३० फुट ऊँचा है और इसका फैलाव लगभग ५० वर्गमील है। कावेरी, हेमवती और लक्ष्मणतीर्थ नाम की नदियों का जल रोक

कर इसका निर्माण किया गया है। संपूर्ण बाँध भूरे पत्थरों का बना हुआ है जिसमें सीमेंट का कहीं नाम तक नहीं है। देखने में यह मैसूर का एक छोटा-सा सागर मालूम होता है। गाँधीजी ने इसे देखकर एक सार्वजनिक सभा में कहा था—"केवल कृष्णराज सागरम् ही, जो समस्त विश्व में अपने ढंग की अकेली चीज है, सर विश्वेश्वरैया को अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।" गाँधीजी के मुख से निकला हुआ यह वाक्य विश्वेश्वरैया के लिए सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र है। इसमें शक नहीं कि कृष्णराज सागरम् का निर्माण कर उन्होंने मैसूर-राज्य को अलकापुरी बना दिया। धरती की यह अलकापुरी धरती के साथ ही मिट सकती है।

विश्वेश्वरैया एक दक्ष इंजीनियर ही नहीं, एक सच्चे लोक-सेवी भी थे। मैसूर-नरेश बड़े गुण-ग्राहक थे और वह विश्वेश्वरैया को बहुत मानते थे। सन् १९१२ ई० में तत्कालीन दीवान के हटने पर उन्होंने विश्वेश्वरैया को दीवान बनाया। इस पद पर विश्वेश्वरैया सन् १९१८ ई० तक रहे। इन छः वर्षों में उन्होंने मैसूर-राज्य की बड़ी सेवा की। उन्होंने एक विश्वविद्यालय की स्थापना की, एक स्टेट बैंक खोला, एक रेलवे लाइन निकाली, व्यापार मंडल की स्थापना की और अनेक लोकोपयोगी कार्यों को संपन्न किया। उन्हीं दिनों उन्होंने भद्रावती स्टील का कार-खाना खोलने की योजना बनायी। इस प्रकार महाराज की सहायता से उन्होंने थोड़े ही समय में मैसूर को भारत की अन्य रियासतों से आगे बढ़ाकर उसे स्वालंबी बना दिया। मैसूर-राज्य में आज जो उद्योग-धंधे चल रहे हैं उनका श्रेय विश्वेश्वरैया को ही प्राप्त है।

विश्वेश्वरैया पूर्ण तपस्वी थे। चुपचाप बैठना तो वह जानते ही नहीं थे। सन् १९१८ ई० में मैसूर के दीवान पद से पृथक होने पर उन्होंने अनेक लोको-पयोगी समितियों में रहकर तत्कालीन अँग्रेजी सरकार का हाथ बँटाया। सन् १९-२१ से सन् १९२२ ई० तक बम्बई सरकार द्वारा आयोजित बम्बई की प्रविधिक और औद्योगिक शिक्षा-समिति के वह अध्यक्ष रहे। इसके बाद सन् १९२५ ई० में तत्कालीन भारत-सरकार द्वारा आयोजित भारतीय अर्थ-जाँच-समिति के वह अध्यक्ष नियुक्ति हुए। फिर सन् १९२८ ई० में बम्बई सरकार-द्वारा आयोजित सिंचाई-जाँच-समिति के और सन् १९४१ ई० में अखिल भारतीय उत्पादक-संस्था के अध्यक्ष रहे। वह इंजीनियरिङ्ग-कला के ही नहीं, बल्कि अर्थशास्त्र के भी पंडित थे। इसलिए

किसी को निर्माण-कार्य के संबंध मे परामर्श देते समय वह उसके प्रत्येक पहलू पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लेते थे। इस प्रकार उनका दिया हुआ परामर्श अकाट्य होता था। भोपाल, बड़ौदा, इन्दौर और कोल्हापुर की रियासतों ने उन्हीं की सलाह से अपने-अपने क्षेत्रों में नव-निर्माण का कार्य आरंभ कर उसमें सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने मैसूर को ही नया जीवन नहीं दिया, बल्कि दक्षिण की अनेक उन्नतिशील रियासतों को उन्होंने अपने उचित परामर्श से प्रेरणा दी। वह चाहते तो राजाओं-महाराजाओं को उल्टा-सीधा पाठ पढ़ाकर करोड़ों की संपत्ति अर्जित कर सकते थे, परन्तु उन्होंने अनुचित ढंग से कभी एक पैसा नहीं कमाया। बम्बई, नागपुर और करांची की महापालिकाओं ने उनकी सलाह से बराबर लाभ उठाया। नागपुर और बीजापुर में उन्होने जल-दान की नवीन योजना को और पूना, मैसूर तथा हैदराबाद में उन्होने जलोत्सारण योजना को सफल किया। उनकी सेवाओं के कारण तत्कालीन अँग्रेजी सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित किया। इसके साथ ही [illegible] ने डाक्टर आफ इंजीनियरिंग, कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी०, बम्बई-विश्वविद्यालय ने एल-एल० डी० काशी-विश्वविद्यालय ने डी० लिट्०, पटना-विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी०, प्रयाग-विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी० और मैसूर-विश्वविद्यालय ने उन्हें एल-एल० डी० की सम्मानित उपाधि देकर उनका गौरव बढ़ाया। एक इंजीनियर की हैसियत से इतना अधिक सम्मान पानेवाले वह पहले भारतीय थे।

विश्वेश्वरैया अपनी धुन के पक्के व्यक्ति थे। जिस काम को वह अपने हाथ में ले लेते थे उसे वह अपना समझकर करते थे। सत्याचरण के वह धनी थे। उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया था। लेकिन इसके साथ ही वह किसी के सामने झुकना नहीं जानते थे। उन्हें अपने बुद्धि-बल पर पूरा भरोसा रहता था। अपनी कला में उन्हें इतना अधिक विश्वास था कि वह इंजीनियरिंग के बड़े-बड़े पेचीदे मामले चुटकी बजाते हलकर लेते थे। लेकिन फिर भी उन्हें अपनी कला पर गर्व नहीं था। वह अपने आप को एक जिज्ञासु समझते थे और दूसरों से सीखने के लिए बराबर तैयार रहते थे। नयी चीजें सीखने की प्यास उनमें इतनी अधिक थी कि अवसर पाते ही वह विदेश-यात्रा पर निकल पड़ते थे और वहाँ घूम-फिरकर वह नवीनतम प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों का अध्ययन किया करते थे। सन् १६१६ ई०

में वह एक बार शिकागो (अमरीका) गये। वहाँ एक साधारण घटना ने उन्हें एक नया प्रकाश दिया। अपने आत्म-संस्मरण में इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है :—

"सन् १६१६ ई० में मुझे विश्व-भ्रमण का अवसर हाथ लगा। मेरे कुछ मित्रों की मंडली जा रही थी। मैं भी उसमें शामिल हो गया। इस समय तक मैं मैसूर के सरकारी काम से अवकाश ग्रहण कर चुका था। यों तो यह मेरी तीसरी विदेश-यात्रा थी, पर इस बार की इस छोटी-सी घटना को मैं आजीवन पुण्य-कथा की भाँति याद करते रहना चाहता हूँ।

घटना शिकागो की है। मैंने वहाँ एक पेशेवर लेखक से एक खास विषय पर लेख तैयार कर देने के लिए कहा। उसने मुझे बताया कि अमुक तारीख को वह लेख मुझे उसके सेक्रेटरी से प्राप्त हो जायगा। लेख के लिए ८ डालर अर्थात् ४० रु० देने की बात तय थी।

वह दिन भी आ गया। मैं जब उसकी दूकान पर गया, शाम के ५ से अधिक नहीं बजे थे। उसके वचनानुसार लेख उसके सेक्रेटरी के पास तैयार था। मैंने देखा, लेख सुन्दर था। अतः प्रसन्न होकर मैंने उसके सेक्रेटरी को ८ के बजाय ६ डालर दिये और होटल लौट आया। दूसरे दिन सुबह जब मैं शिकागो छोड़ने की तैयारी में लगा था तभी होटल का बैरा एक आदमी को लेकर पहुँचा। यह वही लेखक था जो मेरे द्वारा दिये गये डालर को लौटाने आया था। मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ। मजा तो यह कि बेचारा तीन-चार होटलों में पूछता-पूछता वहाँ पहुँचा था। उसे मेरा पता मालूम नहीं था। मैंने कहा—"तुमने चुपचाप इस डालर को अपनी जेब के हवाले क्यों नहीं कर लिया। यह तो मैंने अपनी ओर से प्रसन्न होकर तुम्हें दिया था।"

किन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। बोला—"महाशय! मेरी मजदूरी मुझे मिल गयी। उससे अधिक पर मेरा कोई अधिकार नहीं है।"

मैंने उसे समझाते हुए कहा—"जब कोई प्रसन्नता से देता है, तब अतिरिक्त लेने में हर्ज ही क्या है?"

उसने उत्तर दिया—"यदि मैं आपकी बख्शीश स्वीकार कर लूँगा तो मेरी मानसिक अशान्ति मुझे चैन न लेने देगी।"—और वह चला गया।"

शिकागो के इस साधारण लेखक की यह सत्य-निष्ठा वहाँ के विकसित एवं परिष्कृत राष्ट्रीय चरित्र की अत्यन्त प्रेरक मिसाल है। इस घटना ने विश्वेश्वरैया का ध्यान वर्तमान भारत के राष्ट्रीय आचरण के सुधार की ओर प्रेरित किया। विदेशों एवं भारत के राष्ट्रीय आचरणों की तुलना करते हुए उन्होंने बड़े मार्मिक निष्कर्ष निकाले। वहीं से उनका ध्यान शिक्षा-प्रसार की ओर भी गया। इसके बाद उन्होंने अधिक परिश्रम के साथ कई शिक्षा-संस्थाओं का संचालन किया। मैसूर में शिक्षा प्रसार का बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

विश्वेश्वरैया जीवेम शरदःशतम् के आदर्श थे। शरीर उनका दुर्बल हो गया था, पर उनका हृदय उत्साह से भरा रहता था। उनके स्वास्थ्य और उनकी कार्य-शक्ति पर आश्चर्य करते हुए एक बार किसी ने उनसे पूछा—"आपके इतना स्वस्थ होने का क्या रहस्य है?" विश्वेश्वरैया ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"सुनियंत्रित आचरण, कठिन परिश्रम, प्रसन्नता और भोग-विलास में संयम।" अपनी ९२वीं वर्षगांठ के अवसर पर उन्होंने कहा था—"मेरे इस ९२ वर्ष के दीर्घ जीवन-क्रम को आश्चर्य एवं प्रशंसा की दृष्टि से देखते हुए प्रायः लोग दीर्घायु का रहस्य मुझ से पूछने लगते हैं। वास्तव में मेरे पास इस प्रसंग में रहस्य-जैसी कोई संपत्ति नहीं है। मेरा जीवन-प्रवाह तो सदैव सरल एवं शान्त रहा है। कोई चमत्कार मैंने सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की। मैं गीता के मुक्ताहार-विहार का कायल रहा हूँ, किन्तु साथ ही मैं व्यक्तिगत रूप से यह आवश्यक समझता हूँ कि जीवन में आशावादी बने रहना एक बड़ा भारी चमत्कारी मंत्र है। मेरा स्वयं का अनुभव है कि आशावादी व्यक्ति हमेशा एक नयी स्फूर्ति एवं शक्ति से परिपूर्ण रहता है और इससे अच्छा दीर्घायु का बीमा और हो ही क्या सकता है? मैं मन को तन की अपेक्षा स्वस्थ्य एवं सफलता के लिए अधिक जिम्मेदार मानने का आदी हूँ।"

●●

गुरज़ाडा अप्पाराव

१८५७ ई० का विद्रोह भारत में वस्तुतः विदेशी शासनके विरुद्ध प्रथम जन-क्रान्ति थी। इस जन-क्रान्ति में झंझा का ऐसा वेग और दावानल की ऐसी दाहकता थी

जिसने देखते-देखते, एक छोर से दूसरे छोर तक समूचे देश को अपनी परिधि के भीतर लपेट लिया। इसमें शक नहीं कि झंझा का वह वेग और दावानल की वह दाहकता विदेशी शासन के दमन-चक्र की घनघोर वर्षा में क्षीण पड़ गयी, लेकिन वह शान्त नहीं हुई। उसने जन-मानस में पराधीनता के विरुद्ध जो खौलन उत्पन्न कर दी थी वह ज्यों-की-त्यों बनी रही। कालांतर में उसी खौलन ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए वाणी का आश्रय ग्रहण किया। राजा-राममोहन राय, महादेवगोविन्द रानडे, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, बंकिमचन्द्र चटर्जी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, लोकमान्य तिलक आदि वाणी के अमर पुत्रों ने उसका शुभ संदेश घर-घर पहुँचाया और इस प्रकार सारे देश में नव-चेतना उत्पन्न की। तेलुगू के राष्ट्र-कवि गुरज़ाडा अप्पाराव भी वाणी के उन्हीं अमर पुत्रों में से एक पुत्र थे।

गुरजाडा अप्पाराव का जन्म ३० नवम्बर, सन् १८६१ ई० को आँध्र-प्रदेश के अन्तर्गत विशाखपट्टणम् जिले के रायवरम नामक गाँव के एक सुसंस्कृत ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। वह बचपन से ही भावुक और काव्य-प्रेमी थे। उनका यह काव्य-प्रेम उनकी अवस्था के साथ धीरे-धीरे बढ़ता गया और अपने विद्यार्थी जीवन में ही वह तेलुगू और अँग्रेजी में उच्च कोटि की कविताएँ करने लगे। उनकी दो कविताएँ 'सारंगधर' और 'चन्द्रहास' बँगाल से प्रकाशित होनेवाली एक अँग्रेजी-

पत्रिका 'रीस एण्ड रैयत' में प्रकाशित हुई। इस पत्रिका के संपादक थे श्री शंभुचन्द्र मुखर्जी। उन्होंने विद्यार्थी गुरजाडा की राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर उन कविताओं की बड़ी प्रशंसा की। इससे गुराजडा का उत्साह बढ़ गया और वह बराबर लिखते रहे। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् तेलुगू-साहित्य की सेवा करना उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया।

जिस समय गुरजाडा अप्पाराव ने तेलुगू-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय तेलुगू-साहित्य परंपरागत रूढ़ियों से आबद्ध और अत्यन्त संकुचित था। भाषा व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई और बाह्याडंबरों से परिपूरित थी। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में साहित्य में प्रयोगार्थ जो तेलुगू-शब्द गढ़ लिये गये थे, उन्हीं का प्रयोग साहित्यिक रचनाओं में होता था। जनता की बोलचाल की भाषा में उन शब्दों का कोई महत्त्व नहीं था। इस प्रकार तेलुगू-साहित्य की भाषा जनता की भाषा से सर्वथा भिन्न हो गई थी। भाषा के भिन्न होने से तेलुगू-साहित्य कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित हो गया था और जन-जीवन से उसका संपर्क छूट गया था। कुछ गढ़े हुए अव्यावहारिक और अप्रचलित शब्दों के आधार पर कविता की जाती थी जिसमें जीवन की समस्याओं को स्थान न देकर शब्दों की कलाबाजी पर बल दिया जाता था। कहना चाहें तो यूँ कह सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-४१) के उदय के पूर्व हिन्दी-साहित्य की जो दशा थी वही दशा तेलुगू-साहित्य की भी थी। सन् १८५७ ई० की जन-क्रान्ति के विफल होने पर जब सारे देश ने अपनी त्रुटियों और भूलों का अनुभव किया और उनका परिष्कार करने के लिए धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में सुधार-आन्दोलनों का सूत्रपात किया तब भाषा और साहित्य पर भी उनका प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप प्रत्येक जनपदीय भाषा में साहित्य को नया रूप देने की योजना बनायी जाने लगी। बँगला में ईश्वरचंद विद्यासागर (सं० १८७७-१९४८), बंकिमचन्द्र चटर्जी (सं० १८९५-१९५१) तथा शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय (सं० १९३३-९४) ने, मराठी में कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर (सं० १८८१-१९३१) तथा गोपालकृष्ण आगरकर (सं० १९१३-५१) ने और हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-४१) ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेशकर अपनी-अपनी प्रतिभा से

उसमें नवीन जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा कर उसे चमकाने की चेष्टा की। इसी समय तेलुगू के साहित्य-क्षेत्र में जीदुगु राममूर्ति का आविर्भाव हुआ।

जीदुगु राममूर्ति अपने समय के चोटी के विद्वान थे। तेलुगू भाषा और साहित्य के आचार्य होने के साथ-साथ वह व्याकरण और भाषा-विज्ञान के भी पंडित थे। उन्होंने तेलुगू के लिखित शब्दों को बोलचाल के शब्दों के मेल में लाने और ग्रंथिक शैली के स्थान पर व्यावहारिक शैली की प्रतिष्ठा करने के लिए तेलुगु भाषा-भाषियों के बीच एक वृहत् आन्दोलन का सूत्रपात किया। ग्रंथिक शैली में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द की उन्होंने गहरी छान-बीन की और उसे तेलुगू-व्याकरण के विरुद्ध सिद्धकर उसके प्रयोग पर कुठाराघात किया। उनके तर्कों और उनकी आलोचनाओं ने ग्रंथिक शैली के समर्थकों का मुँह बन्द कर दिया। गुरजाडा अप्पाराव उस समय साहित्यिक क्षेत्र में उठ ही रहे थे। उन पर जीदुगु राममूर्ति के तर्कों का बहुत प्रभाव पड़ा और फिर उन्होंने व्यावहारिक शैली में ही लिखना और उसका प्रचार करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।

जीदुगु राममूर्ति व्यावहारिक तेलुगु भाषा के परिष्कारक और प्रचारक-मात्र थे। उनका अध्ययन गंभीर था, लेकिन उनमें साहित्य की सर्जन-शक्ति नहीं थी। उनकी प्रतिभा एक सुधारक की प्रतिभा थी। उनमें उस तेजस्विता का, उस प्रखरता का, उस गहनता का और उस सूक्ष्मता का सर्वथा अभाव था जो एक साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायक होते हैं। इसलिए वह साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में न उतर सके। गुरजाडा अप्पाराव का व्यक्तित्व एक साहित्यकार का व्यक्तित्व था। उनकी प्रतिभा एक साहित्यकार की प्रतिभा थी। इसलिए साहित्य-क्षेत्र में जो कार्य जीदुगु राममूर्ति नहीं कर सके उसे गुरजाडा अप्पाराव ने सफलतापूर्वक पूरा किया। इस अर्थ में गुरजाडा अप्पाराव जीदुगु राममूर्ति के पूरक थे।

गुरजाडा अप्पाराव स्वभाव से क्रान्ति-दर्शी थे। साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही उन्होंने तेलुगू-काव्य को रूढ़ियों से मुक्तकर उसे नया रूप प्रदान किया जिसे 'मुत्याल-सुरम' (मोतियों की माला) कहते हैं। अपने इस नाम के काव्य-संग्रह में उन्होंने जिन गीतों को स्थान दिया है उनमें राष्ट्रीय भावनाएँ भरी हुई हैं और उनमें प्राचीन और नवीन शैलियों का बड़े कलात्मक ढंग से समन्वय किया गया है। अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए उन्होंने अपने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—

पत्रिका 'रीस एण्ड रैयत' में प्रकाशित हुई। इस पत्रिका के संपादक थे श्री शंभुचन्द्र मुखर्जी। उन्होंने विद्यार्थी गुरज़ाडा की राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर उन कविताओं की बड़ी प्रशंसा की। इससे गुराज़डा का उत्साह बढ़ गया और वह बराबर लिखते रहे। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् तेलुगू-साहित्य की सेवा करना उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया।

जिस समय गुरज़ाडा अप्पाराव ने तेलुगू-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय तेलुगू-साहित्य परंपरागत रूढ़ियों से आबद्ध और अत्यन्त संकुचित था। भाषा व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई और बाह्याडंबरों से परिपूरित थी। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में साहित्य में प्रयोगार्थ जो तेलुगू-शब्द गढ़ लिये गये थे, उन्हीं का प्रयोग साहित्यिक रचनाओं में होता था। जनता की बोलचाल की भाषा में उन शब्दों का कोई महत्त्व नहीं था। इस प्रकार तेलुगू-साहित्य की भाषा जनता की भाषा से सर्वथा भिन्न हो गई थी। भाषा के भिन्न होने से तेलुगू-साहित्य कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित हो गया था और जन-जीवन से उसका संपर्क छूट गया था। कुछ गढ़े हुए अव्यावहारिक और अप्रचलित शब्दों के आधार पर कविता की जाती थी जिसमें जीवन की समस्याओं को स्थान न देकर शब्दों की कलाबाजी पर बल दिया जाता था। कहना चाहें तो यूँ कह सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-४१) के उदय के पूर्व हिन्दी-साहित्य की जो दशा थी वही दशा तेलुगू-साहित्य की भी थी। सन् १८५७ ई० की जन-क्रान्ति के विफल होने पर जब सारे देश ने अपनी त्रुटियों और भूलों का अनुभव किया और उनका परिष्कार करने के लिए धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में सुधार-आन्दोलनों का सूत्रपात किया तब भाषा और साहित्य पर भी उनका प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप प्रत्येक जनपदीय भाषा में साहित्य को नया रूप देने की योजना बनायी जाने लगी। बँगला में ईश्वरचंद विद्यासागर (सं० १८७७-१९४८), बंकिमचन्द्र चटर्जी (सं० १८९५-१९५१) तथा शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय (सं० १९३३-९४) ने, मराठी में कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर (सं० १८८१-१९३१) तथा गोपालकृष्ण आगरकर (सं० १९१३-५१) ने और हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-४१) ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेशकर अपनी-अपनी प्रतिभा से

उसमें नवीन जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा कर उसे चमकाने की चेष्टा की। इसी समय तेलुगू के साहित्य-क्षेत्र में जीदुगु राममूर्ति का आविर्भाव हुआ।

जीदुगु राममूर्ति अपने समय के चोटी के विद्वान थे। तेलुगू भाषा और साहित्य के आचार्य होने के साथ-साथ वह व्याकरण और भाषा-विज्ञान के भी पंडित थे। उन्होंने तेलुगू के लिखित शब्दों को बोलचाल के शब्दों के मेल में लाने और ग्रंथिक शैली के स्थान पर व्यावहारिक शैली की प्रतिष्ठा करने के लिए तेलुगु भाषा-भाषियों के बीच एक वृहत् आन्दोलन का सूत्रपात किया। ग्रंथिक शैली में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द की उन्होंने गहरी छान-बीन की और उसे तेलुगू-व्याकरण के विरुद्ध सिद्धकर उसके प्रयोग पर कुठाराघात किया। उनके तर्कों और उनकी आलोचनाओं ने ग्रंथिक शैली के समर्थकों का मुँह बन्द कर दिया। गुरजाडा अप्पाराव उस समय साहित्यिक क्षेत्र में उठ ही रहे थे। उन पर जीदुगु राममूर्ति के तर्कों का बहुत प्रभाव पड़ा और फिर उन्होंने व्यावहारिक शैली में ही लिखना और उसका प्रचार करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।

जीदुगु राममूर्ति व्यावहारिक तेलुगु भाषा के परिष्कारक और प्रचारक-मात्र थे। उनका अध्ययन गंभीर था, लेकिन उनमें साहित्य की सर्जन-शक्ति नहीं थी। उनकी प्रतिभा एक सुधारक की प्रतिभा थी। उनमें उस तेजस्विता का, उस प्रखरता का, उस गहनता का और उस सूक्ष्मता का सर्वथा अभाव था जो एक साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायक होते हैं। इसलिए वह साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में न उतर सके। गुरजाडा अप्पाराव का व्यक्तित्व एक साहित्यकार का व्यक्तित्व था। उनकी प्रतिभा एक साहित्यकार की प्रतिभा थी। इसलिए साहित्य-क्षेत्र में जो कार्य जीदुगु राममूर्ति नहीं कर सके उसे गुरजाडा अप्पाराव ने सफलतापूर्वक पूरा किया। इस अर्थ में गुरजाडा अप्पाराव जीदुगु राममूर्ति के पूरक थे।

गुरजाडा अप्पाराव स्वभाव से क्रान्ति-दर्शी थे। साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही उन्होंने तेलुगू-काव्य को रूढ़ियों से मुक्तकर उसे नया रूप प्रदान किया जिसे 'मुत्याल-सुरम' (मोतियों की माला) कहते हैं। अपने इस नाम के काव्य-संग्रह में उन्होंने जिन गीतों को स्थान दिया है उनमें राष्ट्रीय भावनाएँ भरी हुई हैं और उनमें प्राचीन और नवीन शैलियों का बड़े कलात्मक ढंग से समन्वय किया गया है। अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए उन्होंने अपने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—

"आप कहते हैं कि आप इसकी प्रशंसा नहीं करेंगे। इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। जो आखें लकड़ी के खिलौनों पर ही टिकी रहती हैं वे तरुणी की सुकुमारता की सराहना नहीं कर सकतीं।" और यह सच भी है। गुरज़ाडा अप्पाराव ने कभी अपने आलोचकों के कटु आक्षेपों की चिन्ता नहीं की। वह अपने उद्देश्य पर आरूढ़ रहे और उसी की वकालत करते रहे।

राष्ट्र-कवि होने के अतिरिक्त गुरज़ाडा अप्पाराव अपने समय के एक उच्च कोटि के निबंधकार भी थे। उनके पूर्व कन्दुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु, काशीकट्ट ब्रह्मय्या शास्त्री आदि तेलुगू-साहित्य में अपने-अपने निबंधों की बानगी प्रस्तुत कर चुके थे, लेकिन उनके निबंध मात्र-प्रचारक थे। उनमें निबंध-कला का अभाव था। इसके अतिरिक्त उनके निबंधों में विषयों की विविधता नहीं थी। गुरज़ाडा अप्पाराव ने इन सभी अभावों की पूर्ति की। अँग्रेजी के निबंध-साहित्य का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था और वह निबंध-कला से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने साहित्य, इतिहास, भाषा, शैली, व्याकरण, छंद, शिक्षा, राजनीति, समाज-सुधार आदि अनेक विषयों पर बड़े रोचक और प्रभावशाली निबंध लिखे। पुरातत्त्व के प्रति भी उनकी विशेष रुचि थी। इस विषय पर उन्होंने अनेक लेख ही नहीं लिखे, बल्कि इस दिशा में उन्होंने शोध-कार्य भी किया और 'कलिंगदेश-चरित्र' तथा 'विजयनग-चरित्र' नामक ऐतिहास-ग्रंथों की रचना भी की। जगह-जगह घूमकर उन्होंने शिला-लेखों की प्रतिलिपियाँ एकत्र कीं और तेलुगु के आदि कवि नन्नप्पा से पूर्व के साहित्य की छानबीन कर उसकी प्राचीनता को प्रमाणित किया। उन्होंने आलोचनात्मक निबंध भी लिखे, किन्तु उनके आलोचनात्मक निबंध सीमाओं से बंधे नहीं थे। काव्य का रूप कैसा होना चाहिए, काव्य में शृंगार-पक्ष कहाँ तक और किस रूप में होना चाहिए, काव्य की भाषा कैसी होनी चाहिए, आदि विषयों पर उन्होंने तर्क-प्रधान शैली में अपने आलोचनात्मक निबंधों की रचना की। इस प्रकार उन्होंने सैद्धान्तिक आलोचना के निबंध भी लिखे और उनके द्वारा तेलुगू के भावी कवियों का पथ-प्रदर्शन किया।

गुरजाड़ा अप्पाराव एक क्रान्तिकारी समाज-सुधारक भी थे। अपनी कविताओं-द्वारा उन्होंने अपनी देश-भक्ति का और अपने निबन्धों, नाटकों, कहानियों और उपन्यासों-द्वारा उन्होंने अपने समाज-प्रेम का परिचय दिया। उनकी प्रतिभा

बहुमुखी थी और वह एक कर्मठ साहित्यकार थे। देश और समाज के हित-चिन्तन में ही उनका सारा समय बीतता था। विजयानगरम के महाराज अन्नदा आनन्द गजपती के राज्य में वह एक उच्च अधिकारी थे। उस समय आंध्र में एक विचित्र प्रथा थी। आँध्र के कुछ भागों में वर-पक्ष से धन लेकर कन्याओं का विवाह किया जाता था। ऐसे विवाहों में कन्या की अवस्था के आधार पर उसका मूल्य निश्चित किया जाता था। एक साल की अबोध कन्या का मूल्य ३५० रु० से ४०० रु० तक कूता जाता था। गर्भ की कन्याओं तक का सौदा होता था। आनन्द गजपती ने इस दूषित प्रथा का उन्मूलन करने का निश्चय किया। गुरज़ाडा अप्पाराव के सहयोग से उन्होंने इस प्रथा के सम्बन्ध में काफी छानबीन की। इससे उन्हें पता चला कि केवल विशाखपट्टनम् जिले में तीन वर्ष के भीतर कन्या-विक्रय के आधार पर १०३४ विवाह हुए। एक वर्ष में पाँच वर्ष की अवस्था की ९९ कन्याओं का, चार वर्ष की अवस्था की ४४ कन्याओं का और तीन वर्ष की अवस्था की ३६ कन्याओं का विवाह संपन्न हुआ। तीन ऐसी कन्याओं का भी विवाह हुआ जिनकी अवस्था केवल एक वर्ष की थी। इन आँकड़ों ने सब की आँखें खोल दीं। साहित्य भी इससे अछूता न रह सका।

गुरज़ाडा अप्पाराव समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर गद्य की विविध विधाओं को समाज-सुधार का माध्यम बनाया और उनमें पूरी सफलता प्राप्त की। निबंधकार होने के साथ-साथ अपने समय के वह एक प्रसिद्ध कहानीकार भी थे। उन्होंने अनेक सामाजिक कहानियाँ लिखीं जिनमें उन्होंने आँध्र में प्रचलित तत्कालीन विवाह के विरुद्ध आवाज उठाई। इसदृष्टि से उनकी 'पूरनम्मा' शीर्षक कहानी अत्यधिक लोक-प्रिय हुयी। अपनी इस कहानी में उन्होंने एक ऐसी छोटी अवस्था की कन्या का चरित्र-चित्रण किया जो एक वृद्ध से विवाह न कर आत्म-हत्या कर लेती है। एक दूसरी कहानी 'कन्यका' में उन्होंने एक ऐसी तरुणी के चरित्र का अंकन किया जो अपने राज्य के राजा के प्रेम को ठुकराकर अपना जीवन उत्सर्ग कर देती है। इसमें शक नहीं कि उनकी कहानियों के ये विषय साधारण हैं, पर उन्होंने जिस कलात्मक ढङ्ग से इन विषयों को अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त सामयिक रोचक और प्रभावोत्पादक है। इनमें सामाजिक कुरीतियों के प्रति उन्होंने जो व्यंग्य किये हैं उनमें सहज मधुरता है, ईर्ष्या-द्वेश की

भावना नहीं है। उन्होंने प्रत्येक सामाजिक समस्या को मानवतावाद के दृष्टिकोण से समझने-समझाने और उसे हल करने की सफल चेष्टा की है।

समाज-सुधार के आन्दोलन को सफल बनाने का एक साहित्यिक माध्यम नाटक भी है। गुरजाडा अप्पाराव ने इस ओर भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया और उन्होंने कई सामाजिक नाटकों की रचना की जिनमें से 'कन्या-शुलकम्' का काफी अच्छा प्रचार हुआ। इस नाटक ने उन्हें तेलुगु-साहित्य में अमर कर दिया। इसमें उन्होंने कन्या-विक्रय पर गहरा व्यंग्य किया। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा—'ऐसी कलंकपूर्ण परिस्थितियाँ समाज के लिए अपमानजनक हैं। इन कुरीतियों का भंडाफोड़ करना और जन-जीवन में उच्च नैतिक मूल्यों की स्थापना करना ही साहित्य का चरम लक्ष्य होना चाहिए। जबतक जनता में साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत न हो जाय तबतक इस दिशा में स्वस्थ प्रयत्न जारी रखना प्रत्येक साहित्यकार का कर्तव्य है। मैंने इसी भावना से प्रेरित होकर 'कन्या शुलकम्' की रचना की है।'' उनके इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनमें सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के प्रति अत्यंत तीव्र भावना थी। सामाजिक सुधार के लिए रंगमंच के महत्त्व को स्वीकार करनेवाले संभवतः वह पहले साहित्यकार थे। उनका 'कन्या-शुलकम्' एक मौलिक नाटक है। यह अत्यन्त रोचक और हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण है। इसका 'थीम' कन्या-विक्रय है, परन्तु इसके साथ ही इसमें उन्होंने एकजाति-विशेष का सम्पूर्ण जीवन भी झलका दिया है। इसके सभी पात्र तेलुगु भाषा-भाषी हैं। घटना और प्रभाव की एकता की दृष्टि से इसका प्रत्येक दृश्य बेजोड़ है। तेलुगु ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में भी इसकी जोड़ का दूसरा नाटक नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरजाडा अप्पाराव अपने समय के एक चोटी के साहित्यकार ही नहीं, बल्कि एक सुविख्यात और सुलझे हुए समाज-सुधारक भी थे। अपनी अनवरत निस्स्वार्थ सेवाओं से उन्होंने तेलुगु-साहित्य का नव-निर्माण किया औरउसमें कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध, जीवनी आदि कई गद्य-विधाओं की स्थापना कर उसका विकास किया। अपने साहित्य-निर्माण में उन्होंने समाज और देश, दोनों को स्थान दिया। अपने काव्य में उन्होंने अपने देश-प्रेम का परिचय ही नहीं दिया, बल्कि उन्होंने उसकी व्याख्या भी की। उन्होंने धरती को देश नहीं

समझा, उस धरती पर बसनेवाले लोगों को देश समझा और उन्ही से प्रेम करने को राष्ट्र-प्रेम की संज्ञा दी। उन्होंने कहा—देशमेंटे मट्टिका दोय, देशमेंटे मनुषु लोय। अर्थात् देश का अर्थ मिट्टी नहीं, देश का अर्थ मनुष्य है। इससे स्पष्ट है कि वह जन-हित को ही देश-प्रेम मानते थे। वह वस्तुतः प्रेम के साहित्यकार और मानवता के पुजारी थे। अफसोस यही है कि वह वृद्धावस्था में पैर रखते ही ३० नवम्बर, सन् १६१५ ई० को इस असार ससार से विदा हो गये। उस समय उनकी अवस्था केवल ४६ वर्ष की थी। उन्होंने बड़ी सचाई और लगन से लगभग २५ वर्ष तक तेलुगु-साहित्य की सेवा की। आधुनिक तेलुगु- साहित्य उन्हीं की देन है और जबतक इसका विकास होता रहेगा तबतक उन्हें बड़े आदर और सम्मान के साथ तेलुगु के साहित्यकार और संपूर्ण भारत के साहित्य-सेवी उनको याद करते रहेंगे। साहित्यकार मरता नहीं, वह अपने साहित्य में जीवित रहता है।

●●

गोपाल कृष्ण गोखले

सन् १८५७ ई० की राजनीतिक आँधी ने सारे देश में राष्ट्रीय भावना के जो बीज छितरा दिये थे वे धीरे-धीरे अकुरित और पल्लवित हुए और उन्होंने अनुकूल वातावरण पाकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया। २८ दिसम्बर, सन् १८८५ ई० को दिन के बारह बजे बम्बई के गोकुलदास-तेजपाल संस्कृत कालेज के विस्तृत भवन में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन हुआ। इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे, व्योमेशचन्द्र बनर्जी। इसमें दादाभाई नौरोजी, आनन्द चार्लू, काशीनाथ तैलंग, नरेन्द्रनाथ सेन, उमेश बनर्जी, फीरोजशाह मेहता आदि भारत के ७२ प्रतिनिधियों ने भाग लिया और उन्होंने भारत-माता के पैरों में पड़ी पराधीनता की बेड़ियाँ काटकर उसे स्वतंत्र करने का निश्चय किया। उस समय गोपालकृष्ण गोखले लगभग उन्नीस वर्ष के थे और विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर अपने भावी जीवन का मार्ग खोज रहे थे। देश-सेवा की उमँग उनके हृदय में बचपन से ही भरी हुई थी। काँग्रेस की स्थापना से उनकी इस उमँग को बढ़ावा मिला और फिर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज और देश की सेवा में लगा दिया। भारत के वह एक सच्चे कर्मयोगी थे।

गोपालकृष्ण गोखले का जन्म रत्नागिरि (महाराष्ट्र प्रदेश) जिले के चिपलूण नामक ताल्लुके के अन्तर्गत कोतलूक नामक गाँव में ६ मई, १८६६ ई० को हुआ था। महाराष्ट्र के मध्य-युगीन इतिहास में इस गाँव के गोखले-वंश के लोग अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। छत्रपति शिवाजी के पुत्र शाहुजी

महाराज ने इस वंश के एक व्यक्ति को उनकी ईमानदारी से प्रसन्न होकर 'रास्ते' की उपाधि दी थी। 'रास्ते' का अर्थ है, ईमानदारी से काम करनेवाला। इसी वंश के सेनापति बापू गोखले ने पेशवाई के अंतिम दिनों में अष्टी के युद्ध में वीर-गति प्राप्त की थी। ऐसे वीर-वंश का रक्त बालक गोपालकृष्ण की नस-नस में भरा हुआ था। उनके पिता का नाम कृष्णराव श्रीधर गोखले और उनकी माता का नाम सत्यभामाबाई था। कृष्णराव श्रीधर गोखले की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, पर स्वाभिमान की मात्रा उनमें अत्यधिक थी। कोल्हापुर के विद्यालय में महादेवगोविन्द रानडे उनके सहपाठी थे। रानडे धीरे-धीरे उन्नति कर बम्बई-हाईकोर्ट के न्यायाधीश हो गये, लेकिन कृष्णराव की पढ़ाई आर्थिक कठिनाइयों के कारण बीच में ही छूट गयी और फिर उन्होंने कागाल-संस्थान में नौकरी कर ली। धीरे-धीरे वह कागाल के फौजदार हो गये। उनकी पत्नी सत्य-भामाबाई बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल था और उनकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी। बालक गोपालकृष्ण के जीवन पर उनके इन गुणों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

गोपालकृष्ण गोखले अपने माता-पिता की दूसरी सन्तान थे। उनके बड़े भाई का नाम गोविन्दराव गोखले था। गोविन्दराव गोखले अवस्था में गोपालकृष्ण गोखले से लगभग ५-६ वर्ष बड़े थे। लेकिन दोनों भाई एक साथ कागाल में पढ़ते थे। पढ़ने-लिखने में गोपालकृष्ण अपने भाई से बहुत तेज थे। इसके साथ ही वह धर्म-भीरु भी थे। गणित की ओर उनकी विशेष रुचि थी और वह इस विषय में सबसे आगे रहते थे। एक दिन उनके अध्यापक ने उन्हें घर पर हल करने के लिए कुछ प्रश्न दिये। उन प्रश्नों में से एक प्रश्न कुछ कठिन था। गोपालकृष्ण ने उसे कई बार हल किया, परन्तु उसका सही उत्तर वह न निकाल सके। हताश होकर उन्होंने किसी ऊँची कक्षा के एक विद्यार्थी की सहायता से उसे हल कर लिया। दूसरे दिन जब विद्यालय में सब विद्यार्थियों की उत्तर-पुस्तकें देखी गयी तब केवल गोपालकृष्ण गोखले ही एक ऐसे विद्यार्थी निकले जिसके सब प्रश्न सही निकले। इससे उनके अध्यापक को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह उन्हें पुरस्कार देने लगे। अध्यापक का पुरस्कार देने के लिए हाथ बढ़ाना था कि गोपालकृष्ण की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। गोपालकृष्ण को फूट-फूट कर रोते देख अध्यापक

आश्चर्य में पड़ गये । पुरस्कार के समय रोना कैसा ! उन्होंने गोपालकृष्ण को पोट-फुसलाकर उनसे रोने का कारण पूछा । गोपालकृष्ण ने उत्तर दिया— "आपने हल करने के लिए जितने प्रश्न दिये थे उनमें से एक प्रश्न मैं नहीं लगा सका । उसे मैंने दूसरे विद्यार्थी से पूछकर हल किया है । इसलिए मैं पुरस्कार का अधिकारी नहीं हूँ ।" यह थी बालक गोपालकृष्ण की ईमानदारी और सत्य-प्रियता ! उस समय वह केवल सात-आठ वर्ष के अबोध बालक थे । अध्यापक ने उनकी सत्य-प्रियता के लिए उन्हें पुरस्कृत किया ।

गोपालकृष्ण गोखले प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे । अध्ययन के साथ-साथ खेल-कूद में भी उनका जी लगता था । कागाल में ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा संपन्न हुई । उस समय वह १३ वर्ष के थे । अध्ययन की ओर उनकी बढ़ती हुई रुचि देखकर उनके पिता ने उन्हें कोल्हापुर भेजने का विचार किया, पर वह अपनी इच्छा पूरी न कर सके । सन् १८७६ ई० में उनका अकस्मात स्वर्गवास हो गया । इस असामयिक वज्रपात से माता सत्यभामाबाई का हृदय चकनाचूर हो गया । परन्तु वह कर ही क्या सकती थीं ! विवश होकर वह कागाल से रत्ना-गिरि चली गयी । रत्नागिरि में उनके जेठ अंताजी पंत रहते थे । साधारण स्थिति थी उनकी और इस पर तीन व्यक्तियों के भरण-पोषण का प्रश्न ! ऐसी स्थिति में गोविन्दराव गोखले को जीवन के संघर्ष में प्रवेश करना पड़ा । उस समय उनकी अवस्था केवल १८ वर्ष की थी । अधिक पढ़े-लिखे तो थे नहीं । इसलिए उन्हें १५ रु० प्रतिमास की नौकरी करनी पड़ी । इससे डूबते को तिनके का सहारा मिल गया ।

गोविन्दराव बहुत समझदार थे । उन्हें अपनी जिम्मेदारियों का पूरा अनुभव था । वह स्वयं कम पढ़े-लिखे थे, पर गोपाल को वह उच्च-से-उच्च शिक्षा देने के इच्छुक थे । उन्हें विश्वास था कि एक दिन गोपाल बड़ा होकर अपने परिवार के कष्टों को ही नहीं, बल्कि अपने देश-वासियों के दुःख-दर्द को भी दूर करने में सफल होगा । इसलिए उन्होंने अपनी माता के साथ अनेक प्रकार के कष्ट सहन करगोपाल को पढ़ाया । गोपालकृष्ण कोल्हापुर में पढ़ते थे । उनके लिए गोविन्द-राव ८ रु० प्रतिमास भेज देते थे और ७ रु० में अपनी गृहस्थी चलाते थे । उनके कष्ट से गोपालकृष्ण भलीभाँति परिचित थे । इसलिए वह भी ८ रु० से अधिक व्यय नहीं करते थे और प्रतिमास अपने भाई के पास ८ रु० का

सच्चा हिसाब भेज दिया करते थे। वह बड़े मितव्ययी थे। यदि भूल से उनसे किसी काम में अनुचित व्यय हो जाता था तो वह एक ही समय खाकर उसकी पूर्ति कर लिया करते थे। मिट्टी के तेल के लिए पैसा न होने पर वह म्युनिसिपल-लालटेन के प्रकाश में पढ़ा करते थे। ऐसी थी उनकी लगन और ऐसा संयमी था उनका विद्यार्थी-जीवन ! इस प्रकार १८८१ ई० में उन्होंने मैट्रिक पास किया और फिर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वह कोल्हापुर के राजाराम कालेज में प्रविष्ट हुए। कालेज में वह बहुत तेज तो नहीं थे, पर उनकी स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि एक ही बार में उन्हें अँग्रेजी की पुस्तकें कंठस्थ हो जाती थीं। इससे अँग्रेजी पर उनका पूरा अधिकार हो गया था। इतिहास और विशेषतः यूरोपियन इतिहास के प्रति उनका विशेष अनुराग था। इस विषय का अध्ययन वह यह जानने के लिए करते थे कि बड़े-बड़े राष्ट्रों का निर्माण किस प्रकार होता है और पराधीन राष्ट्रों ने किस प्रकार अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की है। उनके अध्ययन का दूसरा विषय था अर्थशास्त्र। इस विषय के अध्ययन-द्वारा वह पता लगाया करते थे कि दरिद्र राष्ट्र किस प्रकार आर्थिक दृष्टि से संपन्न बनाया जा सकता है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही उनकी रुचि देश-सेवा की ओर थी। राजाराम कालेज के बाद उन्होंने कुछ समय तक पूना के डेक्कन कालेज में अध्ययन किया और फिर बम्बई के एलफिस्टन कालेज से उन्होंने अठारह वर्ष की अवस्था में द्वितीय श्रेणी में बी० ए० पास किया। उन दिनों उन्हें २० रु० प्रतिमास छात्र-वृत्ति भी मिलती थी।

बी० ए० पास करने के बाद गोपालकृष्ण के सामने जीविका का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। पहले उन्होंने वकालत पढ़ने का विचार किया, किन्तु धनाभाव के कारण उन्हें यह विचार त्याग देना पड़ा। इंजीनियरिंग पढ़ने के मार्ग में भी यही कठिनाई उपस्थित हो गयी। अन्त में ऋण लेकर उन्होंने इंग्लैण्ड जाने और वहाँ आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने का विचार किया, पर उनका यह विचार भी पूरा न हो सका। इसी समय पूना के न्यू इंग्लिश स्कूल में ३५ रु० मासिक वेतन पर वह अध्यापक नियुक्त हो गये। अँग्रेजी पर उनका असाधारण अधिकार था ही। इसलिए थोड़े ही दिनों में वह चमक उठे। अपने अवकाश के समय में वह अपने एक मित्र के साथ 'पब्लिक सर्विस सर्टिफिकेट परीक्षा' के विद्यार्थियों को

भी पढ़ाया करते थे। इससे उन्हें ३०-३५ रु० की अतिरिक्त आमदनी हो जाती थी। इस प्रकार उनका तथा उनके परिवार का काम अच्छी तरह चल जाता था।

जिन दिनों गोपालकृष्ण गोखले विद्यार्थी थे उन दिनों महाराष्ट्र में एक नई चेतना का उदय हो रहा था। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, रानडे, लोकमान्य तिलक, गोपालगणेश आगरकर आदि देश-भक्त अपनी अलौकिक प्रतिभा और योग्यता से महाराष्ट्र की शुष्क नसों में नवीन रक्त का संचार कर रहे थे। इन महापुरुषों ने पूना में दक्षिण-शिक्षा-समिति (डेक्कन एडूकेशन सुसायटी)की स्थापनाकी थी। इस समिति के सदस्यों को २० वर्ष तक ७५ रु० मासिक वेतन पर अध्यापन-कार्य करने का व्रत लेना पड़ता था। २० वर्ष बाद ३० रु० मासिक पेंशन का भी नियम था। इसी समिति की देख-रेख में न्यू इंग्लिश स्कूल १८८० ई० में खोला गया था। बहुत-से होनहार नवयुवक इस समिति के सदस्य थे। इन नवयुवकों में गोपालगणेश आगरकर प्रमुख थे। वह एम० ए० थे और तर्क, न्याय तथा नीति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान थे। दरिद्रता उनके जीवन का आभूषण थी। उनकी देश-भक्ति और त्याग का गोपालकृष्ण गोखले पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा और वह भी समिति के सदस्य हो गये। सन् १८८५ ई० में जब 'न्यू इंग्लिश स्कूल' फर्ग्यूसन कालेज के रूप में परिणत हो गया तब गोपालकृष्ण गोखले उसमें अँग्रेजी के प्रोफेसर हो गये। कुछ दिनों बाद लोकमान्य तिलक ने फर्ग्यूसन कालेज छोड़ दिया। वह गणित पढ़ाया करते थे। उनके चले जाने पर गोखले को गणित पढ़ाने का कार्य सौंपा गया। इस विषय पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी जिससे उन्हें १२५ रु० प्रति मास की आमदनी हो जाती थी। वह एक कुशल अध्यापक और समिति के उत्साही कार्य-कर्ता थे। अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त वह फर्ग्यूसन कालेज के लिए चन्दा माँगने भी जाया करते थे। अपने उद्योग से उन्होंने कालेज के लिए दो लाख रुपया एकत्र किया था।

गोपालकृष्ण गोखले को देश-सेवा की ओर लानेवाले थे—महादेवगोविन्द रानडे। महामना रानडे से उनका परिचय सन् १८८५ ई० में हुआ था। रानडे उनके पिता के सहपाठी भी रह चुके थे। इसलिए रानडे की उन पर विशेष कृपा थी। रानडे उन्हें राजनीति की शिक्षा दिया करते थे। वह उनसे विभिन्न विषयों पर लेख लिखवाते थे और उनका संशोधन करते थे। पूना में एक संस्था थी,

'सार्वजनिक सभा'। राजनीतिक मामलों में इस सभा की विशेष दिलचस्पी थी। गोखले इस सभा के सदस्य थे। इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी। गोखले इस पत्रिका के संपादक थे। इसमें राजनीति और अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर लेख छपा करते थे। इसी पत्रिका की बदौलत गोखले का इण्डियन नेशनल काँग्रेस के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ और वह उसके कार्य-क्रम में भाग लेने लगे।

सन् १८९६ ई० में गोखले पहली बार इंग्लैण्ड गये। उस समय उनकी अवस्था तीस वर्ष की थी। रानडे के संपर्क में रहने से उन्हें देश की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का पूरा ज्ञान हो गया था और बम्बई-प्रेसीडेंसी एसोसियेशन और डेक्कन-सभा ने उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर 'वलबी कमीशन, के सामने गवाही देने के लिए भेजा था। इस कमीशन की नियुक्ति भारतीय व्यय की जाँच करने के लिए की गयी थी। गोखले ने स्पष्ट शब्दों में भारतीय व्यय की आलोचना की। इससे देश-विदेश में उनकी बड़ी प्रशंसा हुई। परन्तु इसी समय वह एक कुचक्र में फँस गये। बंबई-प्रदेश में, विशेषत: पूना और नासिक आदि स्थानों में, पहली बार प्लेग फैला। जबरदस्ती प्लेग का टीका लगाया जाने लगा। प्लेग के रोगियों को उनके निवास-स्थान से हटाने का काम गोरे सिपाहियों को सौंपा गया। इससे जनता में बहुत असंतोष फैला। गोखले उन दिनों इंग्लैण्ड में ही थे। उन्होंने अँग्रेजी-पत्रों में बम्बई-सरकार के सहायता-सम्बन्धी कार्यों की तीव्र आलोचना की। फलस्वरूप बम्बई-सरकर से उस मामले की जाँच करने के लिए कहा गया। बम्बई-सरकार ने पूना के सौ व्यक्तियों के पास पत्र लिखकर पूछ-ताछ आरंभ की, परन्तु सरकार के भय से किसी ने उचित उत्तर नहीं दिया। ऐसी स्थिति में गोखले के आक्षेप निर्मूल सिद्ध हुए और उन्हे माफी माँगनी पड़ी। इस विष को गोखले पी गये। विदेश में तो नहीं, पर अपने देश में वह निन्दा के पात्र हो गये। वह इंग्लैण्ड से स्वदेश लौट आये और उन्होंने अपनी निन्दा अथवा प्रशंसा की परवाह न कर स्वयंसेवकों की सहायता से दिन-रात प्लेग के रोगियों की बड़ी सेवा की और फिर १८९८ ई० में उन्होंने अपनी माफी के सम्बन्ध में एक विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य प्रकाशित किया। इससे जनता को अपनी भूल मालूम हो गयी और फिर देश

विद्यार्थियों ने उन्हें जो मान-पत्र दिया वह कालेज के जीवन की एक अभूतपूर्व घटना थी। अब तक ऐसा समारोह नहीं हुआ था। इससे मालूम होता था कि विद्यार्थियों के हृदय में उनके प्रति कितना आदर का भाव था।

फर्ग्यूसन कालेज से अवकाश ग्रहण करने के बाद गोखले स्वतंत्र हो गये। उस समय फीरोजशाह मेहता के स्थान पर बम्बई की लेजिस्लेटिव कौंसिल ने उनको वाइसराय की सुप्रीम लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिए अपना प्रतिनिधि चुना। अपने इस पद से गोखले ने जनता के अधिकारों की पूरी तरह रक्षा की। २६ मार्च, १९०२ ई० को उन्होंने भारत के आय-व्यय के अनुमान-पत्र के संबंध में अपना जो भाषण दिया वह प्रत्येक दृष्टि से मौलिक और सारगर्भित था। उस समय लार्ड कर्जन वाइसराय थे। वह बहुत प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और स्वाभिमानी थे। ऐसे राजनीतिज्ञ और स्वाभिमानी को भी गोखले की विद्वत्ता का लोहा मानना पड़ा। लार्ड कर्जन के बाद और भी जितने वाइसराय आये, सब ने मुक्त-कंठ से उनकी विद्वत्ता की सराहना की। बजट के वह अद्वितीय आलोचक थे और अपनी आलोचनाओं से वह विरोधियों का मुँह बन्द कर देते थे।

वाइसराय की कौंसिल में रहते हुए भी गोखले जन-सेवा से उदासीन नहीं थे। नवयुवकों में देश-प्रेम और देश-सेवा की भावना जाग्रत करने के लिए उन्होंने पूना में १२ जून, सन् १९०५ ई० को भारत-सेवक-समिति (सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सुसाइटी) की स्थापना की। देश के बड़े-बड़े नेताओं और उच्च शिक्षा-प्राप्त नवयुकों ने सहर्ष इसकी सदस्यता स्वीकार की और यह शीघ्र ही एक अखिल भारतीय संस्था बन गयी। यह संस्था आज भी जीवित है और इसके द्वारा जन-सेवा-कार्य किया जा रहा है। यह गोखले का वास्तविक स्मारक है।

१८८९ ई० से गोखले काँग्रेस के सदस्य थे, पर उन्होंने उसके मामलों में विशेष दिलचस्पी नहीं ली थी। उनके भाषण अवश्य होते थे और वह अपने भाषण में सरकार की वित्त-नीति की आलोचना किया करते थे। कड़ी-से-कड़ी बात की मधुर आलोचना करने में वह सिद्धहस्त थे। उनके इस गुण पर मुग्ध होकर सन् १९०५ ई० में काँग्रेस ने उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर इंगलैण्ड भेजा। इंग्लैण्ड में पचास दिन तक रहकर उन्होंने 'रायल कमीशन' के सामने ४५ व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों का देश-विदेश में अच्छा स्वागत हुआ। स्वदेश लौटने पर वह

काशी-काँग्रेस के सभापति बनाये गये। काँग्रेस का अधिवेशन समाप्त होने पर सन् १९०६ ई० में वह फिर काँग्रेस के प्रतिनिधि होकर इंग्लैण्ड गये। इस बार उन्होंने बंग-भंग के विरोध में बहुत काम किया। बड़े-बड़े अधिकारियों और संसद के सदस्यों से मिलकर उन्होंने काँग्रेस के तत्संबंधी प्रस्तावों को उनके सामने रखा और उनसे आश्वासन प्राप्त किया। इसी वर्ष कलकत्ता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति थे—पितामह दादाभाई नौरोजी। इसी समय काँग्रेस में दो दल हो गये : गरम-दल और नरम-दल। गरम-दल के नेता लोकमान्य तिलक थे और नरम-दल के नेताओं में गोखले का प्रमुख स्थान था। इस अधिवेशन के समाप्त होने पर गोखले ने उत्तर भारत का भ्रमण किया और उन्होंने उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के बड़े-बड़े नगरों में घूमकर स्वदेशी, हिन्दू-मुसलिम एकता आदि पर अनेक प्रभावशाली व्याख्यान दिये।

गोखले अपने समय के ठोस कार्यकर्ता थे। उनके विचार क्रान्तिकारी विचार नहीं थे। लोकमान्य तिलक की उग्र नीति के कारण काँग्रेस में जो उफान आ गया था उसके वह समर्थक नहीं थे। वह धीरे-धीरे देश को स्वतंत्रता-प्राप्ति की ओर ले जाना चाहते थे। काँग्रेस में उन्हीं के विचार के अधिक लोग थे। वास्तव में उस समय तक काँग्रेस उग्र नीति धारण करने योग्य नहीं थी। ऐसी स्थिति में काँग्रेस में जो दो दल उत्पन्न हो गये थे उनमें परस्पर पर्याप्त विरोध था। सूरत-काँग्रेस में यह विरोध और भी बढ़ गया। देश के भविष्य के लिए यह शुभ लक्षण नहीं था, लेकिन, फिर भी गोखले हताश नहीं हुए। वह अपनी ही नीति पर डटे रहे और वाइसराय की कौंसिल में राजनीतिक सुधार के लिए अपनी आवाज उठाते रहे। सन् १९०८ ई० में वह फिर इंग्लैण्ड गये और वहाँ वह कौंसिलों के सुधार के संबंध में कई बार तत्कालीन भारत-मंत्री लार्ड मार्ले से मिले। तत्कालीन वाइसराय मिण्टो और भारत-मंत्री मार्ले के शासन-काल में हमारे देश में 'मार्ले-मिण्टो-सुधार' के अनुसार जो राजनीतिक अधिकार मिले उनका श्रेय गोखले को ही प्राप्त था।

जिन दिनों गोखले भारत में अपने देशवासियों को अधिक-से-अधिक राजनीतिक अधिकार दिलाने के लिए प्रयत्नशील थे उन दिनों महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की राजनीतिक स्थिति सुधारने में लगे हुए थे। गोखले की

राजनीतिक पटुता और प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्होंने गोखले को दक्षिण अफ्रीका बुलाया। भारत-सरकार ने भी गोखले को वहाँ जाने के लिए प्रोत्साहित किया। इसलिए सन् १९१२ ई० में गोखले दक्षिण अफ्रीका गये। दक्षिण अफ्रीका की ब्रिटिश-सरकार ने उनका भव्य स्वागत किया। गोखले दक्षिण अफ्रीका में तीन सप्ताह तक रहे। इस बीच उन्होंने महात्मा गाँधी के साथ घूम-घूमकर प्रवासी भारतीयों की प्रत्येक कठिनाई का गंभीर अध्ययन किया और उसे दूर करने के लिए सरकार से जोरदार शब्दों में अपील की। उनकी अपील का सरकार पर प्रभाव पड़ा। महात्मा गाँधी तो उनकी विद्वत्ता और सूझ-बूझ से इतने प्रभावित थे कि वह उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।

अँग्रेजी सरकार सुधार का वचन तो दे देती थी, पर वह अपने वचन पर दृढ़ नहीं रहती थी। दक्षिण अफ्रीका में सरकार ने प्रवासी भारतीयों की स्थिति सुधारने के लिए जो बचन दिये थे, गोखले के स्वदेश लौटने पर उसने उनका पालन नहीं किया। ऐसी स्थिति में महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन के प्रति गोखले की पूरी सहानुभूति थी। गोखले ने देश में घूम-घूमकर लाखों रुपये एकत्र किये और गाँधीजी की सहायता की। अन्त में अँग्रेजा सरकार को झुकना पड़ा। सत्याग्रह-आन्दोलन की विजय हुई। गोखले ने इस आन्दोलन की सफलता के लिए गाँधीजी की जो सहायता की उसे गाँधीजी नहीं भूल सके। गाँधीजी के प्रति गोखले के हृदय में भी बड़ी श्रद्धा था।

गोखले सच्चे अर्थ में देश-हितैषी थे। उनका सारा समय देश के हित-चिन्तन में ही बीतता था। सन् १८९१ ई० में उनकी माता का स्वर्गवास हुआ, फिर उनकी पत्नी उनसे विदा हुईं और २१ जून, सन् १९०७ ई० को उनके बड़े भाई गोविन्दराव भी चल बसे। इस प्रकार उनका परिवार बिलकुल सूना हो गया, लेकिन देश के कार्यों में वह इतने तल्लीन रहे कि उन्हें अपने परिवार का सूनापन जरा भी नहीं अखरा। उनकी अवस्था बहुत नहीं थी, लेकिन दिन-रात दौड़-धूप और मानसिक श्रम करने के कारण उनका स्वास्थ्य काफी गिर गया था। फिर भी वह मानसिक श्रम से बाज नहीं आते थे। सन् १९१२ ई० में भारत-सरकार ने लार्ड हस्लिंग्टन की अध्यक्षता में एक 'पब्लिक सर्विस कमीशन' बैठाया। इसमें कुल १२ सदस्य थे : ९ अँग्रेज और ३ भारतीय। भारतीय सदस्यों में एक गोखले

भी थे। भारतीयों को उच्च पदाधिकारी बनाया जा सकता है अथवा नहीं—इसी बात की जाँच के लिए यह कमीशन बैठाया गया था। इस कमीशन के साथ दो बार गोखले को इंग्लैण्ड जाना पड़ा। दूसरी बार जब वह इंग्लैण्ड गये तब उनका स्वास्थ्य अत्यधिक बिगड़ गया। इसी समय उन्हें के० सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की गयी, परन्तु उन्होंने इस उपाधि को स्वीकार नहीं किया। सेवक रहकर ही वह अपना अंतिम जीवन व्यतीत करना चाहते थे। अधिक बीमार होने पर वह नवम्बर, सन् १९१४ ई० में स्वदेश लौट आये।

गोखले भारत आ तो गये, लेकिन यहाँ भी उन्हें चैन नहीं मिला। पब्लिक' सर्विस कमीशन' और 'दक्षिण भारत' की चिन्ता उन्हें बराबर बनी रहती थी। यूरप में महायुद्ध छिड़ गया था जिसके कारण देश की परिस्थिति बड़ी तेजी से बदल रही थी। लोकमान्य तिलक जेल से मुक्त होकर आ गये थे और नरम तथा गरम दलों के बीच समझौता होने की संभावना थी। ऐसी परिस्थितियों में गोखले के लिए चुप रहना असंभव था। फलतः उनकी बीमारी बढ़ती गयी। १२ फरवरी, सन् १९१५ई० को महात्मा गाँधी उनसे मिलने के लिए पूना गये। गोखले पूना के भारत-सेवक-समिति के भवन में ही रहा करते थे। इसी भवन में उन्होंने गाँधीजी से भेंट की। इस घटना के एक सप्ताह बाद ही १९ फरवरी, सन् १९१५ ई० को रात के दस बजकर बीस मिनट पर वह ब्रह्म-लीन हो गये।

गोखले अपने समय के अद्वितीय देश-भक्त थे। जब से उन्होंने देश-सेवा का व्रत लिया तब से उन्होंने एक क्षण के लिए भी उसकी उपेक्षा नहीं की। अपने अध्यापन-काल में ही उन्होंने अपने भावी जीवन की नींव डाली और इतनी सुदृढ़ नींव डाली कि उस पर वह अपने जीवन के अंतिम क्षण तक एक के बाद एक सेवा-भवन बनाते चले गये। वह सचमुच कर्मयोगी थे। उन्हें मान-अपमान की चिन्ता नहीं थी। यदि वह चाहते तो भारत-सरकार के कृपा-पात्र होकर अपने लिए बड़ी-से-बड़ी जायदाद खड़ी कर सकते थे, लेकिन उन्होंने आवश्यकता से अधिक पैसा अपने पास नहीं रखा। ऐसे थे वह अपरिग्रही! शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो सेवाएँ कीं, बम्बई-विश्वविद्यालय उनका साक्षी है। वह बम्बई-विश्व-विद्यालय के 'फेलो' (सन् १८९५ ई०) थे। फेलो होने की हैसियत से उन्होंने बी० ए० और एम० ए० में इतिहास को स्थान दिलाया और बी० ए० में राजनीति

का समावेश किया। वह अनिवार्य प्रायमरी शिक्षा के भी समर्थक थे और इस संबंध में सन् १९१० ई० में कौंसिल में उन्होंने एक बिल भी पेश किया था। इस प्रकार अपने तीस वर्ष के सेवा-काल में उन्होंने देश से संबंधित प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय पर ध्यान दिया। विशेषता उनमें यह थी कि आरंभ में ही उन्होंने अपनी देश-सेवा के लिए जो सिद्धान्त स्थिर कर लिये थे उनमें उन्होंने कभी परिवर्तन नहीं किया। आँधी और तूफान में भी वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे। न तो वह भारत-सरकार के सामने झुके और न किसी राजनीतिक दल के सामने! अपनी इस विशेषता के कारण ही वह ऊँचे उठे और आज भी हम उन्हें उनके उन्हीं सिद्धान्तों के कारण याद करते हैं।

●●

सङ्गीतज्ञों के प्रति सभ्य समाज के इस उपेक्षा-भाव से विष्णुदिगम्बर मर्माहत हो उठे। यह उनके गुरु का ही अपमान नहीं था, सङ्गीत-कला का भी अपमान था। अतः उसी दिन उन्होंने सभ्य समाज में सङ्गीतज्ञों के प्रति आदर भावना उत्पन्न करने और सङ्गीत-कला के पुनरुद्धार की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसकी पूर्ति में उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन लगा दिया।

विष्णुदिगम्बर कर्मठ सङ्गीतज्ञ थे। नेत्र-ज्योति के क्षीण होने पर भी उन्होंने सङ्गीत की आध्यात्मिक एवं सामाजिक मर्यादा स्थापित करने के लिए वह काम किया जो ज्योति-संपन्न बड़ी-बड़ी आँखवाले भी नहीं कर पाये थे। अपनी प्रतिज्ञा और उद्देश्य में उन्हें अटूट विश्वास था। उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने सर्वप्रथम गाये जाने वाले पदों में से शृंगार के भद्दे और अश्लील शब्दों को निकालकर उनके स्थान पर ऐसे भक्तिपरक शब्दों को स्थान दिया जो श्रोताओं में आध्यात्मिक भावना जाग्रत कर सकते थे। इस सामयिक परिवर्तन से सङ्गीत में एक नई चेतना आ गयी और धीरे-धीरे अभिजात वर्ग का उसके प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। कीर्तन करना उनके वंश का धंधा ही था और इसी धंधे के माध्यम से उन्होंने सङ्गीत को माहाराष्ट्र के कोने-कोने तक पहुँचाया। जगह-जगह से उनके लिए निमंत्रण आने लगे और वह वहाँ जाकर अपने स्वर्गीय संगीत से श्रोताओं को आत्म-विभोर करने लगे। फलतः थोड़े ही दिनों में संगीतज्ञों के प्रति अभिजात वर्ग की जो असामाजिक धारणा थी वह दूर हो गयी और शिक्षित वर्ग संगीत-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित हो उठा। यह उनके उद्देश्य की सफलता की पहली मंजिल थी।

विष्णुदिगम्बर ने महाराष्ट्र में ही संगीत का प्रचार नहीं किया, उनके सामने संगीत के प्रचार का अखिल भारतीय उद्देश्य था। इसलिए गुजरात, बम्बई, बड़ौदा, अहमदनगर आदि अनेक प्रसिद्ध स्थानों की उन्होंने यात्रा की। जहाँ भी वह गये वहाँ उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ और विद्युत् की भाँति उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। उनका सङ्गीत सुनने के लिए पुराने-पुराने उस्ताद आते थे और उनकी प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। ऐसा था उनके मधुर सङ्गीत का आकर्षण! हजारों की भीड़ में वह गाते थे और सबको मंत्र-मुग्ध कर देते थे। इस प्रकार घूमते-घूमते और अपने स्वर्गीय सङ्गीत की वर्षा करते हुए वह जूनागढ़ जा पहुँचे। यहाँ गिरनार पर्वत पर घूमते हुए एक संन्यासी से उनकी भेंट हो गई। संन्यासी पर उनके

सङ्गीतज्ञों के प्रति सभ्य समाज के इस उपेक्षा-भाव से विष्णुदिगम्बर मर्माहत हो उठे। यह उनके गुरु का ही अपमान नहीं था, सङ्गीत-कला का भी अपमान था। अतः उसी दिन उन्होंने सभ्य समाज में सङ्गीतज्ञों के प्रति आदर भावना उत्पन्न करने और सङ्गीत-कला के पुनरुद्धार की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसकी पूर्ति में उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन लगा दिया।

विष्णुदिगम्बर कर्मठ सङ्गीतज्ञ थे। नेत्र-ज्योति के क्षीण होने पर भी उन्होंने सङ्गीत की आध्यात्मिक एवं सामाजिक मर्यादा स्थापित करने के लिए वह काम किया जो ज्योति-संपन्न बड़ी-बड़ी आँखवाले भी नहीं कर पाये थे। अपनी प्रतिज्ञा और उद्देश्य में उन्हें अटूट विश्वास था। उसकी पूर्ति के लिए उन्होने सर्वप्रथम गाये जाने वाले पदों में से श्रृंगार के भद्दे और अश्लील शब्दों को निकालकर उनके स्थान पर ऐसे भक्तिपरक शब्दों को स्थान दिया जो श्रोताओं में आध्यात्मिक भावना जाग्रत कर सकते थे। इस सामयिक परिवर्तन से सङ्गीत में एक नई चेतना आ गयी और धीरे-धीरे अभिजात वर्ग का उसके प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। कीर्तन करना उनके वंश का धंधा ही था और इसी धंधे के माध्यम से उन्होंने सङ्गीत को माहाराष्ट्र के कोने-कोने तक पहुँचाया। जगह-जगह से उनके लिए निमंत्रण आने लगे और वह वहाँ जाकर अपने स्वर्गीय संगीत से श्रोताओं को आत्म-विभोर करने लगे। फलतः थोड़े ही दिनों में संगीतज्ञों के प्रति अभिजात वर्ग की जो असामाजिक धारणा थी वह दूर हो गयी और शिक्षित वर्ग संगीत-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित हो उठा। यह उनके उद्देश्य की सफलता की पहली मंजिल थी।

विष्णुदिगम्बर ने महाराष्ट्र में ही संगीत का प्रचार नहीं किया, उनके सामने संगीत के प्रचार का अखिल भारतीय उद्देश्य था। इसलिए गुजरात, बम्बई, बड़ौदा, अहमदनगर आदि अनेक प्रसिद्ध स्थानों की उन्होंने यात्रा की। जहाँ भी वह गये वहाँ उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ और विद्युत् की भाँति उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। उनका सङ्गीत सुनने के लिए पुराने-पुराने उस्ताद आते थे और उनकी प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। ऐसा था उनके मधुर सङ्गीत का आकर्षण! हजारों की भीड़ में वह गाते थे और सबको मंत्र-मुग्ध कर देते थे। इस प्रकार घूमते-घूमते और अपने स्वर्गीय सङ्गीत की वर्षा करते हुए वह जूनागढ़ जा पहुँचे। यहाँ गिरनार पर्वत पर घूमते हुए एक संन्यासी से उनकी भेंट हो गई। संन्यासी पर उनके

आध्यात्मिक सङ्गीत का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उन्हें उत्तर भारत में जाकर सङ्गीत का प्रचार करने का उपदेश दिया।

संन्यासी का उपदेश मानकर विष्णु दिगम्बर सर्वप्रथम पंजाब गये और वहाँ के बड़े-बड़े नगरों में वह कई दिनों तक घूमते-फिरते रहे। अन्त में उन्होंने संगीत-प्रचार के लिए लाहौर चुना। वहीं उन्होंने ५ मई, सन् १९०१ ई० को गन्धर्व-महाविद्यालय की स्थापना की और अपनी उस समय तक की सारी कमाई उसकी स्थापना में लगा दी। विद्यालय के लिए उन्होंने किराये पर एक मकान लिया और उसमें सङ्गीत-कला की शिक्षा देने के लिए कई वाद्य-यंत्रों का क्रय किया। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों और सङ्गीत के प्रति जन-रुचि के अभाव के कारण विद्यालय सुचारु रूप से न चल सका। इसी समय उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। लेकिन वह न तो इस शोकप्रद घटना से मर्माहत हुए और न विद्यालय की स्थिति से चिन्तित! उनमें निश्चय का बल था। वह आशावादी थे। इसलिए विद्यालय के काम में वह उत्साहपूर्वक जुटे रहे।

महाविद्यालय खुले हुए दस-पन्द्रह दिन बीत गये, परन्तु एक भी विद्यार्थी उसमें प्रविष्ट नहीं हुआ। यह देखकर जस्टिस चटर्जी, जो विष्णु दिगम्बर को बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे, बोले—"पंडितजी! मैं आप से पहले ही कहता था कि यह नगर सङ्गीत-विद्यालय के योग्य नहीं है। पंजाबी संगीत का सम्मान करना नहीं जानते।" पंडितजी को संन्यासी के उपदेश और अपने उद्देश्य की गरिमा का बल प्राप्त था। इसलिए जिस गम्भीरता से जस्टिस चटर्जी ने उनसे बात कही थी उसी गम्भीरता से उन्होंने उत्तर दिया—"महोदय! मैं तो यहीं रहूँगा और संगीत का प्रचार करूँगा। विद्यालय में कोई आये या न आये, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। और कुछ नहीं तो मेरा तम्बूरा तो है ही। मैं इसी के साथ अपनी साधना जारी रखूँगा।" उनका यह निश्चय देखकर जस्टिस चटर्जी बहुत प्रभावित हुये और अगले ही दिन से विद्यालय में विद्यार्थी भी आने लगे। धीरे-धीरे छः महीने के भीतर ही विद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या १०५ तक पहुँच गयी। इस विद्यालय-द्वारा पंजाब के कोने-कोने में सङ्गीत का प्रचार हुआ। अपने उद्देश्य की सफलता से प्रभावित होकर पंडितजी विद्यालय के लिए धन एकत्र करने के विचार से बाहर भी दौरा किया करते थे। इस प्रकार उन्होंने

लाहौर में अपने विद्यालय की जड़ जमा दी और उसकी आर्थिक सहायता के लिए कार्य-कर्त्ताओं का एक दल तैयार कर दिया। उसके सहायकों में तत्कालीन कश्मीर-नरेश भी थे। उन्होंने विद्यालय की उन्नति में काफी दिलचस्पी ली। ऐसी संरक्षकों का सहयोग पाकर विष्णु दिगम्बर ने सङ्गीत-कला की शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाने के लिए अपने शिष्यों के प्रयत्न से 'गन्धर्व-महाविद्यालय-मंडल' की स्थापना की। इसके अन्तर्गत सङ्गीत-कला की शिक्षा देने के लिए विभिन्न स्थानों में कई केन्द्र खोले गये।

विष्णु दिगम्बर पंजाब में लगभग छः-सात वर्ष तक रहे। इसके बाद सन् १९०७ ई० में वह लाहौर से बम्बई गये। वहाँ उन्होंने एक दूसरा गन्धर्व-महाविद्यालय स्थापित किया। बम्बई-जैसे बड़ेनगर में महाविद्यालय के लिए भवन बनवाना कोई सरल कार्य नहीं था, लेकिन अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से विष्णुदिगम्बर ने इस कार्य को पूरा किया। वह विद्यालय के नव-निर्मित भवन में ही रहते थे और अपने विद्यार्थियों को सङ्गीत की शिक्षा दिया करते थे। प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी और उनके रहने तथा भोजन आदि की भी व्यवस्था की जाती थी। प्रत्येक रविवार को सङ्गीत-गोष्ठी का आयोजन होता था और इसमें विष्णु दिगम्बर अपनी सङ्गीत-कला का प्रदर्शन किया करते थे। शुल्क तथा दान आदि से विद्यालय की आर्थिक सहायता होती थी। परन्तु यह आर्थिक सहायता पर्याप्त न होती थी। ऐसी स्थिति में विष्णु दिगम्बर ने एक ऐसा कारखाना खोल दिया था जिसमें नये वाद्य-यन्त्र बनाये जाते थे और पुराने वाद्य-यन्त्रों की मरम्मत होती थी। एक मुद्रणालय भी स्थापित कर दिया गया था जिसमें पाठ्य-पुस्तकें छापी जाती थीं। इन दोनों संस्थाओं के लाभ से विद्यालय को आर्थिक सहायता प्राप्त होती रहती थी। इस प्रकार सन् १९२५ ई० तक विद्यालय का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा।

विद्यालय जिस जमीन पर और जितनी लागत से बनवाया गया था उसके लिए विष्णु दिगम्बर के एक मित्र ने उन्हें ऋण के रूप में धन दिया था। यह धन आर्थिक कठिनाइयों के कारण चुकता न हो सका। फलस्वरूप विद्यालय के भवन पर ऋणदाता का अधिकार हो गया। १९१५ ई० में इस भवन की नींव रखी गयी थी और १९२३-२४ई० में यह भवन हाथ से निकल गया। इस प्रकार विद्यालय हमेशा

थे और उसे सफल बनाने के लिए चोटी से एड़ी तक का पसीना बहा देते थे।

विष्णु दिगम्बर ने केवल मौखिक रूप से सङ्गीत का प्रचार नहीं किया, बल्कि उस प्रचार को स्थायी बनाने के लिए उन्होंने लिपि-पद्धति का भी निर्माण किया। उनकी स्वर-लिपि-पद्धति भातखण्डेजी की स्वर-लिपि-पद्धति से भिन्न है। उसका अपना महत्त्व है। उन्होंने कई सङ्गीत-पुस्तकों की भी रचना की है जिनमें से 'सङ्गीत बालप्रकाश', 'सङ्गीत बालबोध', 'स्वाल्पालाप गायन', 'सङ्गीत-तत्त्व-दर्शन', 'राग-प्रवेश,' 'भजनामृत लहरी' आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन पुस्तकों की रचना उन्होंने सङ्गीत के विभिन्न श्रेणी के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर अपनी स्वर-लिपि-पद्धति में की है। सामूहिक सङ्गीत के लिए 'रामधुन' उनकी महान देन है। कथा की समाप्ति पर वह इसी सङ्गीत का आयोजन किया करते थे।

विष्णु दिगम्बर भारतीय संगीत के मात्र प्रचारक थे। भारतीय समाज में संगीत को उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करना उनके जीवन का लक्ष्य था और इस की पूर्ति में उन्होंने साधु-संतों की तरह जीवन व्यतीत कर सफलता प्राप्त की थी। वह चाहते तो अपने परिवार के लिए जायदाद खड़ी कर सकते थे, लेकिन उन्होंने कला की साधना में लक्ष्मी की चिन्ता नहीं की। संगीत के उद्धार के लिए ही उनका जन्म हुआ था। इसलिए वह आजीवन अपने 'मिशन' को नहीं भूले। एक इतिहास-लेखक ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"दिगम्बरजी का सबसे बड़ा कार्य जो उन्होंने किया वह यह था कि उन्होंने भारतीय सङ्गीत को गन्दगी और अश्लीलता के दल-दल से ऊपर उठाया। सिर्फ यही कार्य उनका इतना महान एवं महत्त्वपूर्ण है कि जिसके कारण वे कभी भारतीय सङ्गीत के इतिहास में भुलाये नहीं जा सकते। सङ्गीत में यह गन्दगी मुगल-काल के अंतिम चरण से ही प्रविष्ट होनी शुरू हो गयी थी और वह ब्रिटिश-काल में इतनी बढ़ गयी थी कि स्वयं भारतीय सङ्गीत भारतीयों की दृष्टि से ही गिरता जा रहा था और उसकी बड़ी शोचनीय दशा हो रही थी। दिगम्बरजी ने यह सब कुछ देखा और उन्होंने भारतीय सङ्गीत को पवित्र एवं सुन्दर बनाने का सफल उपक्रम किया।' दिगम्बरजी अपने सिद्धान्त के इतने पक्के थे कि जहाँ सङ्गीतज्ञों का आदर-सम्मान नहीं होता था वहाँ वह

जाते ही नहीं थे। अपने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में उन्होंने कभी किसी के साथ समझौता नहीं किया।

विष्णु दिगम्बर आज हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए उनके द्वारा स्थापित 'गंधर्व-महाविद्यालय-मंडल' विकसित होकर एक महान सङ्गीत-संस्था के रूप में सङ्गीत की सेवा कर रहा है। उसकी शाखाएँ भारत-भर में फैली हुई हैं जिनमें हजारों विद्यार्थी सङ्गीत-कला की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में संगीत-मार्तण्ड पं० ओंकारनाथ ठाकुर, पं० विनायकराव पटवर्धन, पं० वामन राव पाध्ये ने सङ्गीत के प्रचार और प्रसार में अच्छी ख्याति प्राप्त की है और उन्होंने अपनी साधना से भारतीय संगीत-कला का प्रशंसनीय विकास किया है। शास्त्रीय संगीत का जैसा प्रचार इस समय हो रहा है उसे देखते हुए भारतीय संगीत का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है। इसका सारा श्रेय विष्णु दिगम्बर को प्राप्त है। प्रतिवर्ष अगस्त के महीने में उनकी पुण्यी-तिथि बड़े धूम-धाम से भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े नगरों में मनायी जाती है इस अवसर पर भारत के बड़े-बड़े संगीतज्ञ अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।

— —

महाकवि वल्लथोल

प्रकृति की गोद में बसे हुए केरल ने भारतीय संस्कृति और साहित्य के निर्माण और उसके उत्थान में अपना पूरा योग दिया है। अपने गौरवमय इतिहास के भूत-

काल में यदि उसने अद्वैतवादी शंकराचार्य को अपनी कोख से जन्म देकर देश के धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल उत्पन्न की है तो आधुनिक युग के नव-जागरण-काल में उसने अपने गर्भ से महाकवि वल्लथोल को उत्पन्न कर साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति का उद्घोष किया है। शंकराचार्य यदि उसके मस्तिष्क थे तो महाकवि वल्लथोल उसके हृदय हैं। महाकवि वल्लथोल ने अपनी माता केरल के हर्ष-विषाद, उसकी आशा-निराशा, उसके दुःख-सुख को जितनी गहराई तक जाना, परखा और उसे व्यक्त किया है उतनी गहराई तक उतरने का अबतक किसी ने साहस नहीं किया है। उनके उत्तुङ्गकाय, भव्य व्यक्तित्व और उनके दीर्घ क्रिया शील जीवन और सर्जन में भारतीय इतिहास का आधुनिक युग अपनी समस्त आशाओं-आकाँक्षाओं के-साथ मूर्तिमान हो उठा था और वह केरल-माता के ही नहीं, भारत-माता के भी प्यारे पुत्र थे।

महाकवि वल्ल थोल का जन्म सन् १८७९ ई० में मालावार प्रान्त के पो-आनी ताल्लुके के वेटार नामक गाँव के एक ग्रामीण मध्य-वर्गीय परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री मल्लसेरी दामोदरन रालायथ कथाकली नृत्य-कला के बड़े प्रेमी थे। बालक वल्लथोल को कथाकली का यह प्रेम अपने पिता से ही मिला था। बचपन में उनकी जो शिक्षा हुई वह परंपरागत और प्राचीन संस्कृति-निष्ठ ढंग की थी। किसी पाश्चात्य प्रणाली के विद्यालय में बैठकर उन्होंने कभी कोई

शिक्षा प्राप्त नहीं की । उनके चाचा उन्हें घर पर ही मलालम और संस्कृत पढ़ाते थे । इस प्रकार अपने चाचा की सहायता एवं स्वाध्याय से उन्होंने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में संस्कृत के अनेक महाकाव्यों और नाटकों का अध्ययन कर लिया था । इस अध्ययन से साहित्य-सेवा के प्रति उनकी रुचि जाग उठी । उनके चाचा अपने समय के अच्छे वैद्य थे । उनकी इच्छा वल्लथोल को वैद्य बनाने की थी । इस उद्देश्य से उन्होंने वल्लथोल को आयुर्वेद-शास्त्र की भी शिक्षा दी, किन्तु वल्लथोल की साहित्यिक अभिरुचि ने उनके स्वप्न को साकार नहीं होने दिया । वल्ल थोल आयुर्वेद की सेवा के लिए नहीं, जन-मानस का संस्कार करने और उसमें नव जागरण के संदेश की प्रतिष्ठा करने के लिए उत्पन्न हुए थे । साहित्य-सेवा ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था ।

यौवन की सीढ़ी पर पैर रखते ही वल्लथोल साहित्य-साधना में जुट गये । अपनी बहनों के लिए उन्होंने अपनी पैतृक-संपत्ति का अधिकार त्याग दिया और साहित्य-साधना को ही उन्होंने आत्मविकास और अपनी जीविका का साधन बनाया । पहले उन्होंने कुछ दिनों तक एक प्रेस का कार्य-भार सँभाला । इसके बाद उन्होंने कई साप्ताहिक और मासिक पत्रों का संपादन किया । सम्पादन-कार्य के साथ-साथ उनकी काव्य-साधना भीमुखरित होती रही । पत्रों के लिए आये हुए लेखों और कविताओं को वह बड़े मनोयोग से शुद्ध करते थे और तरुण कवियों तथा लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित कर वह उन्हें प्रोत्साहन देते थे । उनके इस कार्य से केरल में मलयालम का अच्छा प्रचार हुआ और उसके संवर्धन एवं विकास के प्रति लोगों में अनुराग उत्पन्न हुआ । उन्होंने आलोचनाएँ भी लिखी और उनकी भी वृद्धि की । मौलिक रचना के साथ-साथ उन्होंने अनुवाद का कार्य भी सँभाला । उस समय मलयालम में उच्चकोटि के धार्मिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों का अभाव था । वल्लथोल ने सर्वप्रथम अनुवादों-द्वारा इस अभाव की पूर्ति की । उन्होंने वाल्मीकीय रामायण का मलयालम में बहुत सुन्दर अनुवाद किया । उनके अनूदित-ग्रन्थों में इसका सर्वोच्च स्थान है । उन्होंने कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल'तथा भास के कई नाटकों के अनुवाद के साथ-साथ मत्स्य-पुराण, वामन-पुराण आदि संस्कृत के कई पुराणों का भी मलयालम में अनुवाद किया । उनके अनुवादों में उनके जीवन की अंतिम और सब से महत्त्वपूर्ण कृति है, ऋग्वेद का अनुवाद । अपनी बहत्तर वर्ष की अवस्था के बाद

ही उन्होंने यह गुरुतर कार्य अपने हाथ में लिया था और बड़े परिश्रम से उन्होंने इसे संपन्न किया।

वल्लथोल के अनुवादों से मलयालम को विशेष बल मिला। केरल की साधारण जनता, जो संस्कृत न जानने के कारण अपने प्राचीन धार्मिक एव साहित्यिक ग्रन्थों के मूल्यवान विचारों से अपरिचित थी, वल्लथोल के अनुवादों से लाभान्वित हो गयी। वल्लथोल का यही उद्देश्य था। अपनी ज्वलंत लोक-निष्ठा और लोक-प्रेम से प्रेरित होकर ही उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति की थी। वह चाहते थे कि केरल की जनता अपनी सांस्कृतिक परंपरा की महान थाती को देखे, समझे और उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपना जीवन-स्वर ऊँचा करे। इसीलिए उन्होंने उन चुने हुए ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य अपने हाथ में लिया जो भारतीय संस्कृति और साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जीवन के लिए परम उपयोगी भी हैं।

वल्लथोल के साहित्यिक जीवन का दूसरा पक्ष और भी महान है। उनका यह क्षेत्र उनके साहियित्क जीवन का मौलिक क्षेत्र है और इसी क्षेत्र के कारण वह केरल और भारत के महाकवि माने जाते हैं। उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। कविता तो वह वचपन से ही करते थे और वह कवि भी माने जाते थे, किन्तु उनकी कवित्व-शक्ति का उस समय तक पूर्ण विकास नहीं हुआ था। वह जिस वृत्ति के कवि थे उस वृत्ति को उस समय खुलकर खेलने का अवसर नहीं मिला था। यह अवसर आया उनके कवि-जीवन में उस सयय जब जलियाँ वाला हत्या-कांड के फलस्वरूप भारत उत्पत्त हो उठा और उसके बाद ही सन् १९१९-२० ई० में महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन का श्री गणेश किया। इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी। ऐसे दिनों में वल्लथोल चुपचाप न बैठ सके। उनकी काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित होने के लिए जिस अवसर की ताक में थी वह उसे मिल गया। वल्लथोल ने उन दिनों ओजस्वी राष्ट्रीय गीतों की रचना कर अपनी काव्य-प्रतिभा से अपने समकालीन साहित्यकारों और जन-साधारण को आश्चर्य-चकित कर दिया। उनके गीतों में राष्ट्रीय भावनाओं का ऐसा विस्फोट था और उनमें विदेशी साम्रज्यशाही नीति के विरुद्ध ऐसी तीव्र चुनौती थी कि जन-साधारण उन्हें चौक-चौराहों पर गाते फिरते थे।

इस प्रकार कोटि-कोटि भारतीय जनता का स्वातंत्र्य-युद्ध ही उनके काव्य का उत्स था और उस जनता की आत्म-वेदना और महान भविष्य के स्वप्न-दर्शन में ही उनकी काव्य-सिद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँची थी।

वल्लथोल के संपूर्ण मौलिक साहित्य का अध्ययन करने से उनके कवि-जीवन के विकास की तीन धाराएँ स्पष्ट होती हैं। उनके कवि-जीवन की पहली धारा वह है जब उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के मलयाली कवियों से काव्य-प्रेरणा ग्रहण कर काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उस समय उनके काव्य में परंपरागत काव्य-सौष्ठव के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। न विचारों में गहनता थी और न भावों में तीव्रता। सन् १९१९-२० ई० में उनके कवि-जीवन में दूसरा मोड़ आया। उस समय उन्होंने अपने गीतों में जनता की राष्ट्रीय भावनाओं का उद्घोष किया और वह एक चारण के रूप में हमारे सामने आये। यह उनके कवि-जीवन का स्वर्ण-काल था। इसके बाद उन्होंने अपनी रचनाओं में शोषित-पीड़ित मानवता की वेदना और शोषकों के अन्याय-अत्याचार का चित्रांकन आरंभ किया। इस समय उन पर साम्यवाद का स्पष्ट प्रभाव था और वह अपने जीवन के अंत तक साम्यवादी ही बने रहे।

वल्लथोल ने अपने काव्य की सामग्री अनेक स्रोतों से एकत्र की थी। वह मुख्यतः अनुभूति के चित्रकार थे। उनके गीतों में उनकी अनुभूति की गहनता अपनी चरम सीमा पर पहुँची है। गीतों के अतिरिक्त उन्होंने प्रवन्ध-काव्य भी लिखे हैं। 'ताप्ती संवरणम्' उनकी एक लंबी वर्णनात्मक कविता है। इस कविता में सर्वप्रथम उनकी मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इसके बाद 'चित्ताराय योगम्' उनका महाकाव्य है। 'बधिर-विलापम्' में उनकी अन्तर्वेदना अत्यन्त मार्मिकता से व्यक्त हुई है। अपने जीवन की मध्यावस्था में वह बधिर हो गये थे। इससे उन्हें बहुत कष्ट होता था। इस प्रकार 'बधिर-विलापम्, उनके स्वजीवन पर आधारित काव्य है। इसी काल की एक दूसरी प्रसिद्ध रचना है 'अनिसघन'। यह अनुभूति-प्रधान प्रेम-काव्य है जिसकी परिणति सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में हुई है। 'मग्डालना-मरियम' बाइबिल पर आधरित उनकी अत्यन्त सुन्दर रचना है। इस्लाम, बौद्ध तथा जैन-कथाओं को भी उन्होंने अपना काव्य विषय बनाया

ही उन्होंने यह गुरुतर कार्य अपने हाथ में लिया था और बड़े परिश्रम से उन्होंने इसे संपन्न किया।

वल्लथोल के अनुवादों से मलयालम को विशेष बल मिला। केरल की साधारण जनता, जो संस्कृत न जानने के कारण अपने प्राचीन धार्मिक एव साहित्यिक ग्रन्थों के मूल्यवान विचारों से अपरिचित थी, वल्लथोल के अनुवादों से लाभान्वित हो गयी। वल्लथोल का यही उद्देश्य था। अपनी ज्वलंत लोक-निष्ठा और लोक-प्रेम से प्रेरित होकर ही उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति की थी। वह चाहते थे कि केरल की जनता अपनी सांस्कृतिक परंपरा की महान थाती को देखे, समझे और उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपना जीवन-स्वर ऊँचा करे। इसीलिए उन्होंने उन चुने हुए ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य अपने हाथ में लिया जो भारतीय संस्कृति और साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जीवन के लिए परम उपयोगी भी हैं।

वल्लथोल के साहित्यिक जीवन का दूसरा पक्ष और भी महान है। उनका यह क्षेत्र उनके साहियित्क जीवन का मौलिक क्षेत्र है और इसी क्षेत्र के कारण वह केरल और भारत के महाकवि माने जाते हैं। उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। कविता तो वह बचपन से ही करते थे और वह कवि भी माने जाते थे, किन्तु उनकी कवित्व-शक्ति का उस समय तक पूर्ण विकास नहीं हुआ था। वह जिस वृत्ति के कवि थे उस वृत्ति को उस समय खुलकर खेलने का अवसर नहीं मिला था। यह अवसर आया उनके कवि-जीवन में उस समय जब जलियाँ वाला हत्या-कांड के फलस्वरूप भारत उत्पत्त हो उठा और उसके बाद ही सन् १९१९-२० ई० में महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन का श्री गणेश किया। इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी। ऐसे दिनों में वल्लथोल चुपचाप न बैठ सके। उनकी काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित होने के लिए जिस अवसर की ताक में थी वह उसे मिल गया। वल्लथोल ने उन दिनों ओजस्वी राष्ट्रीय गीतों की रचना कर अपनी काव्य-प्रतिभा से अपने समकालीन साहित्यकारों और जन-साधारण को आश्चर्य-चकित कर दिया। उनके गीतों में राष्ट्रीय भावनाओं का ऐसा विस्फोट था और उनमें विदेशी साम्रज्यशाही नीति के विरुद्ध ऐसी तीव्र चुनौती थी कि जन-साधारण उन्हें चौक-चौराहों पर गाते फिरते थे।

इस प्रकार कोटि-कोटि भारतीय जनता का स्वातंत्र्य-युद्ध ही उनके काव्य का उत्स था और उस जनता की आत्म-वेदना और महान भविष्य के स्वप्न-दर्शन में ही उनकी काव्य-सिद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँची थी ।

वल्लथोल के संपूर्ण मौलिक साहित्य का अध्ययन करने से उनके कवि-जीवन के विकास की तीन धाराएँ स्पष्ट होती हैं। उनके कवि-जीवन की पहली धारा वह है जब उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के मलयाली कवियों से काव्य-प्रेरणा ग्रहण कर काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उस समय उनके काव्य में परंपरागत काव्य-सौष्ठव के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। न विचारों में गहनता थी और न भावों में तीव्रता। सन् १९१९-२० ई० में उनके कवि-जीवन में दूसरा मोड़ आया। उस समय उन्होंने अपने गीतों में जनता की राष्ट्रीय भावनाओं का उद्घोष किया और वह एक चारण के रूप में हमारे सामने आये। यह उनके कवि-जीवन का स्वर्ण-काल था। इसके बाद उन्होंने अपनी रचनाओं में शोषित-पीड़ित मानवता की वेदना और शोषकों के अन्याय-अत्याचार का चित्रांकन आरंभ किया। इस समय उन पर साम्यवाद का स्पष्ट प्रभाव था और वह अपने जीवन के अंत तक साम्यवादी ही बने रहे ।

वल्लथोल ने अपने काव्य की सामग्री अनेक स्रोतों से एकत्र की थी। वह मुख्यतः अनुभूति के चित्रकार थे। उनके गीतों में उनकी अनुभूति की गहनता अपनी चरम सीमा पर पहुँची है। गीतों के अतिरिक्त उन्होंने प्रबन्ध-काव्य भी लिखे हैं। 'ताप्ती संवरणम्' उनकी एक लंबी वर्णनात्मक कविता है। इस कविता में सर्वप्रथम उनकी मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इसके बाद 'चित्ताराय योगम्' उनका महाकाव्य है। 'बधिर-विलापम्' में उनकी अन्तर्वेदना अत्यन्त मार्मिकता से व्यक्त हुई है। अपने जीवन की मध्यावस्था में वह बधिर हो गये थे। इससे उन्हें बहुत कष्ट होता था। इस प्रकार 'बधिर-विलापम्, उनके स्वजीवन पर आधारित काव्य है। इसी काल की एक दूसरी प्रसिद्ध रचना है 'अनिसवन'। यह अनुभूति-प्रधान प्रेम-काव्य है जिसकी परिणति सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में हुई है। 'मग्डालना-मरियम' बाइबिल पर आधरित उनकी अत्यन्त सुन्दर रचना है। इस्लाम, बौद्ध तथा जैन-कथाओं को भी उन्होने अपना काव्य विषय बनाया

हैं और उन पर उन्होंने सुन्दर रचनाएँ की हैं। इस प्रकार उनका काव्य-क्षेत्र अत्यन्त विशाल और व्यापक है।

वल्लथोल उच्चकोटि के कवि ही नही, संगीत और नृत्य के भी एक अच्छे जानकार थे। कथाकली नृत्य पर उनका पूरा अधिकार था। यह कला उन्हें अपने पिता से प्राप्त हुई थी। कथाकली में नाट्य, नृत्य और संगीत तीनों का आश्चर्यजनक समन्वय है। यह केरल की अपनी नृत्य-कला है। वल्लथोल ने इस कला को उन्नत रूप देने के लिए अपने कुछ साथियों के साथ 'कला-मंडलम्' की स्थापना की। केरल में 'कला-मंडलम' नृत्य-कला की एक सर्वमान्य संस्था है। इसके प्रशिक्षित कलाकारों ने संसार के सुदूर देशों में कथाकली नृत्य के सौंदर्य और उसकी कला का प्रदर्शन कर अच्छा नाम कमाया है। रागिनी देवी, तारा चौधरी, लीलादेसाई आदि कथाकली के निष्णात कलाकार भारत को इसी संस्था की देन हैं। और इसका सारा श्रेय महाकवि वल्लथोल को प्राप्त है।

वल्लथोल ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में विदेश-भ्रमण भी किया था। संपूर्ण भारत के प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा करने के पश्चात् वह मलाया, बर्मा, इटली, सोवियत रूस, पोलैण्ड, फ्राँस, इँग्लैण्ड तथा चीन भी गये थे। उनकी इन लम्बी यात्राओं का उद्देश्य भारतीय संस्कृति का प्रचार करना, 'केरल कला-मंडलम्' के लिए निधि जुटाना तथा उसके उत्थान और प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना था। अपने इस ध्येय में उनको पूरी सफलता मिली। इसके साथ ही उन्होंने अपने भ्रमण-काल में विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति के लिए भी पूरी चेष्टा की। राष्ट्रों की पारस्परिक मित्रता के वह जबरदस्त हिमायती थे। 'विश्व-शान्ति-सम्मेलन' में भाग लेने के लिए वह वारसा भी गये थे।

महाकवि वल्लथोल केरल की दिव्य विभूति थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह कोरे चिन्तक और भावुक ही नहीं, अपने जीवन में क्रियाशील भी थे। उनका व्यक्तित्व असाधारण था। वह कवि, पत्रकार, नृत्य-कला के निष्णात पंडित, समाज-सेवी, देश-सेवी आदि सब कुछ एक साथ थे। जाति-पाँति और धर्म के मत-भेदों से वह बहुत ऊँचे उठे हुए थे। वह मानवता के पुरोहित और शांति के उपासक थे। उन्होंने अपने हाथों अपने जीवन और आदर्शों का निर्माण किया था। अपने व्यक्तित्व की गरिमा और अपनी प्रतिभा की तेजस्विता से उन्होंने केरल को ही

ऊँचा नहीं उठाया, संपूर्ण भारत का मस्तक ऊँचा किया। साहित्य-साधना के आरंभ में कोचीन के महाराजा ने उन्हें कवि-सार्वभौम की उपाधि दी, साहित्य-साधना के मध्य-काल में वह मलयालम के राजकवि ननोनीत (१९४० ई०) हुए और साहित्य-साधना के अन्त में राष्ट्रपति ने उन्हें पद्मभूषण (१९५४ ई०) की उपाधि से विभूषित किया । उनका ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व १३ मार्च, सन् १९५८ ई० गुरुवार की रात को दस बजे सबके देखते-देखते निष्प्राण हो गया । वह अमर लोक की ओर महाप्रयाण कर गये और छोड़ गये अपनी ऐसी स्मृतियाँ एवं कृतियाँ जो युग-युग तक हमें उनकी याद दिलाती रहेंगी ।

महर्षि रमण

जिन महात्माओं, संतों और भक्तों ने दक्षिण-भारत में जन्म लेकर संपूर्ण विश्व को अपनी अनन्य साधना-द्वारा आलोक प्रदान किया है उनमें महर्षि रमण का सर्वोच्च स्थान है। महर्षि रमण दक्षिण-भारत की चिरस्मरणीय दिव्य विभूति थे। उनकी आत्मा-अत्यंत व्यापक थी। संसार के संकुचित घेरों से ऊपर उठकर उन्होंने सतत आत्मा की साधना की। वह अनन्य आत्मयोगी थे। आत्मा की साधना में ही उन्होंने परमतत्त्व का दर्शन किया था। वह आत्मा के मौन साधक थे। घूम-घूमकर उपदेश देना और शिष्यों की संख्या बढ़ाना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं था। तपोमय जीवन में उनका
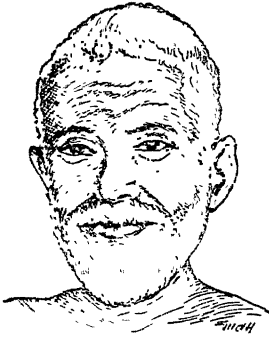
विश्वास था। अपने तपोमय जीवन से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि मौन साधना में जो सक्रियता और शक्ति है वह उपदेश और प्रवचन में नहीं है। इस लिए उन्होंने आत्म-प्रचार नहीं किया। फिर भी आज उनके शिष्यों की संख्या कम नहीं है। उनके जीवन-काल में ही असंख्य प्राणी एकान्त अरुणाचल-प्रदेश में जाकर उनका दर्शन करते थे और अपनी श्रद्धा के पुष्प उनपर चढ़ाते थे।

महर्षि रमण का जन्म [illegible] (मद्रास) के अन्तर्गत मदुरा जनपद के तिरुचुपि नामक ग्राम में ३० दिसम्बर, १८७९ ई० को अर्ध-रात्रि के समय हुआ था। उनका परिवार लौकिक दृष्टि से एक साधारण ब्राह्मण-परिवार था। उनके पिता सुन्दर अय्यर बड़े धर्म-निष्ठ, उदार और संयमी थे। मदुरा में वह वकालत करते थे। उन्हीं की भाँति रमण की माता अषगम्माल भी बड़ी सती-साध्वी थीं। वह गाँव में ही रहती थीं। उनके बड़े पुत्र का नाम नाग स्वामी था। रमण नाग-स्वामी से छोटे थे। उनका पूरा नाम वेंकटरमण था। उनकी माता उन्हें अपनी

गोद में लेकर गाँव के मंदिर में देव-दर्शन के लिए जाया करती थीं। उनके इस संस्कार का बालक वेंकटरमण पर अच्छा प्रभाव पड़ा। बड़े होने पर बालक इधर-उधर खेलते-कूदते हैं, लेकिन बालक वेंकटरमण का स्वभाव इस प्रकार का नहीं था। वह बचपन से ही मौन रहते थे। तिरुचुपि में ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। वहाँ एक पाठशाला थी। उसी में वह पढ़ने जाते थे। वहाँ की पढ़ाई समाप्त करने पर दिडुक्कल की पाठशाला में उनका नाम लिखाया गया। इस पाठशाला में उन्होंने पाँचवीं कक्षा तक अध्ययन किया। इसके बाद उनके पिता, सुन्दर अय्यर, उन्हें अपने साथ मदुरा ले गये। मदुरा के स्कट्स विद्यालय और फिर अमरीकी मिशन विद्यालय में उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। लेकिन विद्यालय की बँधी-बँधाई पढ़ाई में उनका जी नहीं लगता था। उनके हृदय और मस्तिष्क के लिए जैसी अध्ययन-सामग्री चाहिए थी वैसी उन्हें मिल नहीं रही थी। विद्यालय में वह पढ़ते अवश्य थे, लेकिन पाठ्य-पुस्तकें न पढ़कर वह सन्तों और भक्तों के चरित्र पढ़ा करते थे। अपने उस समय के विद्यार्थी-जीवन में ही उन्होंने तमिल-प्रदेश के अनेक बड़े-बड़े संतों के जीवन-चरित्र पढ़ डाले थे और उसी समय से वह एक महान संत बनने का स्वप्न देखने लग गये थे।

बचपन में जैसे संस्कार बन जाते है, भावी जीवन की इमारत उन्हीं पर खड़ी होती है। तमिल-सन्तों के चरित्र के अध्ययन से बालक वेंकटरमण के हृदय और मस्तिष्क ने जो पवित्र संस्कार ग्रहण किये वे अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ गहनतर होते गये और ज्यों-ज्यों उनके संस्कारों में गहनता आती गयी त्यों-त्यो वह गंभीर, चिन्तनशील और एकान्त-प्रिय होते गये। उनमें वैराग्य की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। वह विद्यालय की पढ़ाई के प्रति उदासीन होते गये। वह रूपवान थे, सौम्य और सुशील थे। कम बोलते थे, चिन्तन अधिक करते थे। उनके इन गुणों पर उनके परिवार के ही नहीं; पास-पड़ोस के लोग भी मुग्ध थे। यह सब तो था, लेकिन माता-पिता उनके जीवन से जो आशा लगाये हुए थे वह फलीभूत नहीं हो रही थी। माता-पिता चाहते थे कि उनका वेंकटरमण सांसारिक विभूतियों का स्वामी बने, परन्तु वेंकटरमण केवल उन्हीं के न होकर संपूर्ण संसार की आत्म-चेतना में लीन होने का स्पप्न देखा करते थे। तमिल-ग्रंथ 'पेरिय पुराणम्' के अध्ययन के बाद उनका जीवन एकदम बदल गया। उस समय उनकी अवस्था केवल १५ वर्ष की

थी। गंभीर चिन्तन में लीन एक दिन वह अपने घर में बैठे हुए थे। प्रातः काल का समय था। भगवान अंशुमाली की दिव्य आभा से सारा वातावरण जगमगा रहा था। वेंकटरमण ने कुछ सोचते-सोचते आँख ऊपर उठाई। देखा, सामने एक अनजान अतिथि खड़े हैं। अतिथि का अभिवादन कर उन्होंने विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया, "आप कहाँ से आ रहे हैं ?"

'अरुणाचल से'—आगन्तुक का संक्षिप्त उत्तर मिला। अरुणाचल का नाम सुनते ही वेंकटरमण का सारा शरीर अलौकिक आनन्द से सिहर उठा। वह अचेत-से हो गये। कौन आया और कौन गया—इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। अगन्तुक महोदय कौन थे ?—इसकी छान-बीन करने का किसी को अवसर ही नहीं मिला। सब उनकी अचेत दशा देखकर आश्चर्य-चकित हो गये। थोड़ी देर बाद वेंकटरमण की मूर्छा भंग हुई। उन्होने एक अँगड़ाई ली और उस अँगड़ाई के साथ ही उन्होंने अपने शरीर और आत्मा के बीच स्थित 'अह' की गाँठ को खोलकर अरुणाचलेश्वर शिव से अविच्छिन्न शाश्वत आत्म-संबंध स्थापित कर लिया। वैराग्य की भावना उनमें प्रबल हो उठी और आत्म-साधना ने स्थायी रूप धारण कर लिया। विद्यालय की पढ़ाई के साथ-साथ आत्म-साधना का क्रम भी चलता रहा। दो वर्ष और बीत गये। सत्तरहवाँ वर्ष लग गया। मन में गृह-त्याग की आकाँक्षा प्रबल हो उठी। एक दिन जब वह अपने चाचा के घर की ऊपरी छत पर बैठे जीवन और मृत्यु की गंभीर समस्या पर विचार कर रहे थे तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मृत्यु उनके निकट आ रही है। यह विचार आते ही वह आतंकित हो उठे। वह सोचने लगे कि मृत्यु शरीर की होती है अथवा इसमें निवास करनेवाले 'अहं' की ? मृत्यु के आगमन का आभास मिल ही चुका था। इसलिए वह अपने मनमें उठे प्रश्न का उचित उत्तर प्राप्त करने के लिए उत्कंठित होउठे। वह छत पर स्वस्थ होते हुए भी शव की भाँति लेट गये। उन्होंने शरीर के अङ्गों को एकदम शिथिल कर दिया। फिर वह विचार-मग्न हो गये। वह सोचने लगे—"क्या इस शरीर के साथ इसमें रहनेवाला 'अहं' भी भस्मीभूत हो जायगा ?" उसी समय भीतर से आवाज आयी "नहीं, मृत्यु शरीर की होती है, उसमें निवास करनेवाला 'अहं' (आत्मा) अविनाशी है, अमर है, मृत्यु उसे स्पर्श नहीं कर सकती।" भीतर का यह मौन उपदेश सुनकर वह सावधान हो गये और उठ बैठे। उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि आत्मा

अजर, अमर और अविनाशी है। उसी की साधना वास्तविक साधना है। उसी का विकास परम साध्य है। मृत्यु का भय व्यर्थ है। आत्मा की साधना में मृत्यु का भय बाधक होता है। यह अनुभूति, जीवन का यह सत्य प्राप्त कर वह एकदम उदासीन हो गये। माता-पिता और परिवार के प्रति उनका जो किंचित अनुराग था वह भी समाप्त हो गया। आत्मान्वेषण के लिए वह विकल हो गये। श्रद्धापूर्वक शिवनटराज और मीनाक्षी के मन्दिर में जाकर उन्होंने अपने जीवनोद्देश्य की सफलता के लिए नतमस्तक होकर प्रार्थना की और गृह-त्याग का दृढ़ निश्चय कर वहां से अपने घर चले आये।

घर आकर वेंकटरमण गृह-त्याग की योजना बनाने लगे। एक दिन उन्होंने अपने बड़े भाई से कहा कि आज विद्यालय में विशेष कक्षा का आयोजन है और मुझे उसमें सम्मिलित होना है। इसलिए विद्यालय जा रहा हूँ। नागस्वामी ने उनकी बात पर विश्वास किया और कहा कि मेरी जेब में पाँच रुपये हैं। उन्हें लेकर मेरा शुल्क जमाकर देना। इस प्रकार वेंकटरमण को बिना मांगे आर्थिक सहायता मिल गयी। उन्होंने तीन रुपये निकाले, घर को अंतिम बार प्रणाम किया और स्टेशन का मार्ग पकड़ा। जाते समय एक पत्र लिखकर वहीं छोड़ दिया और उसमें उन्होंने अपने गृह-त्याग का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया। उसमें उन्होंने नाम और गन्तव्य स्थान का उल्लेख नहीं किया। स्टेशन पहुँचकर उन्होंने विष्णुपुरम् का टिकट लिया और गाड़ी में बैठकर दूसरे दिन प्रातः काल वहाँ पहुँच गये। उन्हें तिरुवण्णामलै जाना था और वह अभी काफी दूर था। विष्णुपुरम् से वहाँ तक की पैदल यात्रा संभव नहीं थी। लेकिन पास में कुल ढाई आने थे। इसलिए वह अगले स्टेशन तक ही जा सके। वहाँ गाड़ी से उतरकर वह पैदल ही अरयणिनल्लूर पहुँचे। झुटपुटा समय था। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे थे। दीपक जलते-जलते वह अरयणिनल्लूर के एक देव-मंदिर में पहुँचे और वहाँ मंदिर के गर्भ-गृह में भगवती का दर्शन कर कृतार्थ हो गये। मंदिर का पट बन्द होनेवाला था। इसलिए वह बाहर निकल आये और दर्शकों का साथ पकड़कर किपूर नामक गाँव चले गये। वहीं रात-भर बिना भोजन किये वह रह गये। प्रातः काल होने पर एक दम्पति ने उन पर कृपा की और उन्हें थोड़ा मिष्ठान्न देकर उनकी क्षुधा शान्त की। शरीर और आत्मा के मेल का अन्य कोई साधन न देख उन्होंने ४ रु० में अपने कान की

सोने की वाली गिरवी रखी। इस प्रकार सं० १९५३ की भाद्रपद कृष्ण नौमी को वह तिरुवण्णमलै पहुँच गये।

तिरुवण्णमलै पहुँचने पर वेंकटरमण को अपूर्व शांति प्राप्त हुई। यही उनके स्वप्नों के चरितार्थ होने का केन्द्र था। ट्रेन से उतरते ही वह अरुणाचलेश्वर के मंदिर में गये और वहाँ उन्होंने परमज्योति के सम्मुख श्रद्धा और भक्ति से नत-मस्तक होकर आत्म-समर्पण किया। इसके बाद मंदिर से बाहर आकर उन्होंने अपना सारा सामान अयंकुलम-सरोवर में फेंक दिया। वस्त्र भी उतार दिये और कौपीन धारण कर ली। इस प्रकार वह किसी संन्यासी से संन्यास की दीक्षा लिये बिना ही संन्यासी हो गये। इसके बाद वह मंडप में जाकर तप में लीन हो गये। उन्होंने मौन व्रत धारण किया। बाहर मौन-व्रत में बाधा पड़ती देख वह भू-गर्भ-गृह के भीतर चले गये और वहाँ तप करने लगे। भूगर्भ-गृह चारों ओर अंधकार से आच्छादित था। कीड़े-मकोड़ों ने उसे अपना निवास-स्थान बना लिया था। लेकिन उन्हें इसका कुछ भी आभास नहीं हुआ। अपने तप में वह ऐसे लीन हो गये कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही। उनका यह भीषण तप देखकर लोग आश्चर्य-चकित हो गये। भौतिक युग में आत्मान्वेषण की इस कठोर साधना ने सबकी आंखें खोल दीं। जिन लोगों को प्राचीन ऋषियों, मुनियों और महर्षियों की भीषण आत्म-साधना पर विश्वास नहीं जमता था वे भी वेंकटरमण की कठोर साधना देखकर नतमस्तक हो गये। दर्शकों और भक्तों की भीड़ लगने लगी। जहाँ कोई जाने का साहस नहीं करता था वहाँ हजारों का प्रवेश होने लगा और वेंकटरमण 'ब्राह्मण स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

बालयोगी ब्राह्मण स्वामी मौन व्रती थे। फिर भी उनका दर्शन करने के लिए दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। इससे उनकी साधना में बाधा पड़ती थी। इसलिए वह दूसरे उपयुक्त स्थान पर चले जाते थे। कुछ दिनों तक वह कार्तिकेय के मंदिर में रहे। फिर वहाँ से उसी के निकट एक फुलवारी में तप करने लगे। परन्तु जब वहाँ भी दर्शनार्थियों तथा साधु-सन्तों ने उन्हें घेरना आरंभ किया तब वह मंगेपिल्लैयार-मंदिर में चले गये। इस प्रकार एक स्थात से दूसरे स्थान और एक मंदिर से दूसरे मंदिर में जाकर साधना करते हुए उनके जीवन के कई वर्ष बीत गये। उनके घर के लोगों को उनके संबंध में कुछ भी पता न लगा। इधर-

उधर खोज हुई। आदमी दौड़ाये गये। सगे-संबंधियों को पत्रादि लिखे गये, परन्तु कुछ भी पता नहीं लगा। अन्त में माता-पिता निराश होकर बैठ गये। उस समय तक अरुणाचल के इस बाल-योगी की ख्याति चारों ओर पहुँच चुकी थी और वह लोगों की चर्चा के विषय हो गये थे। उनके तप और त्याग से मदुरा के लोग भी परिचित थे और वे उनकी साधना से प्रभावित थे। माता-पिता के सौभाग्य से इन्हीं दिनों मदुरा के एक मठ में तिरुवण्णमलै के एक संत तंबिरानजी ने बाल-योगी के संबंध में एक भाषण दिया। उस समय श्रोताओं में रमण-परिवार का एक बालक भी बैठा हुआ था। आरंभ से अंत तक भाषण सुनने के पश्चात् उस बालक को यह विश्वास हो गया कि बाल-योगी उसके परिवार के वेंकटरमण ही हैं। यह विचार दृढ़ होते ही वह घर गया और उसने वेंकटरमण के चाचा नैल्लियप्पैयर को तिरुवण्णमलै के महात्मा के भाषण का सार सुनाकर उन्हें यह विश्वास दिलाया कि वहाँ के बाल योगी वेंकटरमण ही हैं। यह शुभ सूचना पाते ही नेल्लियप्पैयर ने तिरुवण्णमलै (अरुणाचल) गये। जिस समय वह वहाँ पहुँचे उस समय बाल-योगी रमण एक अमराई में समाधिस्थ थे। ऐसी स्थिति में वह तुरन्त उनसे न मिल सके। कुछ देर बाद उन्हें बाल-योगी से मिलने का अवसर मिला। बालयोगी को देखते ही उन्होंने मन-ही-मन अपने सौभाग्य की सराहना की और चुपचाप मदुरा लौट गये।

मदुरा पहुंचकर नैल्लियप्पैयर ने रमण की माता अपगम्माल को रमण के मिलने की शुभ सूचना दी। उस समय अपगम्माल के जीवन की मुर्झाई खेती लहलहा उठी और वह तुरन्त अपने पुत्र नागस्वामी को लेकर रमण से मिलने और उन्हें अपने साथ लौटा लाने के लिए तिरुवण्णमलै जा पहुंचीं। वहाँ पहुँचकर उन्होंने रमण को जिस स्थिति में देखा उससे उन्हें अत्यन्त चिन्ता हो गयी। मदुरा में रमण-फूल से कोमल बालक थे, किन्तु अब कठोर तप के कारण उनका शरीर एक दम काला पड़ गया था, जटाएँ बढ़ गयी थीं, हाथ-पैर सूख कर काँटा हो गये थे। ऐसी दशा में रमण को देखते ही माँ की ममता जाग उठी। उन्होंने उनसे घर लौट चलने के लिए बहुत आग्रह किया, परन्तु मौन-व्रती रमण टस-से-मस नहीं हुए। माँ की ममता उनके हृदय को स्पर्श न कर सकी। अन्त में निराश होकर वह मदुरा लौट गयीं। कभी-कभी वहाँ से वह रमण को देखने

के लिए अरुणाचल आती रहती थीं। पति का देहावसान हो ही चुका था। १६०० ई० में नागस्वामी भी चल बसे। इसके कुछ समय बाद ही नैल्लियप्प-यर भी दिवंगत हो गये। नागस्वामी की पत्नी का भी स्वर्गवास हो गया। अब रह गयीं एकाकी जीवन का भार ढोने के लिए माता अषगम्माल। १५-१६ वर्षों के भीतर उनके देखते-देखते सब उठ गये। परिवार सूना हो गया। ऐसी स्थिति में वह भी १६१६ ई० में रमण के पास अरुणाचल चली गयीं। यहीं ६ वर्ष पश्चात् १६२२ ई० में उनका स्वर्गवास हुआ। महर्षि रमण ने स्कन्दाश्रम से कुछ दूर पहाड़ी की तलहटी में उनकी समाधि बनवा दी। महर्षि रमण नियमा-नुसार अपनी माता की समाधि का दर्शन करने जाया करते थे। ६ महीने के बाद एक दिन वह उस समाधि के निकट जो बैठे तो बैठे ही रह गये और वहीं उन्होंने अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया। वहीं १६२२ ई० में उहोंने 'रमणाश्रम' की स्थापना की।

महर्षि रमण वर्तमान युग के जीवन-मुक्त संत थे। वह आत्मा के अन्वेषक थे। वाह्य प्रपंचों में न पड़कर उन्होंने अपने को जानने-समझने और पहचानने की साधना की। उनका विश्वास था—'आत्मा ही ईश्वर है। मैं हूँ' यही ईश्वर है। आत्मा में व्याप्त शाश्वत, अखण्ड और स्वाभाविक दशा ज्ञान है। आत्मा को प्राप्त करने के लिए आत्मा पर प्रेम रखना चाहिए। वास्तव में ईश्वर ही आत्मा है। आत्मा पर प्रेम ही ईश्वर से प्रेम है। यही भक्ति है। इस तरह ज्ञान और भक्ति एक ही हैं।' अपने इस विश्वास को उन्होंने अखण्ड तप-द्वारा चरितार्थ किया था। वह उच्च कोटि के योगी, पहुँचे हुए संत, परम भक्त और आत्मा के अनन्य उपासक थे। कबीर की भाँति उन्होंने अपनी साधना का मार्ग स्वयं प्रशस्त किया था। उन्होंने किसी का शिष्यत्व गृहण नहीं किया, किसी से मन्त्र नहीं लिया, किसी से दीक्षा नहीं ली, किसी संप्रदाय-विशेष से नाता नहीं जोड़ा। उन्होंने स्वयं अपनी खोज की। यही कारण था कि उन्हें आत्म-प्रचार नहीं करना पड़ा। उन्होंने किसी से शास्त्रार्थ नहीं किया, फिर भी देश के चोटी के विद्वान उनका पैर चूमते थे। वह विद्वान न होकर भी परम ज्ञानी और सत्य के खोजी थे। वह आत्म-जिज्ञासु थे। पुस्तकीय ज्ञान में उन्होंने विश्वास नहीं किया। उन्होंने सत्य की खोज की। वह कहा करते थे—'आत्मा में संस्थित होने पर ही आत्म-दर्शन सहज

और सुलभ होता है। इस जीवन के पीछे शाश्वत, निराकार आत्मा है। उसी की खोज करनी चाहिए। ईश्वर को जानने से पहले उसी को जानना चाहिए। उससे भिन्न ईश्वर की स्थिति ही नहीं है। ईश्वर आत्माभिव्यक्ति है। संसार आत्मा को न जानने के कारण ही दुखी है। मन दो नहीं हैं—अच्छा और बुरा हमारी जैसी वासना होती है उसी के अनुरूप अच्छे या बुरे मन का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है।' उनके इन विचारों का यदि हम गहराई से अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि वह भारत की संत-परम्परा में सर्वोच्च थे। उन्होंने किसी धर्म अथवा संप्रदाय की निन्दा नहीं की, किसी संत-महात्मा की खिल्ली नहीं उड़ाई, किसी विद्वान के मत का खंडन-मंडन नहीं किया, किसी समाज के रीति-रवाजों पर कीचड़ नहीं उछाला किसी नेता अथवा राज-वंश का आश्रय नहीं ग्रहण किया। वह परम अपरिग्रही महात्मा थे! उनके पास एक लंगोटी के अतिरिक्त दूसरी लंगोटी तक नहीं थी। उसी एक लंगोटी को वह काँटों की सहायता से सीकर पहना करते थे। आत्म-चिन्तन और आत्मानुसंधान में वह इतने लीन रहा करते थे कि उन्हें अपने तन की सुधि नहीं रहती थी। ऐसे थे वह आत्म-लीन, अपरिग्रही और त्यागी! १७ वर्ष की अवस्था से अपने दिवंगत होने तक उन्होंने पैसे का स्पर्श तक नहीं किया।

महर्षि रमण एकान्त-प्रिय संत थे। जिस दिन उन्होंने अरुणाचल में पदार्पण किया उस दिन से उन्होंने उसे त्यागने का नाम नहीं लिया। वह अपनी साधना में लीन रहे। अपने तप और त्याग से उन्होने अरुणाचल को नया जीवन प्रदान किया। वह वहाँ ५४ वर्ष (१८९६-१९५० ई०) तक रहे। इतने वर्षों में अरुणाचल का कोना-कोना उनके दिव्य व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर जगमगा उठा। अरुणाचल दक्षिण भारत का एक ऐसा स्थान है जिसकी महिमा का वर्णन पुराणों में मिलता है। पुराणों में कहा गया है कि इस पर्वत-रूपी लिंग में समस्त जगत व्याप्त है। यह पार्वतीजी की तपस्या-भूमि है। सत्य-युग में यह अग्नि के स्तंभ के रूप में था, त्रेता-युग में लाल मणि के समान था, द्वापर-युग में सुवर्ण था और कालि-युग में यह पाषाण है। महार्षि रमण ने कलि-युग में जन्म लेकर इस पाषाण-लिंग को अपने तप से जीवित कर दिया। इसी पाषाण लिंग की विरुपाक्ष और आम्र-गुफाओं में बैठकर उन्होंने आत्मा की खोज की। विरुपाक्ष-गुफा में निवास करते समय उन्होंने

'अक्षर मणमालै' की रचना की। इसी के अंचल में उन्होंने अपने आश्रम की स्थापना की। उनकी माता की समाधि के अतिरिक्त यहाँ एक कौवे की भी समाधि है। इस समाधि के सम्बन्ध में श्री रामलाल ने अपनी रचना 'भारत के संत-महात्मा' में एक घटना का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि एक दिन जब संत रमण अपनी साधना में लीन बैठे हुए थे, तब एक घायल कौवा उड़ता हुआ आया और आश्रम में गिर पड़ा। महर्षि ने उसे उठाकर उसका उपचार किया, पट्टी बाँधी और उसे सुरक्षित स्थान में रख दिया। तीन दिन बाद जब महर्षि ने उसे अपने हाथ में उठाया तब उसके प्राण-पखेरू उड़ गये! महर्षि रमण के हाथ से उसे सद्गति मिली। उन्होंने स्वयं उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया संपन्न की और उसकी समाधि बनवा दी। समाधि पर कौवे की आकृति का पत्थर लगवा दिया। यह समाधि उस कौवे की समाधि नहीं, महर्षि की करुणा का अमिट प्रतीक है। महर्षि रमण करुणा की सजीव प्रतिमा थे। मानव से लेकर चींटी तक को उनकी करुणा का दान मिला था। वह सब में अपनी जैसी आत्मा पाते थे और अपने समान ही उसका सत्कार करते थे। बन्दर, गिलहरी, मोर, कुत्ता (करुप्पन) और गाय (लक्ष्मी) आदि आश्रम में उनके मित्र थे। इन सब की सेवा और देख-भाल वह स्वयं करते थे। करुणा के साथ-साथ वह क्षमा की भी सजीव मूर्ति थे। वह इतने उदार और सहनशील थे कि किसी के अपराध करने पर भी वह ध्यान नहीं देते थे। उनके मन, हृदय और मस्तिष्क पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उन्होंने अपनी साधना से अपने मन को ऐसा बना लिया था कि पर-छिद्रान्वेषण की ओर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती थी। किसी के क्षमा माँगने पर वह प्रेम से कहा करते थे—'मेरे पास तो मन है ही नहीं, फिर उपचार की बात ठहर ही कैसे सकती हैं।' ऐसी उदार थी उनकी भावना! वह शरीर, भाव और मन से सर्वथा शून्य रहते थे। इसलिए उन्हें न तो शरीर की पीड़ा का अनुभव होता था और न मन के विचार का। कभी-कभी जब वह किसी के साथ पहाड़ी की ओर घूमने के लिए निकल पड़ते थे तब उनके नंगे पैर में काँटे चुभ जाते थे, रक्त भी बहने लगता था और गहरे घाव हो जाते थे। देखनेवालों को पीड़ा होती थी, पर महर्षि रमण शरीर और मन से इतने शून्य रहते थे कि उन्हें पीड़ा का तनिक भी अनुभव नहीं होता था।

महर्षि रमण शांति के महासागर थे। जिस दिन उन्होंने मौन व्रत-धारण किया उस दिन से ११ वर्ष (१८९६-१९०७ ई०) तक उन्होंने अपनी जिह्वा नहीं

खोली। फिर भी उनके दर्शन-मात्र मे लोग संतुष्ट हो जाते थे। कोरे उपदेश, प्रवचन, सिद्धि और चमत्कार में उनका विश्वास नहीं था। इसलिए वह मौन-व्याख्यान ही देते थे। अवसर पड़ने पर वह लिखकर संकेत कर दिया करते थे। साधारण दर्शकों के अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वान भी उनके पास शंका-समाधान के लिए आया करते थे। संस्कृत के उद्‌भट विद्वान काव्यकंठ गणपति शास्त्री, कपाली शास्त्री, शुद्धानन्द भारती, शेषाद्रि स्वामी, योगी रंगनाथन आदि उनके शिष्य थे। इनसे बातें करते समय महर्षि उतना ही कहते थे जितने से उनकी शंकाओं का समाधान हो जाता था। इस प्रकार अरुणाचल साधना-स्थल होने के साथ-साथ ज्ञान-प्रसार का एक केन्द्र भी बन गया था। १९०७ ई० के बाद तो अरुणाचल में प्रतिदिन दर्शकों और जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी। बड़ी-बड़ी दूर से लोग आते थे और अपनी ज्ञान-पिपासा शांत कर लौट जाते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन के दिनों में हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद भी वहाँ पधारे थे और उन्होंने महर्षि का दर्शन कर अपनी जिज्ञासा शांत की थी। महर्षि छोटे बड़े— सबसे प्रेमपूर्वक मिलते थे। उनकी दृष्टि में समता थी। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, छूत-अछूत— उनकी निगाह में सब बराबर थे।

महर्षि रमण कई भाषाओं के जानकार थे। तमिल उनकी मातृ भाषा थी। इसके अतिरिक्त वह अँग्रेजी, संस्कृत, तेलुगू, मलयालम आदि भाषाएँ भी जानते थे। लेकिन इतनी भाषाएँ जानने पर भी वह अध्ययनशील नहीं थे। पुस्तकीय ज्ञान में उनका विश्वास नहीं था। उनकी पुस्तक उनकी आत्मा थी। आत्मा ही उनका वेद था। आत्मा ही उनका कुरान था। आत्मा ही उनकी बाइबिल थी। आत्मा से बाहर की दुनिया उन्होंने नहीं देखी। वह अन्तर्मुखी थे, अन्तर्द्रष्टा थे। उन्होंने अपने हाथ से किसी पुस्तक की रचना नहीं की। उनके संपर्क में विशेष रूप से आनेवाले काव्यकंठ गणपति शास्त्री ने 'रमण-गीता', टी० वी० कपाली शास्त्री ने 'सद्‌दर्शन भाष्य' और 'महर्षि के साथ संभाषण,' शुद्धानन्द भारती ने 'रमण-विजय' और पालब्रांटन ने 'गुप्त भारत की खोज', रहस्य-पथ' और 'अरुणाचल-संदेश' की रचना की। इनके अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी उनके उपदेशों के संग्रह मिलते है। 'उपदेश-सार', 'अरुणाचलाष्टक', 'अक्षर मण-मालै' आदि में उनके उपदेश भरे पड़े हैं। वह अपने-जीवन-भर मौन उपदेश देते रहे और एक दिन १४ अप्रैल १९५० ई० को वह पूर्ण रूप से मौन हो गये।

●●

वह ओजपूर्ण भाषण देती थीं। उनके भाषण का प्रत्येक वाक्य अपने में पूर्ण एक कविता होती थी। वह धारा प्रवाह बोलती थीं। अपनी भाषा पर, अपने भावों और विचारों की श्रृङ्खला पर उनका इतना सबल अधिकार था कि वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकती थीं। उनके भाषण प्रभावशाली होते थे। साहित्य, समाज-सुधार, सामयिक राजनीति आदि उनके भाषण के विषय होते थे। अपने भाषणों से ही उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े नेताओं—फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी आदि को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। इन्हीं नेताओं के प्रोत्साहन से उन्होंने १६१५ ई० में राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया।

सरोजिनी नायडू सर्वप्रथम १६१६ ई० में लखनऊ की अखिल भारतीय काँग्रेस के इकतीसवें अधिवेशन में सम्मिलित हुई थीं। उस समय श्री अंबिका-चरण मजूमदार काँग्रेस के सभापति थे। स्वायत्त-शासन के प्रस्ताव पर लोगों के जोरदार भाषण हो रहे थे। इस अवसर पर सरोजिनी नायडू ने भी भाषण दिया। काँग्रेस के मंच से उनके इस पहले भाषण ने ही उन्हें देश का नेता बना दिया। १६१७ ई० में उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। जहाँ-जहाँ भी वह गयीं वहाँ-वहाँ उनका भाषण सुनने के लिए अपार भीड़ टूट पड़ी। हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर उनके भाषण बड़े गम्भीर और तथ्यपूर्ण होते थे। समस्त देश का दौरा करने से उनका अनुभव बढ़ा, उनकी ख्याति बढ़ी और १६१८ ई० में वह मद्रास-प्रान्तीय राजनीतिक-सम्मेलन की अध्यक्षा मनोनीत हुईं। यह सम्मेलन काँजीवरम में बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ। इसके बाद उन्होंने फिर समूचे देश का भ्रमण किया और वह अखिल भारतीय सामाजिक सेवा-संघ की अध्यक्षा चुनी गयीं। इस संघ की बैठक काँग्रेस-अधिवेशन के साथ दिल्ली में ही हुई थी।

१६१६ ई० सरोजिनी नायडू यूरप गयीं। वहाँ जाकर जिनेवा में उन्होंने राष्ट्रीय स्त्री-मताधिकार-परिषद् में ऐसा ओजस्वी भाषण दिया कि सारे यूरोप में उसकी धूम मच गयी। १६२० ई० में जब महात्मा गाँधी ने जलियाँवाला-हत्याकांड के बाद असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया तब वह लन्दन में थीं। अस्वस्थ होने से वह भारत न आ सकीं। फिर भी उन्होंने भारत की माँग को

यूरोप के कोने-कोने में पहुँचाया। 'खिलाफत-आन्दोलन' और 'जलियाँवाला-हत्या-कांड' पर किस्सवे-हाल में उन्होंने जो भाषण दिये वे भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में अमर हैं। उन भाषणों में आग भरी हुई थी। जलियाँवाला-हत्या-कांड का उनके हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भारत-सरकार को 'कैसरेहिन्द' का पदक लौटा दिया। इसके बाद ही वह स्वदेश लौट आयी।

१६२२ ई० के आरंभ में सरोजिनी नायडू कॉंग्रेस की ओर से दक्षिण अफ्रीका का दौरा करने के लिए दक्षिण अफ्रीका भेजी गयी। वहाँ से लौटने पर उसी वर्ष वह बम्बई-कारपोरेशन की सदस्या और बम्बई-प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी की अध्यक्षा चुनी गयीं। मार्च के महीनेमें कालीकट में उनका भाषण हुआ। अपने इस भाषण में उन्होंने मोपला की प्रजा पर किये गये अत्याचारों का वर्णन किया। इस भाषण की सूचना पाकर मद्रास की सरकार ने उन पर असत्य बातों का प्रचार करने का अपराध लगाया। इस प्रकार के दोषारोपण से सरोजिनी नायडू का रक्त खौल उठा। उन्होंने सप्रमाण अपनी बातों को सिद्ध किया और मद्रास की सरकार का मुँह बन्द कर दिया। इसी वर्ष ११ मार्च को महात्मा गाँधी गिरफ्तार कर लिये गये। उनकी गिरफ्तारी से सरोजिनी नायडू के हृदय पर बड़ी चोट लगी। उस समय वह अस्वस्थ थीं, लेकिन अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न कर वह महात्माजी के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए निकल पड़ीं। उसी समय से उन्होंने खादी पहनना आरंभ किया। उन्होंने सारे देशका दौरा किया और अक्तूबर के महीने में लङ्का की यात्रा की। सन् १६२३ ई० में नागपुर के झण्डा-सत्याग्रह-आन्दोलन में उन्होंने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया और सन् १६२५ ई० में वह कानपुर-काँग्रेस की सभा-नेत्री चुनी गयीं। उन दिनों सारे देश में सांप्रदायिक दङ्गों का जोर था। इन दंगों को शान्त करने में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु उन्होंने एक वीरांगना की भाँति प्रत्येक कठिनाई का साहसपूर्वक सामना किया।

१६२८ ई० के अन्त में सरोजिनी नायडू अमरीका गयीं। वहाँ उन्होंने भारत की माँगों का खूब प्रचार किया। इसके बाद सन् १६२६ ई० के अगस्त मास में वह अफ्रीका गयीं और वहाँ की काँग्रेस की अध्यक्षा निर्वाचित हुईं। १६३० ई० के नमक-सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने के लिए गांधी जी ने महिलाओं को रोक दिया था, किन्तु सरोजिनी नायडू ने उनकी बात नहीं स्वीकार की। गांधीजी के

गिरफ्तार होने के बाद वयोवृद्ध अब्बास तैयबजी ने उस आन्दोलन का नेतृत्व किया और जब वह भी पकड़ लिये गये तब सरोजिनी नायडू ने उसका भार ग्रहण किया। २१ मई, सन् १९३० ई० को वह भी गिरफ्तार हो गयीं और यरवदा-जेल में बन्द कर दी गयीं। गाँधी-इर्विन-समझौते के पश्चात् जब काँग्रेस ने गोल-मेज-परिषद् में भाग लेने का निश्चय कर लिया तब गाँधीजी और मालवीयजी के साथ वह भी लन्दन गयीं और परिषद् में उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में गाँधीजी के मत का समर्थन किया।

इङ्गलैण्ड से लौटने पर १९३१ ई० के सत्याग्रह-आन्दोलन में सरोजिनी नायडू गिरफ्तार करली गयीं। जेल से मुक्त होने पर वह फिर राष्ट्र-सेवा में लग गयीं। चुनाव के दिनों में उन्होंने सारे भारत का दौरा किया और काँग्रेस के सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया। चीन को भेजे जानेवाले काँग्रेस-सेवा-दल को विदाई देने के लिए ३० अगस्त, सन् १९३८ ई० को बम्बई में जो सार्वजनिक सभा हुई थी उसका नेतृत्व उन्ही ने किया था। इसके बाद भी वह बराबर देश के विभिन्न आन्दोलनों में भाग लेती रहीं। सन् १९४२ की जन-क्रन्ति में वह भी गिरफ्तार हुईं और सब नेताओं के साथ जेल से मुक्त हुईं। भारत-विभाजन के फलस्वरूप जब सारे देश में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये थे तब उसको शान्त करने में उन्होंने बड़ी सहायता की थी। वह उत्तर प्रदेश की प्रथम गवर्नर थीं। उन्होंने जिस अंतिम समारोह में भाग लिया वह लखनऊ-विश्वविद्यालय का दीक्षान्त-समारोह था। इसके बाद ही वह बीमार पड़ी और २ मार्च, १९४९ ई० को लखनऊ में उनका स्वर्गवास हो गया।

देवी सरोजिनी का जीवन एक सफल कवयित्री का जीवन था। वह भावनाओं की सुन्दर मंजूषा थी। भावनाओं ने ही उन्हें कवयित्री और देश-प्रेमी बनाया था। उन्हें अपने हृदय और मस्तिष्क पर पूरा अधिकार था। अँग्रेजी भाषा की वह पंडिता थी। जिस समय वह अँग्रेजी में भाषण देने लगती थी उस समय उनकी धारा प्रवाह ओजस्वी वक्तृता सुनकर बड़े-बड़े अँग्रेज दातों तले अंगुली दबा लेते थे। वह एक सहृदय कवयित्री थीं। अपने भाषणों में भी वह काव्यमय भाषा का प्रयोग करती थीं। कविता उनके हृदय का शृंगार थी। 'दि गोल्डेन थ्रेशहोल्ड' (१९०५ ई०) 'बर्ड आफ टाइम' (१९१० ई०) और 'दि ब्रोकेन

विंग' (१९१७ ई०) आदि में उनकी जो कविताएँ संगृहीत हैं उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह भावना और कल्पना की कवयित्री थीं। अँग्रेजी में कविता करके भी उन्होंने पश्चिमी काव्य-विषयों को नहीं अपनाया। अपनी कविताओं में वह भारतीय भावनाओं का ही चित्रण करती थीं। यही उनके काव्य की विशेषता है। अँग्रेजी में उनकी ऐसी रचनाओं का बहुत महत्त्व है। अँग्रेजी वातावरण में शिक्षित होकर भी उन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल अपने जीवन और साहित्य का निर्माण किया। यह उनके व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता थी। वह सोलह आने भारतीय नारी थीं। भारत की नारियों को जगाने में, उनकी शक्ति का परिचय कराने में और उन्हें आगे बढ़ाने में उन्होंने जो प्रयत्न उनको किया उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

भारत ने सरोजिनी देवी को पांच रूपों में देखा है: चंचलता और सरलता से भरा उनका कन्या-रूप, प्रेम से भरा उनका पत्नी-रूप, वात्सल्य से भरा उनका माता-रूप, राष्ट्र-प्रेम से भरा उनका देश-सेविका-रूप और भावुकता से भरा उनका कवयित्री-रूप। अपने इन पाँचों रूपों में वह महान थीं। नारी अबला समझी जाती है, परन्तु वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सबला थीं। उन्होंने बड़े लगन से देश की सेवा की। महात्माजी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। राजनीति के क्षेत्र में वही उनके गुरु थे। सरोजनी देवी ने बराबर उनका साथ दिया। सन् १९२२ ई० से वह काँग्रेस-महासमिति की सदस्या रहीं। देश के प्रत्येक आन्दोलन में उन्होंने खुलकर भाग लिया। काँग्रेस की कार्य-समिति में उन्होंने ही सर्वप्रथम महिलाओं को स्थान दिलाया था। भारत में नारी-जागरण का श्रेय उन्हीं को प्राप्त था। त्याग और तप के बल पर देश-भक्ति और देश-सेवा का जो आदर्श उन्होंने नारी-समाज के समक्ष उपस्थित किया उससे प्रभावित होकर अनेक महिलाओं ने स्वतन्त्रता-संग्राम में नेताओं का हाथ बटाया। वह नारी-समाज की गौरव थीं। उनके व्यक्तित्व में प्राचीन और नवीन संस्कृतियों का अभूतपूर्व समन्वय था। वह आदर्श कन्या, आदर्श पत्नी, आदर्श माता और आदर्श राष्ट्र-सेविका थीं। उनके असामयिक निधन से देश को जो क्षति पहुँची उसकी पूर्ति अबतक नहीं हो सकी है।

पाण्डुरङ्ग वामन कणे

माहाराष्ट्र का रत्नागिरि-मंडल वीरों और विद्वानों की जन्म-भूमि है। उसी की मिट्टी पर लोटपोट कर गोपालकृष्ण गोखले ने आजादी का बिगुल बजाया, उसी की धूल से खेल-कूदकर लोकमान्य तिलक ने सिंहनाद किया और उसी की रज अपने शीश पर धारणकर रामकृष्ण भण्डारकर ने 'सर' की उपाधि प्राप्त की। डा० पाण्डुरंग वामन कणे भी उसी धरती की देन हैं।

डा० पाण्डुरङ्ग वामन कणे हमारे देश की विभूति हैं। महाराष्ट्र में जन्म लेकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता और पाण्डित्य से महाराष्ट्र का ही नहीं, संपूर्ण भारत का मुख उज्ज्वल किया है। संस्कृत-भाषा, संस्कृत-साहित्य, वेद, कर्मकाण्ड, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छंद, अलंकार, प्राचीन भारतीय इतिहास, शिला-लेख ताम्रलेखादि के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ वह विधि-शास्त्र के पंडित, गंभीर शिक्षा-विद, संगीत-शास्त्र के ज्ञाता, अनेक गवेषणात्मक रचनाओं के प्रणेता, समाज-सेवी और विविध भाषाओं के विद्वान हैं। अध्ययन करना और उस अध्ययन से लोगों को लाभान्वित करना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। परिश्रम और अध्यवसाय-द्वारा उन्होंने अपने हाथों अपने जीवन का निर्माण किया है। वह माँ भारती के भक्त और उसी के मंदिर के अनन्य तपस्वी हैं।

डा० पाण्डुरङ्ग वामन कणे का जन्म ७ मई, १८८० ई० को रत्नागिरि जनपद के पर्शराम नामक गाँव के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। आरम्भ में उन्होंने रत्नागिरि के एस० पी० जी० मिशन हाई स्कूल से प्रवेशिका-परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद वह बम्बई के विल्सन कालेज में प्रविष्ट हुए। इस कालेज से

उन्होंने १६०१ ई० में बी० ए० पास किया। संस्कृत में असाधारण प्रतिभा दिखाने और उच्चतम अंक प्राप्त करने के कारण उन्हें 'भाऊदाजी-पुरस्कार' भी मिला। इसके बाद १६०२ ई० में एल-एल० बी० प्रथम खंड और १६०३ ई० में उन्होंने अँग्रेजी और संस्कृत में एम० ए० पास किया। संस्कृत में सबसे अधिक अंक पाने के कारण उन्हें 'जल-वेदान्त' पुरस्कार मिला। इस प्रकार २३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त किया।

पाण्डुरङ्ग कणे बड़े मेधावी थे। अध्ययन का उन्हें चस्का था। संस्कृत को उन्होंने अपने जीवन का अंग बना लिया था। उन्होंने विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर दिया था, लेकिन उस जीवन के प्रति उनका अनुराग बना हुआ था। इस अनुराग की रक्षा अध्यापन-कार्य अपनाने पर ही हो सकती थी। सौभाग्य से १६०४ ई० में रत्नागिरि के सरकारी स्कूल में वह अध्यापक हो गये। लेकिन वह प्रशिक्षित अध्यापक नहीं थे। इसलिए उन्होंने सन् १६०५ ई० में सेकेंडरी टीचर्स सर्टीफिकेट (एस० टी० सी०) की परीक्षा पास की। इस परीक्षा में वह महाराष्ट्र-भर में सर्वप्रथम आये। सन् १६०६ ई० में उन्होंने शिक्षक-प्रशिक्षण-सम्बन्धी एक और परीक्षा पास की। इसी वर्ष उन्हें उनकी रचना 'अलंकार-शास्त्र का इतिहास' पर बी० एन० मांडलिक स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ और फिर अप्रैल, १६०७ ई० में बम्बई के एलफिस्टन हाई स्कूल के प्रधान संस्कृत-अध्यापक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। इस वर्ष उन्हें उनकी कृति 'महाकाव्यों में वर्णित आर्यों की रीति-नीति' पर १५० रु० का बी० एन० मांडलिक-पुरस्कार मिला। वकालत की ओर उनकी विशेष रुचि थी। इसलिए सन् १६०८ ई० में उन्होंने एल०एल० बी० द्वितीय खण्ड भी पास किया। सन् १६०६ ई० में वह प्रोफेसर एस० आर० भण्डारकर के स्थान पर एलिफिस्टन कालेज, बम्बई प्रोफेसेर में नियुक्त हुए। इस पदपर लगभग दो वर्ष तक कार्य करने के बाद उन्होंने सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति से असंतुष्ट होकर त्याग-पत्र दे दिया।

अध्यापन-कार्य से मुक्त होकर डा० पाण्डुरङ्ग ने सन् १६११ ई० से बम्बई के उच्च न्यायालय में वकालत करना आरम्भ किया। सन् १६१२ ई० में उन्हों हिन्दू-मुस्लिम-कानून में एल-एल० एम० की परीक्षा पास की। वकालत उनकी जीविका का साधन थी, लेकिन अब उसके प्रति उनका विशेष मोह नहीं था। इसलिए वकालत के काम से अवकाश पाते ही वह अपने अध्ययन में व्यस्त हो जाते थे। १६१३ ई०

में उन्होंने संस्कृत और उससे सम्बन्धित भाषाओं पर विल्सस-व्याख्याता के रूप में भाषाशास्त्र-सम्बन्धी छः भाषण दिये। शोध-कार्य उन्हें अत्यधिक प्रिय था और अब भी है। शोध-कार्य में उनकी लगन देखकर बम्बई-विश्वविद्यालय ने उन्हें 'महाराष्ट्र का प्राचीन भूगोल' विषय पर शोध करने के लिए नियुक्त किया। इस कार्य को उन्होंने दो वर्ष (सन् १९१५-१६ ई०) में पूरा किया। इसके बाद विल्सन कालेज, बम्बई में पूरे एक सत्र उन्होंने प्रो० भण्डारकर के स्थान पर संस्कृत-अध्यापक का कार्य किया और फिर सन् १९१७ ई० से सन् १९३३ ई० तक ला-कालेज, बम्बई में वह ला के अध्यापक रहे। उनके अध्ययनशील स्वभाव के कारण उनकी वकालत नहीं चली, लेकिन उनका ला का अध्ययन अत्यन्त गहन और गम्भीर था और नौ वर्ष (१९१९-२८ ई०) तक वह बम्बई-विश्वविद्यालय के कला और विधि-विभाग के निर्वाचित सदस्य रहे। १९४१ ई० में उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया गया। दो वर्ष तक वह बम्बई-विश्वविद्यालय के उप-कुलपति भी रहे। प्रयाग-विश्वविद्यालय ने भी उन्हें साहित्य में डाक्टर की उपाधि देकर उनका सम्मान किया।

१९५४ ई०में डा० कणे राज्य-सभा के सदस्य मनोनीत हुए। इस पद से उन्होंने अपनी विद्वत्ता, जागरूकता और लगन का जो परिचय दिया उसने उन्हें सरकार की दृष्टि में बहुत ऊँचा उठा दिया और वह इस्तम्बोल और कैम्ब्रिज में होनेवाले विश्व-प्राच्य-विद्याविद् सम्मेल के अधिवेशन में भाग लेने के लिए भारतीय सरकार के प्रतिनिधि बनाकर भेजे गये। वहाँ उन्होने भाषण देकर लोगों को आश्चर्य-चकित कर दिया। फ्रांस, जर्मनी, रूस, अमरीका, इंग्लैण्ड आदि देशों के प्राच्य-विद्याविदों ने उनके गम्भीर ज्ञान और अध्ययन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अखिल भारतीय प्राच्य विद्याविद्-सम्मेलन का नागपुर-अधिवेशन उन्हीं के सभापतित्त्व में सम्पन्न हुआ। अखिल भारतीय इतिहास-सम्मेलन के वालतेर-अधिवेशन के भी वही सभापति चुने गये। उनकी विद्वत्ता और उनके गहन ज्ञान से प्रभावित होकर सन् १९५५ ई० में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मश्री' की उपाधि देकर उनका सम्मान किया। इसके बाद १९६३ ई० में उन्हें 'भारतरत्न की' सर्वोच्च उपाधि दी गयी।

डा० पाण्डुरङ्ग कणे महाराष्ट्र के आलोक-स्तंभ हैं। अबतक उन्होंने जो कार्य

अपने हाथ में लिया है उसे उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक पूरा किया है। सादा जीवन और उच्च विचार, उनके जीवन का आदर्श है। उनका जीवन इतना संयमित और नपा तुला है कि वह एक क्षण के लिए भी बेकार नहीं बैठ पाते। अध्ययन उनका व्यसन है। प्रातः काल घूमने में उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है। वह पूर्ण निरामिषाशी हैं। विगत पचास वर्षों से उन्होंने किसी प्रकार का खट्टा पदार्थ सेवन नहीं किया है। शरीर से वह वृद्ध हो गये हैं और कई वर्षों से वह ड्योडोनल अलसर-जैसे भयानक रोग से पीड़ित हैं, फिर भी उनके मन में यौवन की उमंग भरी रहती है और वह अपनी साधना में तल्लीन रहते हैं। उनका गार्हस्थ्य-जीवन अत्यन्त सुखद और शांत है और वह दो पुत्रों तथा तीन पुत्रियों के पिता हैं।

संस्कृत, मराठी और अँग्रेजी के अतिरिक्त डा० कणे और भी कई भाषाओं के अच्छे जानकार हैं। उन्होंने कई पुस्तकोंकी रचना की है। 'भारत की रामायण कालीन सामाजिक स्थिति', 'संस्कृत साहित्यशास्त्र, का इतिहास', 'धर्म-शास्त्र-विचार' और 'ऋक्-सार-संग्रह' उनके मराठी-भाषा के ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त विश्वनाथ-कृत 'साहित्य-दर्पण', वाणभट्ट-कृत 'कादम्बरी', भवभूत-कृत 'उत्तर रामचरित', वाणभट्ट-कृत 'हर्ष चरित', नीलकंठ-कृत 'व्यवहार-मयूख', 'कात्यायन स्मृति सारोद्धार' आदि की उन्हों ने सुविस्तृत टीकाएँ लिखी है। 'हिन्दू-कानून का वैदिकी आधार', 'धर्म-शास्त्र का इतिहास' (पाँच खण्डों में), 'संस्कृत अलंकार-शास्त्र का इतिहास' आदि उनके मौलिक ग्रन्थ है। इनमें से 'धर्म-शास्त्र का इतिहास' उनका अत्यन्त प्रमाणित और बहुचर्चित ग्रंथ है। इस ग्रंथ से उनके पाण्डित्य और उनके गहन अध्ययन का परिचय मिलता है।

बहुत तेज थे। अपने सहपाठियों तथा अन्य विद्यार्थियो के साथ उनका व्यवहार बहुत अच्छा था। वह सब की सहायता करते थे। जिन विद्यार्थियों के पास पढ़ने के लिए पुस्तकें नहीं रहती थीं उन्हें वह अपनी पुस्तक दे देते थे। जाड़े के दिनो में किसी विद्यर्थी को ठिठुरते हुए देखना उनके लिए असह्य हो जाता था। वह उसे अपना कोट तक उतारकर दे देते थे। अपने इस व्यवहार के कारण वह अपने विद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच बहुत लोक-प्रिय हो गये थे। वह आदर्श विद्यार्थी थे। खेल-कूद में भी उनका मन लगता था। हाकी, फुटबाल, बालीबाल आदि खेलों को वह बड़े चाव से खेलते थे। टेनिस उनका प्रिय खेल था। इस खेल में उस समय उनका मुकाबला करनेवाले बहुत कम लोग थे। इस तरह मंगलोर में शिक्षा समाप्त कर वह वकालत पढ़ने के लिए बम्बई गये।

बम्बई से वकालत की परीक्षा पास कर वह मंगलोर लौट आये और वकालत करने लगे। थोड़े ही दिनो में वह एक अच्छे वकील हो गये। वकालत के कामों में लगे रहने पर भी वह बराबर टेनिस खेलते रहे और इस खेल में उन्होंने अच्छा नाम पैदा किया। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध खिलाड़ियों में उनकी गिनती होती थी। इन कामो के साथ वह समाज-सुधार के कामों में भी लगे रहते थे। नारी-शिक्षा में उनका विश्वास था। इसके लिए उन्होंने बड़ा काम किया। अपनी पत्नी शान्ताबाई के सहयोग से उन्होने एक महिला-सभा की स्थापना की। महिलाओं का लिखना-पढ़ना सिखाना और उन्हे गृह-प्रबन्ध आदि की शिक्षा देना इस सभा का मुख्य उद्देश्य था। इसके साथ ही उन्होंने विधवा-विवाह के लिए भी प्रयत्न किया। उनके इन सामयिक सुधारो से उनके सहधर्मी उन पर बहुत बिगड़े, परन्तु उन्होने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह समाज-सुधार के कामो में बराबर लगे रहे।

उस समय दक्षिण भारत में स्वामी ईश्वरानन्द अपनी सामाजिक सेवाओं के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। हरिजनों के उत्थान में वह जी-जान से लगे हुए थे। यह देखकर सदाशिव राव का भी ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। स्वामीजी के साथ उन्होंने भी हरिजनों के उत्थान के लिए काम करना

आरम्भ कर दिया। दक्षिण कर्णाटक के हरिजन-सेवक-समाज के वह कई वर्षों तक सभापति रहे और इस पद से उन्होंने हरिजनों की बहुत सेवा की। अकाल, बाढ़ और महामारी के दिनों में उन्होंने दीन-दुखियों की बड़ी सहायता की। उन्होंने कई अन्न-क्षेत्र खोले, दरिद्र-नारायणों के लिए अन्न और वस्त्र की व्यवस्था की और उनके रहने के लिए मकानों का प्रबन्ध किया। इन कामों में उन्होंने अपनी जेब से काफी पैसा लगाया। इससे उनकी अधिकांश संपत्ति निकल गयी, परन्तु उन्होंने कभी इसकी चिन्ता नहीं की।

सामाजिक कार्यों में सतत लगे रहने के साथ-साथ सदाशिव राव ने देश के स्वतंत्रता-संग्राम में भी भाग लिया। सन् १९१९-२० में जब महात्मा गाँधी ने अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ा और सत्याग्रह-आन्दोलन आरम्भ किया तब उन्होंने कर्णाटक में सत्याग्रह-पत्र पर सबसे पहले हस्ताक्षर किया। सन् १९२० के सत्याग्रह-आन्दोलन में उन्होंने कर्णाटक को जगाने के लिए बहुत परिश्रम किया। नई उमंग थी, नया उत्साह था, नई कार्य-शैली थी। उनके प्रयत्न से संपूर्ण कर्णा-कट जाग उठा। इसके बाद उन्होंने अपना तन-मन-धन देश-सेवा में लगा दिया। उन्होंने कर्णाटक के शिक्षित नवयुवकों का एक सेवा-दल तैयार किया और उसकी सहायता से स्वदेशी-प्रचार, शराब-बन्दी, नमक-सत्याग्रह आदि भिन्न-भिन्न रष्ट्रीय आन्दोलनों में बड़ा काम किया। वह कई बार जेल गये। जेल से छूटने पर भी वह देश-सेवा में लगे रहे।

सदाशिव राव निर्भीक जन-सेवक और देश-प्रेमी थे। समाज-सेवा और देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होकर उन्होंने अपना सारा धन देश के कामों में लगा दिया। इससे उनकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी। सन् १९३५ तक उनके पास कुछ भी न रह गया। दरिद्र-नारायणों की सेवा में वह स्वयं दरिद्र हो गये। उस समय उनकी पुत्रियाँ बँगलौर के विज्ञान-कालेज में पढ़ रही थीं। उन्हें पढ़ाने के लिए भी उनके पास धन नहीं था। परन्तु उन्होंने कभी इसकी चिन्ता नहीं की। धनाभाव कभी भी उनके सेवा-मार्ग में बाधक नहीं हुआ।

सन् १९३७ में फैजपुर में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था। उसमें भाग लेने के लिए देश-भक्त सदाशिव राव घर से निकल पड़े। जाड़े के दिन थे और वर्षा हो रही थी। ऐसी शीत और वर्षा में एक भी गर्म कपड़ा उनके

पास नहीं था। सर्दी की जानलेवा ठिठुरनने उनका शरीर कसकर पकड़ लिया। ज्वर बढ़ गया और उनके बम्बई पहुँचते-पहुँचते उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। अपने जीवन का अंतिम समय आया समझकर उन्होंने अपनी पुत्रियों को देखने की इच्छा प्रकट की, परन्तु उनके आने के पहले ही वह इस संसार से कूच कर गये। बम्बई में उनके शव का तीन मील लम्बा जुलूस निकाला गया और चौपाटी पर उनका अंतिम संस्कार संपन्न किया गया।

इस समय तक सदाशिव राव की माता जीवित थीं। कुछ दिनों बाद मंगलोर जाकर गाँधीजी उनसे मिले। बूढ़ी माता गाँधीजी को देखकर रोने लगीं। गाँधीजी ने कहा—"सदाशिव का जीवन स्वर्ण के समान पवित्र था। धन्य है वह माता और धन्य है वह भूमि जिसने सदाशिव-जैसे देश-भक्त को जन्म दिया है।"

सुब्रह्मण्यम् अय्यर भारती

तनिल-भापा के कवियों में सुब्रह्मण्यम् अय्यर 'भारती' का बहुत ऊँचा स्थान है। उन्होंने अपने समय की आशा-अभिलापा को अपनी ओजस्वी वाणी-द्वारा घर-घर पहुँचाया है और लोगों को दासता की गहरी नींद से जगाकर उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया है। इसलिए तमिल-भाषा-भाषी उनकी रचनाओं को बड़े चाव से पढ़ते और उनका आदर करते हैं। वह तमिल-भापा के राष्ट्र-कवि माने जाते हैं।

महाकवि भारती का जन्म एट्टयपुरम् नाम की एक छोटी-सी रियासत (मद्रास) के अन्तर्गत त्रिनेलवेली नामक ग्राम में ११ सितम्बर, सन् १८८२ ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम मित्रास्वामी अय्यर और उनकी माता का नाम लक्ष्मीअम्माल था। माता-पिता ने अपनी संतान का नाम सुब्रह्मणयम् रखा। सुब्रह्मणयम् अपने माता-पिता की बहुत प्यारी संतान थे। इसलिए वे उन्हें 'सुब्बैया' कहकर पुकारते थे।

सुब्बैया आरंभ से ही पढ़ने-लिखने में बहुत तेज थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। इस दुःख की तरलता ने ही उनके हृदय में काव्य की धारा प्रवाहित कर दी। कहते हैं, सात वर्ष की अल्पावस्था में ही वह कविता करने लगे थे और ११ वर्ष की अवस्था में एक अच्छे कवि हो गये थे। उनके साथी और हमजोली उनकी कविताएँ सुनकर बहुत प्रसन्न होते थे। धीरे-धीरे जब उनकी कविताएँ कविता-पारखी पंडितों तक पहुँचीं तब वे भी उनकी प्रतिभा की प्रशंसा करने लगे। इस तरह वाहवाही का पुचकार पाकर बाल-कवि सुब्बैया का कवि-हृदय बढ़ता-पनपता गया।

उन दिनों रियासत एट्टयपुरम् के राजा बड़े साहित्य-प्रेमी थे। उनकी सभा

संपादक के रूप में कार्य किया। आरंभ में यही उनकी जीविका के साधन थे। लेकिन इनमें उनका मन नहीं लगता था। वह स्वतंत्र होकर देश और साहित्य की सेवा करना चाहते थे।

जहाँ चाह होती है, वहाँ उसकी पूर्ति के लिए राह भी निकल आती है। भारती ने जैसे-तैसे अनिच्छापूर्वक दो-तीन वर्ष तक जीविकोपार्जन किया। इसी बीच उनके सौभाग्य से सन् १९०५ ई० में वंग-भंग-आन्दोलन ने जोर पकड़ा। इस आन्दोलन का भारती के भावुक हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। अपने देश-वासियों पर अँग्रेजी सरकार के दमन और अत्याचार को देखकर उनका रक्त खौल उठा। स्वभाव से वह क्रान्तिकारी थे ही, आन्दोलन की तीव्रता ने उसे और भी उकसा दिया और वह पूरे क्रान्तिकारी बन गये। उन्होंने बड़ी ओजस्वी कविताएँ लिखीं और उन कविताओं-द्वारा उन्होंने अपने देश-वासियों को पराधीनत की बेड़ियाँ तोड़कर स्वतंत्र होने की प्रेरणा दी।

सन् १९०६ ई० में काँग्रेस का अधिवेशन काशी में हुआ। भारती ने इस काँग्रेस अधिवेशन में पूरे उत्साह से भाग लिया। अधिवेशन समाप्त होने पर वह मद्रास लौट गये और वहाँ से गर्म-दल के दैनिक पत्र 'इण्डिया' और साप्ताहिक पत्र 'बाल-भारती' का संपादन करने लगे। इन पत्रों में उनके देश-प्रेम से भरे हुए ओजस्वी लेखों ने जनता में देश को स्वतंत्र करने का अपूर्व उत्साह जाग्रत कर दिया। इन्हीं दिनों गर्म-दल के नेताओं, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, अरविन्द, देशबंधु दास आदि से उनका परिचय हुआ। इन आदर्श देश-भक्तों के संपर्क में आने से उनके कार्यक्रम और विचारों पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों उनका प्रसिद्ध कविता-संग्रह 'स्वदेश-गीत' के नाम से प्रकाशित (१९०७ ई०) हुआ। इस कविता-संग्रह ने भारती को धरती से आकाश की ओर उठा दिया। वह तमिल- भाषा के राष्ट्र-कवि माने जाने लगे।

भारती अपनी धुन के पक्के देश-प्रेमी थे। वह निर्भीक और साहसी थे। सन् १९०८ ई० में जब वंग-भंग-आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा और बड़े-बड़े नेताओं को जेल और कालेपानी की सजाएँ मिलने लगीं तब भारती के लिए भी संकट उत्पन्न हो गया। आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए पत्र को जीवित रखना आवश्यक था। इसलिए वह अपने पत्र 'इंडिया' के साथ पाण्डेचेरी चले गये और वहीं से

उसका प्रकाशन करने लगे। पाण्डेचेरी उन दिनों फ्रांसीसी सरकार के अधिकार में था। वहाँ से 'इण्डिया' निकलने पर सरकार ने भारत में उसका आना रोक दिया। इन्हीं दिनों श्री अरविन्द का वंगाल से पाण्डेचेरी में आगमन (१९१० ई०) हुआ। वी० वी० ए० अय्यर भी इसी समय वहाँ पहुंचे। इन दोनों व्यक्तियों के सामयिक आगमन से भारती को विशेष प्रोत्साहन मिला।

'इंडिया' पर रोक लग जाने से उसका प्रकाशन बन्द हो गया था। अन्य कोई काम था नही। इसलिए भारती के पास पर्याप्त अवकाश था। इस अवकाश का उपयोग उन्होने कविता करने में किया। इस प्रवास काल की उनकी रचनाओं में 'कोयल-पत्तू' और 'पांचाली सप्तम' अधिक प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार पांडेचेरी में अपना समय बिताकर २० नवम्बर, सन् १९१८ ई० को वह भारत लौटे। अँग्रेजी-सरकार ने उन्हें पकड़कर बन्दी बना लिया और उन पर कई अपराध लगाकर मुकदमा चलाया। लेकिन उनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिला। ऐसी दशा में सरकार ने अपना मुकदमा उठा लिया और वह मुक्त हो गये। सन् १९१९ ई० के मार्च मास में वह गाँधीजी से मिले। एक सभा में उनका भाषण भी हुआ जिसे सुनकर गाँधी जी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। दिसम्बर, सन् १९२० ई० में उन्होंने मद्रास जाकर 'स्वदेश-मित्रन' के संपादन का भार ग्रहण किया और अपनी संपादन प्रतिभा से सब को चकित कर दिया। इस समय उनकी प्रसिद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी थी। इसी बीच एक दुर्घटना हो गयी। जुलाई, सन् १९२१ में एक मंदिर के हाथी ने उन्हें अपनी सूँड़ में लपेटकर धरती पर पटक दिया। इससे वह अचेत हो गये। लाख उपचार करने पर भी उनकी दशा बिगड़ती गयी और वह उस चोट से मुक्त न हो सके। ११ सितम्बर, सन् १९२१ ई० को वह इस नश्वर संसार को त्यागकर परलोक-वासी हो गये।

सुब्रह्मण्यम् भारती तमिल-भाषा के युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। वह एक भावुक कवि, प्रौढ़ निबंधकार, कुशल पत्रकार और ओजस्वी वक्ता थे। हिन्दी-जगत् में जैसे 'भारतेन्दु' ने अपने समुज्ज्वल व्यक्तित्व तथा साहित्य-शिल्प-द्वारा नया आलोक-स्तंभ स्थापित किया था, उसी प्रकार 'भारती' ने अपने युग की आवश्यकताओं और उमंगों को अपनी संजीवनी वाणी-द्वारा घर-घर पहुँचाया और पराधीनता के गहरे तिमिर में पड़े जन-साधारण को प्रगति के पथ पर ला खड़ा करने का सफल

संपादक के रूप में कार्य किया। आरंभ में यही उनकी जीविका के साधन थे। लेकिन इनमें उनका मन नहीं लगता था। वह स्वतंत्र होकर देश और साहित्य की सेवा करना चाहते थे।

जहाँ चाह होती है, वहाँ उसकी पूर्ति के लिए राह भी निकल आती है। भारती ने जैसे-तैसे अनिच्छापूर्वक दो-तीन वर्ष तक जीविकोपार्जन किया। इसी बीच उनके सौभाग्य से सन् १९०५ ई० में वंग-भंग-आन्दोलन ने जोर पकड़ा। इस आन्दोलन का भारती के भावुक हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। अपने देश-वासियों पर अँग्रेजी सरकार के दमन और अत्याचार को देखकर उनका रक्त खौल उठा। स्वभाव से वह क्रान्तिकारी थे ही, आन्दोलन की तीव्रता ने उसे और भी उकसा दिया और वह पूरे क्रान्तिकारी बन गये। उन्होंने बड़ी ओजस्वी कविताएँ लिखीं और उन कविताओं-द्वारा उन्होंने अपने देश-वासियों को पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़कर स्वतंत्र होने की प्रेरणा दी।

सन् १९०६ ई० में काँग्रेस का अधिवेशन काशी में हुआ। भारती ने इस काँग्रेस अधिवेशन में पूरे उत्साह से भाग लिया। अधिवेशन समाप्त होने पर वह मद्रास लौट गये और वहाँ से गर्म-दल के दैनिक पत्र 'इण्डिया' और साप्ताहिक पत्र 'बाल-भारती' का संपादन करने लगे। इन पत्रों में उनके देश-प्रेम से भरे हुए ओजस्वी लेखों ने जनता में देश को स्वतंत्र करने का अपूर्व उत्साह जाग्रत कर दिया। इन्हीं दिनों गर्म-दल के नेताओं, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, अरविन्द, देशबंधु दास आदि से उनका परिचय हुआ। इन आदर्श देश-भक्तों के संपर्क में आने से उनके कार्यक्रम और विचारों पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों उनका प्रसिद्ध कविता-संग्रह 'स्वदेश-गीत' के नाम से प्रकाशित (१९०७ ई०) हुआ। इस कविता-संग्रह ने भारती को धरती से आकाश की ओर उठा दिया। वह तमिल- भाषा के राष्ट्र-कवि माने जाने लगे।

भारती अपनी धुन के पक्के देश-प्रेमी थे। वह निर्भीक और साहसी थे। सन् १९०८ ई० में जब वंग-भंग-आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा और बड़े-बड़े नेताओं को जेल और कालेपानी की सजाएँ मिलने लगीं तब भारती के लिए भी संकट उत्पन्न हो गया। आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए पत्र को जीवित रखना आवश्यक था। इसलिए वह अपने पत्र 'इंडिया' के साथ पाण्डेचेरी चले गये और वहीं से

उसका प्रकाशन करने लगे। पाण्डेचेरी उन दिनो फ्रांसीसी सरकार के अधिकार में था। वहाँ से 'इण्डिया' निकलने पर सरकार ने भारत में उसका आना रोक दिया। इन्हीं दिनों श्री अरविन्द का बंगाल से पाण्डेचेरी में आगमन (१९१० ई०) हुआ। वी० वी० ए० अय्यर भी इसी समय वहाँ पहुँचे। इन दोनों व्यक्तियों के सामयिक आगमन से भारती को विशेष प्रोत्साहन मिला।

'इंडिया' पर रोक लग जाने से उसका प्रकाशन बन्द हो गया था। अन्य कोई काम था नहीं। इसलिए भारती के पास पर्याप्त अवकाश था। इस अवकाश का उपयोग उन्होने कविता करने में किया। इस प्रवास काल की उनकी रचनाओं में 'कोयल-पत्तू' और 'पांचाली सप्तम' अधिक प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार पांडेचेरी में अपना समय बिताकर २० नवम्बर, सन् १९१८ ई० को वह भारत लौटे। अँग्रेजी-सरकार ने उन्हें पकड़कर बन्दी बना लिया और उन पर कई अपराध लगाकर मुकदमा चलाया। लेकिन उनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिला। ऐसी दशा में सरकार ने अपना मुकदमा उठा लिया और वह मुक्त हो गये। सन् १९१९ ई० के मार्च मास में वह गाँधीजी से मिले। एक सभा में उनका भाषण भी हुआ जिसे सुनकर गांधी जी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। दिसम्बर, सन् १९२० ई० में उन्होने मद्रास जाकर 'स्वदेश-मित्रन' के संपादन का भार ग्रहण किया और अपनी संपादन प्रतिभा से सब को चकित कर दिया। इस समय उनकी प्रसिद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी थी। इसी बीच एक दुर्घटना हो गयी। जुलाई, सन् १९२१ में एक मंदिर के हाथी ने उन्हें अपनी सूँड़ में लपेटकर धरती पर पटक दिया। इससे वह अचेत हो गये। लाख उपचार करने पर भी उनकी दशा बिगड़ती गयी और वह उस चोट से मुक्त न हो सके। ११ सितम्बर, सन् १९२१ ई० को वह इस नश्वर संसार को त्यागकर परलोक-वासी हो गये।

सुब्रह्मण्यम् भारती तमिल-भाषा के युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। वह एक भावुक कवि, प्रौढ़ निबंधकार, कुशल पत्रकार और ओजस्वी वक्ता थे। हिन्दी-जगत् में जैसे 'भारतेन्दु' ने अपने समुज्ज्वल व्यक्तित्व तथा साहित्य-शिल्प-द्वारा नया आलोक-स्तंभ स्थापित किया था, उसी प्रकार 'भारती' ने अपने युग की आवश्यकताओं और उमंगों को अपनी संजीवनी वाणी-द्वारा घर-घर पहुँचाया और पराधीनता के गहरे तिमिर में पड़े जन-साधारण को प्रगति के पथ पर ला खड़ा करने का सफल

प्रयास किया था। अपनी रचनाओं में उन्होंने जीवन के सभी मार्मिक पक्षों को स्पर्श किया और प्रत्येक पक्ष में एक नयी ज्योति की स्थापना की। वह एक क्रान्ति-दर्शी साहित्यकार थे। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व उन्होने भारत की स्वतंत्रता का सपना देखा था। इसमें शक नहीं कि वह अपने उस सपने को अपने चालीस वर्ष के छोटे-से जीवन में चरितार्थ न कर सके, किन्तु स्वतंत्रता का जो पौधा उन्होंने अपने समय में रोपा था वह आज विशाल वृक्ष के रूप में लहलहा रहा है और उसके फूल-फल से हम सब लाभान्वित हो रहे हैं।

भारती का संपूर्ण काव्य मुख्यत: तीन प्रकार का हैं: (१) राष्ट्रीय गीत, (२) नीति-काव्य और (३) स्तोत्र-गीत। उन्होंने राष्ट्रीय गीत ही अधिक लिखे हैं। इनकी संख्या पाँच सौ से अधिक है। इन्हें हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं: (१) तमिलनाड के गीत जिनमें उन्होंने तमिलनाड का गौरव-गान किया है: (२) स्वतंत्रता के गीत जिनमें उन्होंने स्वतंत्रता का गुण-गान किया है, (३) स्वतंत्रता-आंदोलन-संबंधी गीत जिनकी रचना उन्होंने सामयिक आन्दोलनों से प्रभावित होकर की है और (४) देश-विदेश के नेताओं के जीवन पर आधारित गीत। उनके नीति-काव्य में आचरण-संबंधी उपदेश हैं। इनके अतिरिक्त उनके स्तोत्र-गीत भी हैं जो विभिन्न देवताओं के प्रति देशोद्धार की याचना के लिए गाये गये हैं। भारती स्वयं शक्ति के उपासक थे। इसलिए उनके बहुसंख्यक गीत शक्ति, काली, पराशक्ति, शिव-शक्ति आदि से संबंधित हैं। 'कण्णन्' (कृष्ण) के प्रति भी उनकी विशेष आस्था थी। जैसे तमिल संत-कवि आलवारों ने कृष्ण को नाना रूपों में चित्रित किया है उसी प्रकार भारती ने भी 'कण्णन्' को आराध्य देवता, जन-सेवी, देश-भक्त, स्नेह-सिक्त सखा, सुहृदय सुहृद् आदि रूपों में देखा और उन्हें चित्रित किया है। उनकी आदर्श तथा उदार धर्म-भावना का एक मात्र साक्ष्य यह है कि उन्होंने ईसा मसीह और अल्लाह (ईश्वर) की भी गौरव-गाथा गाकर उनके प्रति अपना समादर प्रकट किया है। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने उनकी कविताओं के संबंध में लिखा है:—

"भारतीजी ने एक सच्चे कवि के कर्त्तव्य का पालन किया है। उन्होंने सौन्दर्य की स्थापना केवल ओजस्वी और प्रेमपूर्ण शब्दों में ही नहीं की है,

बल्कि अपने विचारों-द्वारा उसे ऐसे लाखों-करोड़ों मानव-हृदयों में स्थापित कर स्वातन्त्र्य-प्रेम को जाग्रत कर दिया है जो देश-सेवा में अपना सब-कुछ त्याग सकते हैं।"

देश, समाज तथा संस्कृति के उत्थान के ऐसे स्वप्न-द्रष्टा, सागर-से अगाध और गंभीर, मलयानल-से शान्त-सुखद, अग्नि-से प्रज्ज्वलित और वाणी के वरद-पुत्र महाकवि भारती पर न केवल तमिल-भाषी, अपितु समूचे भारतवासी ममता रखते हैं। भारती ने अखण्ड आर्य-समुदाय की गौरव-गाथा का गायन किया, उसकी अवनति पर उन्होंने आँसू बहाये और उसके उत्थान के लिए उन्होंने अपनी उमंग-भरी वाणी-द्वारा उसका पथ-प्रदर्शन किया। अपने जीवन के आरंभ से अपने जीवन की अंतिम घड़ी तक वह देश-सेवा और साहित्य-सेवा में ही लगे रहे। उन्होंने केवल चालीस वर्ष का जीवन पाया, लेकिन अपने इस छोटे-से जीवन में उन्होंने वह काम किया जिसका मूल्यांकन आगे आनेवाली पीढ़ियाँ करती रहेंगी और उससे प्रोत्साहन प्राप्तकर आगे बढ़ती रहेंगी।

काका कालेलकर

पूना के फर्ग्युसन कालेज के स्नातकों का परीक्षा-फल जिस दिन समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ उस दिन एक उत्तीर्ण स्नातक ने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि जबतक

वह अपने देश को पराधीनता के पाश से मुक्त न कर लेगा तबतक न तो वह सुख की नींद सोयेगा और न अँग्रेजों को ही सुख की नींद सोने देगा। अपनी इस दृढ़ प्रतिज्ञा के अनुसार उसने पूरे ४० वर्ष तक प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया और पाँच बार जेल की यात्रा की। उस उत्तीर्ण स्नातक का नाम था दत्ता-त्रेय बालकृष्ण कालेलकर जिन्हें हम आज केवल काका साहब कालेलकर के नाम से जानते हैं।

काका साहब कालेलकर का जन्म सतारा नगर (महाराष्ट्र) के यादोगोपाल-पेठ में स्थित लक्कड़वाले की कोठी में १ दिसम्ब, सन् १८८५ ई० को प्रातः काल १० बजे हुआ था। वह अपने माता-पिता की सातवीं संतान हैं। अपने नामकरण की एक रोचक घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी 'स्मरण-यात्रा' में लिखा है—'मेरे जन्म से कुछ दिन पहले एक साधु हमारे यहाँ आया था। उसने मेरे पिताजी से कहा—"इस बार भी आप के यहाँ लड़का ही उत्पन्न होगा। उसका नाम आप दत्तात्रेय रखिए, क्योंकि वह गुरु दत्तात्रेय का प्रसाद है।" मेरे पिताजी ने उस साधु से कुछ दान ग्रहरण करने के लिए कहा, पर उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया। वह बोला—"आप के यहाँ लड़का पैदा होने पर हर गुरु द्वादशी के दिन आप बारह ब्राह्मणों को अवश्य भोजन करवाइए।" जबतक मेरे पिताजी जीवित रहे, हमारे यहाँ प्रति वर्ष कार्तिकी कृष्ण द्वादशी (गुरु द्वादशी) के दिन बारह ब्राह्मणों की यह 'समाराधना' होती रही।'

काका साहब का शैशव बीता। जब वह पाँच वर्ष के हुए तब वह पाठशाला जाने के लिए हठ करने लगे। ऐसी स्थिति में दशहरे के दिन उनका विद्यारम्भ-संस्कार संपन्न हुआ। उस समय उनके भाई पूना में पढ़ते थे। इसलिए उन्होंने भी वहीं जाकर एक मराठी-पाठशाला में मराठी पढ़ना आरम्भ किया। इसके एक वर्ष बाद ही सन् १८९२ ई० में उनके पिता का सतारा से कारवार तबादला हो गया। इसलिए वह भी पूना से कारवार चले गये। कारवार में उनके पिता पाँच-छः वर्ष (१८९२-९८ ई०) तक रहे। यहाँ से उनका तबादला धारवाड़ हो गया और फिर धारवाड़ से उनका तबादला बेलगाँव हुआ। यहीं से उन्होंने पेंशन ली। इसके बाद वह सांगली-राज्य में ट्रेजरी आफिसर हुए। इस दौरान में काका साहब की पढ़ाई तो अधिक नहीं हो सकी, पर अपने माता-पिता के साथ घूमकर उन्होंने अनेक नये अनुभव प्राप्त किये। अपने इन दिनों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—"अपने बचपन में आदमी ने चाहे जितनी यात्राएँ की हों, तो भी संस्कारों को ग्रहण करने की उसकी शक्ति सीमित होने से ऐसी यात्राओं से मिलने वाले लाभ भी सीमित होते हैं। फिर भी उनसे जो ताजगी आती है वह उस अवस्था के लिए बहुत पुष्टिकर होती है। खास पढ़ाई के लिए पूना का निवास; पिताजी के साथ सतारा, शहपुर, कारवार, धारवाड़, बेलगाँव और साँगली का परिचय; देशी राज्यों की राजधानियों का दर्शन—इतना अनुभव सोलह वर्ष की अवस्था के लिए कम नहीं कहा जा सकता।"

काका साहब आरम्भ से ही प्रतिभा-संपन्न बालक थे। अपने जीवन के प्रारंभिक सोलह-सत्तरह वर्षों (१८८६-१९०२ ई०) में उन्होंने व्यक्तिगत रूप से अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। गाँवों, नगरों और राजाधनियों में घूमने के अतिरिक्त उन्होंने अपने माता-पिता के साथ तीर्थ-यात्राएँ भी कीं। कारवार से दक्षिण में गोकर्ण-महाबलेश्वर, सांगली-मिरज के पास नरसोबा की बाड़ी और कुरुन्दवाड़, जत से आगे पंढरपुर, सतारा के पास जरंडा और परली, गोवा में मंगेशी, शान्ता दुर्गा, कैथालिक ईसाइयों के शानदार गिरजाघर आदि उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्ति से देखे थे। इन्हीं दिनों प्रकृति-सौंदर्य की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। कारवार जाने से सह्याद्रि की नैसर्गिक शोभा ने उन्हें बहुत प्रभावित किया और वहीं उन्हें समुद्र और समुद्र-यात्रा का अनुभव हुआ। प्रकृति के प्रति अनुराग

होने से अजायबघर देखने की भूख भी उनमें उत्पन्न हुई और उन्होंने कई अजायबघर देखे। संगीत के प्रति भी उनमें रुचि उत्पन्न हुई। संस्कृत और मराठी के साथ कन्नड़, कोंकण, गुजराती आदि भाषाएँ भी उन्होंने सीखीं और 'पाण्डव-प्रताप,' 'राम-विजय', 'हरि-विजय,' 'भक्ति-विजय',-'गुरु-चरित्र', 'संत-लीलामृत,' गजेन्द्र-मोक्ष' आदि धार्मिक ग्रंथों का भी उन्होंने अध्ययन किया। कुछ बड़े होने पर स्वामी विवेकानन्द के ग्रंथों का मराठी में अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने गीता का अध्ययन आरंभ किया। अपने सबसे बड़े भाई की सहायता से उन्होंने तुकाराम, ज्ञानेश्वर आदि संतों का परिचय प्राप्त किया। साहित्य-निर्माण की प्रेरणा उन्हें अपने सबसे बड़े भाई से ही मिली।

काका साहब अपने बचपन में काफी शरारती थे, लेकिन फिर भी सबसे छोटे होनेके कारण उनका दुलार होता था। कुछ बड़े होने पर उनकी शरारतें छूट गयीं और लोगों से मिलने-जुलने में भी उन्हें शर्म आने लगी। इसके अतिरिक्त माता-पिता तथा बड़े भाइयों का उनपर दबाव भी था। ऐसी स्थिति में उनका स्वाभाविक विकास न हो न सका। लेकिन एक ओर से रुँधी हुई शक्ति दूसरी ओर प्रकट हुई। वह कल्पनाशील हो गये और शेखचिल्लियों की भाँति अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाने लगे। आगे चलकर उनकी इस कल्पना-शक्ति ने उनकी रचनात्मक बुद्धि के विकास में विशेष सहयोग दिया। उनका परिवार एक शिक्षित परिवार था। इसलिए उनकी जाति-बिरादरी में उनके परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनके परिवार के लोग कट्टर सनातनी थे। इसलिए आरंभ में वह भी कट्टर सनाती बने, लेकिन जब तार्किकता ने उनके विश्वासों को झकझोरना आरंभ किया तब उन्हें धर्म के शुद्ध रूप का साक्षत्कार होने लगा। आरंभ में उनके परिवार में जो कट्टरता थी वह धीरे-धीरे मिटने लगी। एक बार हाई स्कूल के स्नेह-सम्मेलन में भोजन के समय जब उन्होंने ब्रह्मण-अब्रह्मण और ऊँच-नीच का भेद-भाव देखा तब एक अध्यापक से उनकी बहस छिड़ गयी। उस स्नेह-सम्मेलन के वह सेक्रेटरी थे। उन्होंने हठपूर्वक विरोध किया और सब को एक साथ भोजन करने दिया। अपनी इस प्रारम्भिक सफलता से उनका उत्साह बढ़ा और फिर उन्हे किसी के साथ खाने-पीने में परहेज नहीं हुआ।

इस तरह आरम्भ के सत्तरह-अठारह वर्षों में विविध प्राकर के अनुभवों से

संपन्न होकर उन्होंने पूना के फर्ग्युसन कालेज में प्रवेश किया और वहाँ से १६०७ ई० में उन्होंने बी० ए० पास किया। इसी वर्ष वह एक ऐसी गुप्त राजनीतिक संस्था के निकट संपर्क में आये जिसका उद्देश्य-हिंसात्मक उपयों-द्वारा अँग्रेजी सरकार का अन्त करना था। जीवतराम भगवानदास किरपलानी उस समय उनके सहपाठी और मित्र थे। उनके साथ वह स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक के लेखों को बड़े ध्यान से पढ़ा करते थे। उन लेखों के प्रभाव से उनमें राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय भाग लेने का तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। राजनीतिक क्षेत्र में वकीलों का बोलवाला था। इसलिए नवयुवक काका साहब ने ला-कालेज में अपना नाम लिखाया और १६०८ ई० में ला की प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की, लेकिन फिर उन्होंने अपना विचार बदल दिया और वह १६०६ ई० में बेलगाँव के गणेश-विद्यालय में अध्यापक हो गये। उस समय बेलगाँव का यह विद्यालय अपनी क्रान्तिकारी और विद्रोहात्मक योजनाओं के कारण सरकार की निगाह में खटक रहा था और इसके प्रबंधक इसे बंद करने के लिए विवश हो गये थे। ऐसी स्थिति में काका साहब अधिक दिनों तक इस विद्यालय में न रह सके। उन दिनों 'चिकित्सक' (आलोचक) नाम की एक मराठी-पत्रिका निकलती थी। इस पत्रिका में उनके लेख प्रकाशित होते थे। उनके इन लेखों से प्रभावित होकर 'राष्ट्र-मत' नामक दैनिक मराठी-पत्र के संपादकीय विभाग में कार्य करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया। इस पत्र के संस्थापक लोकमान्य तिलक थे और यह बम्बई से प्रकाशित होता था। लेकिन कुछ दिनों बाद ही नासिक के अँग्रेज कलेक्टर की राजनीतिक हत्या के फलस्वरूप जो दमन-चक्र आरंभ हुआ उसके कारण यह पत्र भी बन्द कर दिया गया।

पत्र बन्द होजाने से काका साहब बड़ौदा चले गये और वहाँ के गंगानाथ भारतीय सर्वविद्यालय के प्रिंसिपल हो गये। इस विद्यालय के संस्थापक स्वर्गीय बैरिस्टर श्री केशवराव देशपांडे थे। श्री केशवराव देशपांडे एक उत्साही राष्ट्र-प्रेमी और श्री अरविन्द के परम मित्र थे। उनके इस विद्यालय का उद्देश्य ऐसे त्यागी और निस्स्वार्थ समाज-सेवियों और राजनीतिक कार्य-कर्ताओं को तैयार करना था जिनके व्यक्तित्व में प्राचीन और नवीन शिक्षा-पद्धतियों का समन्वय हो और जो उनका उपयोग अपने सेवा-क्षेत्रों में करने की सामर्थ्य रखते हों। विद्यालय

में इस प्रकार का घरेलू वातावरण उत्पन्न करने के लिए विद्यार्थी अपने अध्यापकों को 'नाना', 'मामा', 'अप्पा', 'काका' आदि कहकर संबोधित किया करते थे। कालेलकर को इसी विद्यालय में 'काका' की उपाधि मिली और फिर वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। विद्यालय के प्रबंधकों को यह आशा थी कि एक देशी राज्य में उनके राष्ट्रीय विद्यालय को भलीभाँति पनपने और उन्नति करने का अवसर मिलेगा, किन्तु शीघ्र ही उनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। बड़ौदा के तत्कालीन महाराज सयाजीराव बड़े स्वाभिमानी थे। सन् १९११ ई० के दिल्ली-दरबार के अवसर पर उन्होंने तत्कालीन भारत-सम्राट जार्ज पंचम के पीछे-पीछे चलने से इन्कार कर दिया था। इससे अँग्रेजी सरकार को उनकी राज-भक्ति पर संदेह होने लगा था। ऐसी स्थिति में बड़ौदा-सरकार ने गंगानाथ-विद्यालय को हमेशा के लिए बन्द कर दिया।

अबतक अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के कारण काका साहब अँग्रेजी सरकार की आखों पर चढ़ चुके थे। सरकार के गुप्तचर दिन रात उनके पीछे पड़े रहते थे। इससे उनका बाहर निकलना कठिन हो गया था। अपनी इस स्थिति से वह ऊब गये थे। इसके अतिरिक्त उनके हृदय में आध्यात्मिक भावना भी जोर पकड़ती जा रही थी। सरकारी अंकुश एवं प्रतिबन्धों के कारण उनकी वाह्य प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी थीं। इस प्रकार उनके हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ और सरकारी दमन-चक्र यदि एक ओर उन्हें किसी भी उपाय से देश को पराधीनता से मुक्त करने की प्रेरणा देते थे तो दूसरी ओर जीवन का कटु संघर्ष उनकी वैराग्य-भावना को उभार देता था। १७ वर्ष की अवस्था में लक्ष्मीबाई शिरोदकर से उनका विवाह हो चुका था और इस विवाह से एक पुत्र भी उत्पन्न हो चुका था। ऐसी स्थिति में घर से विरक्त होकर साधु-संन्यासी का जीवन व्यतीत करना साधारण बात नहीं थी। काम-काज कहीं मिल नहीं रहा था। इससे जीवन की झंझटें बढ़ती ही जा रही थीं। इसी बीच दूसरे पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। वह एक महीने का भी नहीं हो पाया था कि काका साहब एक दिन मुँह-अंधेरे घर से निकल पड़े और दाढ़ी बढ़ाकर पैदल ही हिमालय की ओर चले गये।

काका साहब ने हिमालय की ढाई हजार मील की पद-यात्रा की। उनकी इस

संपन्न होकर उन्होंने पूना के फर्ग्युसन कालेज में प्रवेश किया और वहाँ से १९०७ ई० में उन्होंने बी० ए० पास किया। इसी वर्ष वह एक ऐसी गुप्त राजनीतिक संस्था के निकट संपर्क में आये जिसका उद्देश्य-हिंसात्मक उपयों-द्वारा अंग्रेजी सरकार का अन्त करना था। जीवतराम भगवानदास किरपलानी उस समय उनके सहपाठी और मित्र थे। उनके साथ वह स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक के लेखों को वड़े ध्यान से पढ़ा करते थे। उन लेखों के प्रभाव से उनमें राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय भाग लेने का तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। राजनीतिक क्षेत्र में वकीलों का बोलवाला था। इसलिए नवयुवक काका साहब ने ला-कालेज में अपना नाम लिखाया और १९०८ ई० में ला की प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की, लेकिन फिर उन्होंने अपना विचार बदल दिया और वह १९०९ ई० में बेलगाँव के गणेश-विद्यालय में अध्यापक हो गये। उस समय बेलगाँव का यह विद्यालय अपनी क्रान्तिकारी और विद्रोहात्मक योजनाओं के कारण सरकार की निगाह में खटक रहा था और इसके प्रबंधक इसे बंद करने के लिए विवश हो गये थे। ऐसी स्थिति में काका साहब अधिक दिनों तक इस विद्यालय में न रह सके। उन दिनों 'चिकित्सक' (आलोचक) नाम की एक मराठी-पत्रिका निकलती थी। इस पत्रिका में उनके लेख प्रकाशित होते थे। उनके इन लेखों से प्रभावित होकर 'राष्ट्र-मत' नामक दैनिक मराठी-पत्र के संपादकीय विभाग में कार्य करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया। इस पत्र के संस्थापक लोकमान्य तिलक थे और यह बम्बई से प्रकाशित होता था। लेकिन कुछ दिनों बाद ही नासिक के अँग्रेज कलेक्टर की राजनीतिक हत्या के फलस्वरूप जो दमन-चक्र आरंभ हुआ उसके कारण यह पत्र भी बन्द कर दिया गया।

पत्र बन्द होजाने से काका साहब बड़ौदा चले गये और वहाँ के गंगानाथ भारतीय सर्वविद्यालय के प्रिंसिपल हो गये। इस विद्यालय के संस्थापक स्वर्गीय बैरिस्टर श्री केशवराव देशपांडे थे। श्री केशवराव देशपांडे एक उत्साही राष्ट्र-प्रेमी और श्री अरविन्द के परम मित्र थे। उनके इस विद्यालय का उद्देश्य ऐसे त्यागी और निस्स्वार्थ समाज-सेवियों और राजनीतिक कार्य-कर्ताओं को तैयार करना था जिनके व्यक्तित्व में प्राचीन और नवीन शिक्षा-पद्धतियों का समन्वय हो और जो उनका उपयोग अपने सेवा-क्षेत्रों में करने की सामर्थ्य रखते हों। विद्यालय

में इस प्रकार का घरेलू वातावरण उत्पन्न करने के लिए विद्यार्थी अपने अध्यापकों को 'नाना', 'मामा', 'अप्पा', 'काका' आदि कहकर संबोधित किया करते थे। कालेलकर को इसी विद्यालय में 'काका' की उपाधि मिली और फिर वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। विद्यालय के प्रबंधकों को यह आशा थी कि एक देशी राज्य में उनके राष्ट्रीय विद्यालय को भलीभाँति पनपने और उन्नति करने का अवसर मिलेगा, किन्तु शीघ्र ही उनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। बड़ौदा के तत्कालीन महाराज सयाजीराव बड़े स्वाभिमानी थे। सन् १९११ ई० के दिल्ली-दरबार के अवसर पर उन्होंने तत्कालीन भारत-सम्राट जार्ज पंचम के पीछे-पीछे चलने से इन्कार कर दिया था। इससे अँग्रेजी सरकार को उनकी राज-भक्ति पर संदेह होने लगा था। ऐसी स्थिति में बड़ौदा-सरकार ने गंगानाथ-विद्यालय को हमेशा के लिए बन्द कर दिया।

अबतक अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के कारण काका साहब अँग्रेजी सरकार की आखों पर चढ़ चुके थे। सरकार के गुप्तचर दिन रात उनके पीछे पड़े रहते थे। इससे उनका बाहर निकलना कठिन हो गया था। अपनी इस स्थिति से वह ऊब गये थे। इसके अतिरिक्त उनके हृदय में आध्यात्मिक भावना भी जोर पकड़ती जा रही थी। सरकारी अंकुश एवं प्रतिबन्धों के कारण उनकी बाह्य प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी थीं। इस प्रकार उनके हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ और सरकारी दमन-चक्र यदि एक ओर उन्हें किसी भी उपाय से देश को पराधीनता से मुक्त करने की प्रेरणा देते थे तो दूसरी ओर जीवन का कटु संघर्ष उनकी वैराग्य-भावना को उभार देता था। १७ वर्ष की अवस्था में लक्ष्मीबाई शिरोदकर से उनका विवाह हो चुका था और इस विवाह से एक पुत्र भी उत्पन्न हो चुका था। ऐसी स्थिति में घर से विरक्त होकर साधु-संन्यासी का जीवन व्यतीत करना साधारण बात नहीं थी। काम-काज कहीं मिल नहीं रहा था। इससे जीवन की झंझटें बढ़ती ही जा रही थीं। इसी बीच दूसरे पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। वह एक महीने का भी नही हो पाया था कि काका साहब एक दिन मुँह-अंधेरे घर से निकल पड़े और दाढ़ी बढ़ाकर पैदल ही हिमालय की ओर चले गये।

काका साहब ने हिमालय की ढाई हजार मील की पद-यात्रा की। उनकी इस

लम्बी पद-यात्रा ने उन्हें कर्मयोगी बना दिया और वह साधु दात्तत्रेय के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने गंगोतरी, यमुनोत्तरी, केदारनाथ, बदरीनाथ, अमरनाथ आदि हिमालय पर स्थिति सभी पवित्र तीर्थों की यात्रा की। इसके बाद वह नैपाल भी गये जहाँ उस समय भारतीय क्रान्तिकारियों का अड्डा था। अपनी इस रोमांचकारी पद-यात्रा को वह आज भी नहीं भूल सके हैं। उन्हे जब-कभी हरद्वार जाने का अवसर मिलता है तब वह ऋषिकेश अवश्य जाते हैं और गंगा को पार कर स्वर्गाश्रम की उस कुटी का दर्शन करते हैं जिसमें बैठकर उन्होंने अपनी उठती जवानी के दिनों में तपस्या की थी। वह शिक्षा के इतने प्रेमी थे कि उन्होंने नाभि तक लहराती हुई लम्बी दाढ़ी और गेरुए वस्त्रों की परवाह न कर अध्यापन-कार्य की खोज की। हरद्वार में एक ऋषिकुल विद्यालय था। उसके वह प्रधाना चार्य हो गये। लेकिन इस विद्यालय के अधिकारियों से उनकी पटरी नहीं बैठी। अधिकारी-वर्ग अछूतों को वेद आदि पढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। उनकी यह संकुचित नीति काका साहब को पसंद नही आयी। वह अंधविश्वासी नहीं थे। उन्होंने लिखा है "पुराने जमाने की संस्कार-समृद्धि, कला-रसिकता और सार्वत्रिक संतोष, इन तीनों बातों का मैंने अनुभव किया है। अतः पुराने जीवन के प्रति मेरे मन में अनादर नही, बल्कि कृतज्ञता एवं भक्ति ही है। फिर भी मुझे लगता है कि जैसे आग पर से राख हटाने की आवश्यकता होती है या घर का निकम्मा कबाड़ निकाल देना होता है, वैसे ही धर्म-वृक्ष को भी समय समय पर झकझोर कर उसके सूखे या सड़े-गले पत्तों को गिराने की आवश्यकता होती है।" अपनी इस धारणा के अनुसार वह अछूतों को विद्याध्ययन के लिए कुपात्र नहीं समझते थे। इसी बात पर विद्यालय के अधिकारियोंसेउनका मत-भेद हो गया और उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। ऐसी स्थिति में हरद्वार से उनका जी उचट गया और वह घूमते-घामते हैदराबाद (सिंध) पहुँचे और वहाँ के सिंधु-ब्रह्मचर्याश्रम के प्रधानाचार्य हो गये। परन्तु वहाँ भी वह अधिक दिनों तक न टिक सके। सन् १९१४ ई० के मध्य में वह शान्ति-निकेतन (बंगाल) में अध्यापन-कार्य करने लगे। शान्तिनिकेतन में वह इतने लोकप्रिय हुए कि अध्यापक उन्हें बड़े प्रेम से 'दत्तू बाबू' के नाम से संबोधित करते थे।

जिन दिनों काका साहब शान्ति-निकेतन में अध्यापन-कार्य कर रहे थे उन्हीं

लम्बी पद-यात्रा ने उन्हें कर्मयोगी बना दिया और वह साधु दात्तत्रेय के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने गंगोतरी, यमुनोत्तरी, केदारनाथ, बदरीनाथ, अमरनाथ आदि हिमालय पर स्थिति सभी पवित्र तीर्थों की यात्रा की। इसके बाद वह नैपाल भी गये जहाँ उस समय भारतीय क्रान्तिकारियों का अड्डा था। अपनी इस रोमांचकारी पद-यात्रा को वह आज भी नहीं भूल सके हैं। उन्हे जब-कभी हरद्वार जाने का अवसर मिलता है तब वह ऋषिकेश अवश्य जाते हैं और गंगा को पार कर स्वर्गाश्रम की उस कुटी का दर्शन करते हैं जिसमें बैठकर उन्होंने अपनी उठती जवानी के दिनों में तपस्या की थी। वह शिक्षा के इतने प्रेमी थे कि उन्होंने नाभि तक लहराती हुई लम्बी दाढ़ी और गेरुए वस्त्रों की परवाह न कर अध्यापन-कार्य की खोज की। हरद्वार में एक ऋषिकुल विद्यालय था। उसके वह प्रधानाचार्य हो गये। लेकिन इस विद्यालय के अधिकारियों से उनकी पटरी नही बैठी। अधिकारी-वर्ग अछूतों को वेद आदि पढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। उनकी यह संकुचित नीति काका साहब को पसंद नहीं आयी। वह अंधविश्वासी नहीं थे। उन्होंने लिखा है "पुराने जमाने की संस्कार-समृद्धि, कला-रसिकता और सार्वत्रिक संतोष, इन तीनों बातों का मैंने अनुभव किया है। अतः पुराने जीवन के प्रति मेरे मन में अनादर नही, बल्कि कृतज्ञता एवं भक्ति ही है। फिर भी मुझे लगता है कि जैसे आग पर से राख हटाने की आवश्यकता होती है या घर का निकम्मा कवाड़ निकाल देना होता है, वैसे ही धर्म-वृक्ष को भी समय समय पर झकझोर कर उसके सूखे या सड़े-गले पत्तों को गिराने की आवश्यकता होती है।" अपनी इस धारणा के अनुसार वह अछूतों को विद्याध्ययन के लिए कुपात्र नही समझते थे। इसी बात पर विद्यालय के अधिकारियोंसे उनका मत-भेद हो गया और उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। ऐसी स्थिति में हरद्वार से उनका जी उचट गया और वह घूमते-घामते हैदराबाद (सिंध) पहुँचे और वहाँ के सिंधु-ब्रह्मचर्याश्रम के प्रधानाचार्य हो गये। परन्तु वहाँ भी वह अधिक दिनों तक न टिक सके। सन् १९१४ ई० के मध्य में वह शान्ति-निकेतन (बंगाल) में अध्यापन-कार्य करने लगे। शान्तिनिकेतन में वह इतने लोकप्रिय हुए कि अध्यापक उन्हें बड़े प्रेम से 'दत्तू बाबू' के नाम से संबोधित करते थे।

जिन दिनों काका साहब शान्ति-निकेतन में अध्यापन-कार्य कर रहे थे उन्हीं

दिनों महात्मा गांधी अफ्रीका से स्वदेश लौटे और अपने सहयोगियों के साथ शान्ति-निकेतन में ठहरे। इसी अवसर पर पहली बार १७ फरवरी, सन् १९१५ ई० को काका साहब ने गांधीजी से भेंट की। इस पहली भेंट में ही गांधीजी के सरल और मोहक व्यक्तित्व का काका साहब पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। लेकिन काका साहब उनका अहिंसावादी दर्शन मानने के लिए तैयार नहीं हुए। स्वभावतः काका साहब क्रान्तिकारी थे। उनका विश्वास था कि अंग्रेजी राज्य का अन्त हिंसात्मक उपायों-द्वारा ही हो सकता है। अहिंसात्मक उपायों को अमल में लाने के वह विरोधी नहीं थे, पर अहिंसा को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं थे। इसी विषय पर कई दिनों तक गांधीजी से उनका वाद-विवाद हुआ। इस वाद-विवाद के फलस्वरूप वह गांधीजी को अपना गुरु मानने लगे, लेकिन फिर भी वह उनके अनुयायी नहीं बने। गांधीजी शान्ति-निकेतन से चले गये। काका साहब के हृदय और मस्तिष्क में हिंसा और अहिंसा का द्वन्द चलता रहा। अन्ततः अहिंसा की हिंसा पर विजय हुई और जब एक महीने बाद गांधीजी पुनः शान्ति-निकेतन आये तब काका साहब उनके अनुयायी हो गये। गांधीजी उनकी प्रतिभा, उनकी बौद्धिक क्षमता, उनकी सचाई और उनकी लगन से बहुत प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से कहकर काका साहब को अपने साथ ले लिया। इसके बाद जब गुरुदेव गांधीजी से मिलते थे तब वह हँसते हुए गांधीजी को यह उलाहना दिया करते थे कि दत्तू बाबू के रूप में आपने शान्ति-निकेतन से जो ऋण लिया उसे आप चुकाना भूल गये। गुरुदेव के इस तकाजे का उत्तर गांधीजी अपनी गंभीर मुस्कान से दे दिया करते थे।

अफ्रीका में सत्याग्रह-आन्दोलन-द्वारा महात्मा गांधी को जो सफलता मिली थी उसका प्रयोग वह अपने देश में भी करना चाहते थे। उनकी दृष्टि से कुछ छिपा नहीं था। अंग्रेजी सरकार के अत्याचार बढ़ते जा रहे थे और वह उसकी इस नीति से अत्यन्त क्षुब्ध थे। लेकिन वह अकेले कुछ कर नहीं सकते थे। संपूर्ण देश को उन्हें अपने सत्याग्रह-आन्दोलन का मर्म समझाने की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने अहमदाबाद के निकट कोचरब नामक स्थान पर एक सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना की। यह देश में स्वतंत्रता देवी की आराधना का पहला मंदिर था। इस आश्रम में काका साहब ने अपने ज्येष्ठ पुत्र के साथ प्रवेश किया। कुछ दिनों बाद

जब आश्रम साबरमती में स्थानान्तरित कर दिया गया तब काका साहब की पत्नी भी अपने छोटे पुत्र के साथ आकर आश्रम में रहने लगीं। इसके बाद ही आचार्य विनोबा भावे, किशोरलाल मशरूवाला तथा महादेव देसाई अपनी-अपनी पत्नी के साथ आश्रम के निवासी हो गये। इस प्रकार यह आश्रम धीरे-धीरे देश का हृदय और मस्तिष्क बन गया और यहीं से संपूर्ण देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलनों का श्रीगणेश हुआ।

गांधीजी ने साबरमती में आश्रम-निवासियों के बालकों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला स्थापित की थी। उन्होंने काका साहब को इस पाठशाला का प्रधानाचार्य नियुक्त किया। पन्द्रह वर्ष पश्चात् इसी पाठशाला की शिक्षा-प्रणाली के आधार पर बुनियादी शिक्षा की गाँधी-योजना प्रसारित की गयी। सन् १९२० ई० के असहयोग-आन्दोलन के दिनों में जब गांधीजी ने गुजरात-विद्यापीठ की स्थापना की तब काका साहब का इस संस्था के साथ भी संबंध स्थापित हुआ। पहले इस संस्था में प्रोफेसर के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। इसके बाद वह इस संस्था के प्रधानाचार्य और फिर उप-कुलपति बनाये गये। सन् १९२२-२४ ई० में, जब गांधीजी जेल में थे, काका साहब ने 'यंग इण्डिया' (अँग्रेजी) और 'नव-जीवन' (गुजराती) नामक दो साप्ताहिक पत्रों का संपादन किया। इनमें उनके जो लेख प्रकाशित होते थे वे उग्र राष्ट्रीय भावनाओं से भरे रहते थे। इन लेखों में से एक लेख के आधार पर उन्हें कारावास की पुण्य-यात्रा करनी पड़ी। इसी समय वह एक प्रौढ़ गुजराती-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन्होंने गुजराती में ऐसी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं जो गुजरात में काफी लोक-प्रिय हुईं। आज भी गुजरात के प्रत्येक शिक्षित परिवार में उनकी रचनाएँ आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उनके दर्शन-संबंधी ग्रन्थों में 'गीता' पर उनका भाष्य बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने संस्मरण भी लिखे हैं जो 'स्मरण-यात्रा' में संगृहीत हैं। 'उत्तराती दीवालें' (उत्तर की दीवारें) उनकी प्रथम जेल-यात्रा संबंधी रचना है। इसमें उन्होंने अपने जेल-जीवन के साथियों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, पेड़-पौधों आदि का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। 'हिमालय की यात्रा', 'जीवन का काव्य', 'बापू की झाँकियाँ', 'उस पार के पड़ोसी' आदि उनकी अन्य रचनाएँ हैं। मराठी, गुजराती, संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी आदि भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार है

और उन्होंने लगभग चालीस पुस्तकों की रचना की है। बंगला में उन्होंने कोई मौलिक रचना नहीं की। फिर भी इस भाषा के भी वह धनी हैं और उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं का अनुवाद 'रवीन्द्र-प्रतिभा' के नाम से किया है।

काका साहब राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रेमी हैं और उसकी उन्नति में उन्होंने अपना सामयिक सहयोग दिया है। गांधीजी जब साबरमती से हटकर वर्धा में रहने लगे थे तब काका साहब भी उनके साथ वर्धा चले गये थे। वहाँ गांधीजी ने काका साहब को नागरी-लिपि में सुधार करने तथा उसका प्रचार करने का काम सौंपा था। तब से काका साहब बराबर हिन्दी में ही लिखते और बोलते रहे। उन्होंने 'हिन्दी-मंगल प्रभात' नामक साप्ताहिक पत्र का संपादन किया और गांधीजी की विचार-धारा के अनुसार हिन्दी और उर्दू के मिश्रण 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया। इससे शुद्ध हिन्दी के पक्षपातियों ने उनका बड़ा विरोध किया। परन्तु काका साहब स्वयं वैसी भाषा नहीं लिखते थे। इसलिए उनके प्रति हिन्दीवालों का विरोध शान्त तो हो गया, किन्तु हिन्दी के प्रति उनकी नीति बराबर ढुलमुल बनी रही। १९५९ ई० में वर्धा-हिन्दी-प्रचार-समिति ने उन्हें 'महात्मा गांधी-पुरस्कार' देकर उनका सम्मान किया।

काका साहब आरंभ से ही यात्रा-प्रेमी रहे हैं। उन्होंने भारत का कोना-कोना ही नहीं छाना है, जापान और पूर्व अफ्रीका की भी यात्रा की है और अपने अनुभव लिखे है। इस प्रसंग में उनकी रचना 'उस पार के पड़ोसी' (आवर नेक्स्ट डोर नेबर) अत्यन्त रोचक है। इसमें उन्होंने पूर्व-अफ्रीका की प्रकृति और वहाँ के मानव-समाज का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है। यात्रा-विवरण लिखने की उनकी शैली अत्यन्त रोचक और प्रभावशाली है। इस समय तक वह अपने जीवन के ७८ वर्ष पार कर चुके हैं। फिर भी उनमें उत्साह की कमी नही है। राज्य-सभा के मनोनीत सदस्य के रूप में उन्होंने बड़ा काम किया है। सार्वजनिक जीवन से विश्राम लेने पर भी उनके दस-बारह घंटे अध्ययन, चिन्तन और मनन में बीतते हैं।

श्रीनिवास रामनुजम्

गणित के एक प्रसिद्ध विदेशी विद्वान ने श्रीनिवास रामानुजम् की प्रतिभा का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि श्रीनिवास रामानुजम् अत्यन्त अल्प अवस्था में ही गणित के उन कठिन प्रश्नों को हल कर सकते थे जिन्हें हल करने में पश्चिम के बड़े-से-बड़े विद्वानों को सौ वर्ष से अधिक समय लग गया था और जिनमें से कुछ को वे आज तक हल नहीं कर पा सके हैं।" इसमें शक नहीं कि श्रीनिवास रामानुजम् आधुनिक युग के एक महान गणितज्ञ और दूसरे भास्कराचार्य थे। उनका जन्म मद्रास प्रदेश के इरौद नामक एक छोटे-से गाँव में २२ दिसम्बर, सन् १८८७ ई० को हुआ था।

उनका परिवार अत्यन्त साधारण परिवार था। उनके माता-पिता अधिक शिक्षित नहीं थे। ऐसे परिवार में जन्म लेकर श्रीनिवास रामानुजम् ने गणित में वह योग्यता दिखायी कि संसार के वैज्ञानिक चकित रह गये।

श्रीनिवास रामानुजम् आरंभ से ही शान्त और चिंतनशील थे। अन्य बालकों की भाँति खेल-कूद के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। वह अपना अधिक-से-अधिक समय अध्ययन और चिन्तन में ही लगाते थे। 'इससे वह अपनी कक्षा में सब से आगे रहते थे और परीक्षा में सर्वप्रथम आते थे। उनके इस गुण से उनके माता-पिता तो हर्षित-पुलकित होते ही थे, उनके अध्यापक भी अपने साधारण विद्यालय में एक प्रतिभा-संपन्न बालक को पाकर गौरव का अनुभव करते थे और रामानुजम् की आधी फीस माफ कर देते थे।

श्रीनिवास रामानुजम् को विद्यालय के सभी विषयों से दिलस्चपी थी, पर

उन सब में से गणित के प्रति उनकी विशेष रुचि थी। इसलिए वह बिना अध्यापक की सहायता के घंटों गणित का अभ्यास करते रहते थे। बीजगणित के जो प्रश्न इंटर के विद्यार्थी हल करते थे वह उन्हें तीसरी कक्षा में ही हल करने लग गये थे। अपनी अद्भुत प्रतिभा के कारण उन्होंने चौथी कक्षा में ही बिना किसी की सहायता के त्रिकोणमिति (ट्रिगनामेट्री) का अभ्यास आरंभ कर दिया था। इतना ही नहीं, पाँचवीं कक्षा में उन्होंने गणित के एक प्रसिद्ध विस्तार—'ज्या और कोज्या के विस्तार' के विषय में, बिना उसके मूल सिद्धान्त को जाने ही, जानकारी प्राप्त कर ली थी। ऐसी थी उनकी प्रतिभा और ऐसी थी उनकी लगन! उनकी प्रतिभा पर उनके अध्यापक दाँतों तले अँगुली दबाते थे।

श्रीनिवास रामानुजम् ने १७ वर्ष की अवस्था में मद्रास-विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास किया। अच्छे नम्बरों से पास होने के कारण उन्हें छात्रवृत्ति मिली। पर वह अधिक दिनों तक छात्रवृत्ति न प्राप्त कर सके। कालेज में उनका अधिकांश समय गणित के अध्ययन में ही बीत जाता था। फलस्वरूप पहली परीक्षा में ही अन्य विषयों में अनुत्तीर्ण हो जाने के कारण उनकी छात्रवृत्ति बन्द हो गयी। इससे उनकी पढ़ाई समाप्त हो गयी। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इसलिए वह कालेज छोड़कर अपने गाँव चले गये।

अपने घर पर रहकर ही श्रीनिवास रामानुजम् ने गणित का अभ्यास किया। उनका सारा समय केवल इसी विषय के अध्ययन और अभ्यास में बीतता था। इससे थोड़े ही समय में उन्होंने गणित के सभी सिद्धान्तों की स्वयं ही अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली और सतत अभ्यास से कई नवीन सिद्धान्तो का भी आविष्कार किया। पास थे वह मैट्रिक ही, पर गणित में उनकी टक्कर का उस समय कोई विद्वान नहीं था। वह अपने विषय के स्व-निर्मित आचार्य थे। निर्धनता प्रतिभा का मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सकती—इसकी वह जिन्दा मिसाल थे।

प्रतिभा-संपन्न होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के जीवन का मार्ग समतल और चिकना नहीं होता। उन्हें अपने जीवन के मार्ग के कंकड़-पत्थरों से जूझना पड़ता है। श्रीनिवास रामानुजम् को भी अपने जीवन के मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विवाह हो जाने के बाद उन्हें नौकरी की चिन्ता हुई। पर उन-जैसे कम शिक्षा-प्राप्त तथा साधारण कुल में उत्पन्न युवक को अच्छी नौकरी

मिले तो कहाँ मिले ? लोग गणित में उनकी असाधारण योग्यता तो स्वीकार करते थे, पर उन्हें किसी पद पर नियुक्त करने के लिए कोई तैयार नहीं होता था। अँग्रेजी राज था। उस विदेशी राज मे प्रतिभा की कही पूछ नहीं थी। मैट्रिक पास को मैट्रिक का ही वेतन मिल सकता था। श्रीनिवास रामानुजम् ने नौकरी के लिए बड़ी दौड़ धूप की। कई दरवाजे उन्होंने खटखटाये। अन्त में ३० रु० मासिक की उन्हें नौकरी मिली।'

श्रीनिवास रामानुजम् का रहन-सहन अत्यन्त साधारण था। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं थी। सादा भोजन, सादा वस्त्र और अपने विषय की मौन साधना। केवल ३० रु० प्रतिमास कमाकर भी वह परम संतोषी बने रहे। धन के लोभ से उन्होंने अपनी साधना पर आँच नही आने दी। वह बराबर गणित का अभ्यास करते रहे। अपने नवीन सिद्धान्तों के संबंध में उन्होंने कई लेख लिखे जो मद्रास की 'भारतीय गणित-सभा' के मुख-पत्र में प्रकाशित हुए। इन लेखों से भारतीय गणितज्ञों का ध्यान रामानुजम् की ओर आकृष्ट हुआ। राजकीय बेध-शाला के अध्यक्ष तो रामानुजम् के सिद्धान्तों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने ने मद्रास-विश्वविद्यालय के अधिकारियों से रामानुजम् को विशेष छात्र-वृत्ति देकर विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में स्वतंत्र रूप से अनुसंधान करने की आज्ञा प्रदान करने के लिए आग्रहपूर्वक अनुरोध किया। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। इस प्रकार रामानुजम् को ७५ रु० मासिक छात्रवृत्ति पर विश्वविद्यालय में गणित-संबंधी अनुसंधान और कार्य करने की आज्ञा मिल गयी। रामानुजम् नौकरी छोड़ कर विश्वविद्यालय में रिसर्च करने लगे। इससे उनका सारा समय विश्वविद्यालय में बीतने लगा।

प्रतिभा में आँधी और तूफान का वेग नही होता। उसका प्रसार धीरे-धीरे होता है। उसका साधक रामानुजम्-सा साधक होता है। जिन दिनों रामानुजम् मद्रास-विश्वविद्यालय में रिसर्च-कार्य कर रहे थे उन्हीं दिनों किसी ने इंग्लैण्ड के विश्व-विख्यात गणिताचार्य डा० हार्डी को रामानुजम् के लेख दिखाये। उन लेखों का अध्ययन कर डा० हार्डी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने रामानुजनम् को अपने पास बुलाने का प्रयत्न किया। सन् १६११ ई० में ट्रिटी कालेज के एक प्रोफेसर मद्रास आये और उन्होंने मद्रास-विश्वविद्यालय से रामानुजम् को लंदन भेजने की

प्रार्थना की। मद्रास-विश्वविद्यालय के लिए यह बड़े गौरव की बात थी। इसलिए मद्रास-विश्वविद्यालय ने रामानुजम् को प्रति वर्ष २५० पौण्ड देना स्वीकार किया। इस प्रकार रामानुजम् उस प्रोफेसर के साथ लंदन चले गये। यह उनके अबतक के स्वाध्याय का सबसे बड़ा पुरस्कार था। प्रतिभा प्रचार से पूजनीय नहीं होती, सतत् साधना से पूजनीय होती है।

श्रीनिवास रामानुजम् जिस समय इंग्लैण्ड गये उस समय उनकी अवस्था लगभग २४ वर्ष की थी। डा० हार्डी ने उन्हें देखा तो आश्चर्य मे पड़ गये। एक साधारण नवयुवक और उसमें इतनी प्रतिभा! वह उनकी तेजस्वी प्रतिभा स बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उन्हें ६० पौंड की छात्रवृत्ति देकर अपने कैंब्रिज-विश्वविद्यालय में रख लिया। कैंब्रिज-विश्वविद्यालय संसार का सर्वाधिक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। साधारण प्रतिभावालों की उसमें पैठ नहीं थी। रामानुजम् के लिए उसमें स्थान मिलना रामानुजम् के लिए ही नहीं, सारे भारत के लिए गौरव की बात थी।

श्रीनिवास रामानुजम् ने कैंब्रिज-विश्वविद्यालय में तीन वर्ष तक रिसर्च किया। इस अवधि में उन्होंने प्रो० लिटिल वुड और डा० हार्डी के सहयोग से जिन नये सिद्धान्तों का पता लगाया उनसे उनकी (रामानुजम् की) ख्याति भारत और इंग्लैण्ड की संकुचित सीमा लाँघकर संसार में फैल गयी। रायल सुसाइटी तथा ट्रिटी कालेज से उन्हें प्रति वर्ष २४० पौ० और मिलने लगे। यह धन उन्हें उनकी मृत्यु तक मिलता रहा।

तीन वर्ष की अवधि समाप्त कर जब श्रीनिवास रामानुजम् स्वदेश लौटे तब प्रो० हार्डी ने उनके संबंध में [illegible] को लिखा—"रामानुजम् भारत की अमूल्य संपत्ति हैं और मुझे आशा है कि भारत उनका उचित सम्मान करेगा। मेरी राय में उनसे बड़ा गणितज्ञ भारत में कोई दूसरा नहीं है।" यह था एक निर्धन, पर प्रतिभा-संपन्न मैट्रिक पास नवयुवक का विदेश में सम्मान! जो नवयुवक एक दिन ३० रु० मासिक वेतन के लिए इधर से उधर भटक रहा था, वही नवयुवक भारत का महान गणितज्ञ था। वह सचमुच गुदड़ी के लाल थे।

श्रीनिवास रामानुजम् ज्ञान के आकाश में पुच्छल तारा के समान उदय हुए और उसी के समान अस्त भी हो गये। उनकी प्रतिभा जितनी तेजस्वी थी, उनका

मिले तो कहाँ मिले ? लोग गणित में उनकी असाधारण योग्यता तो स्वीकार करते थे, पर उन्हें किसी पद पर नियुक्त करने के लिए कोई तैयार नहीं होता था। अँग्रेजी राज था। उस विदेशी राज में प्रतिभा की कही पूछ नहीं थी। मैट्रिक पास को मैट्रिक का ही वेतन मिल सकता था। श्रीनिवास रामानुजम् ने नौकरी के लिए बड़ी दौड़ धूप की। कई दरवाजे उन्होंने खटखटाये। अन्त में ३० रु० मासिक की उन्हें नौकरी मिली।

श्रीनिवास रामानुजम् का रहन-सहन अत्यन्त साधारण था। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं थी। सादा भोजन, सादा वस्त्र और अपने विषय की मौन साधना। केवल ३० रु० प्रतिमास कमाकर भी वह परम संतोषी बने रहे। धन के लोभ से उन्होंने अपनी साधना पर आँच नही आने दी। वह बराबर गणित का अभ्यास करते रहे। अपने नवीन सिद्धान्तों के संबंध में उन्होंने कई लेख लिखे जो मद्रास की 'भारतीय गणित-सभा' के मुख-पत्र में प्रकाशित हुए। इन लेखों से भारतीय गणितज्ञों का ध्यान रामानुजम् की ओर आकृष्ट हुआ। राजकीय बेध-शाला के अध्यक्ष तो रामानुजम् के सिद्धान्तों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने ने मद्रास-विश्वविद्यालय के अधिकारियों से रामानुजम् को विशेष छात्र-वृत्ति देकर विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में स्वतंत्र रूप से अनुसंधान करने की आज्ञा प्रदान करने के लिए आग्रहपूर्वक अनुरोध किया। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। इस प्रकार रामानुजम् को ७५ रु० मासिक छात्रवृत्ति पर विश्वविद्यालय में गणित-संबंधी अनुसंधान और कार्य करने की आज्ञा मिल गयी। रामानुजम् नौकरी छोड़ कर विश्वविद्यालय में रिसर्च करने लगे। इससे उनका सारा समय विश्वविद्यालय में बीतने लगा।

प्रतिभा में आँधी और तूफान का वेग नही होता। उसका प्रसार धीरे-धीरे होता है। उसका साधक रामानुजम्-सा साधक होता है। जिन दिनो रामानुजम् मद्रास-विश्वविद्यालय में रिसर्च-कार्य कर रहे थे उन्हीं दिनों किसी ने इंग्लैण्ड के विश्व-विख्यात गणिताचार्य डा० हार्डी को रामानुजम् के लेख दिखाये। उन लेखों का अध्ययन कर डा० हार्डी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने रामानुजनम् को अपने पास बुलाने का प्रयत्न किया। सन् १९११ ई० में ट्रिटी कालेज के एक प्रोफेसर मद्रास आये और उन्होंने मद्रास-विश्वविद्यालय से रामानुजम् को लंदन भेजने की

प्रार्थना की। मद्रास-विश्वविद्यालय के लिए यह बड़े गौरव की बात थी। इसलिए मद्रास-विश्वविद्यालय ने रामानुजम् को प्रति वर्ष २५० पौण्ड देना स्वीकार किया। इस प्रकार रामानुजम् उस प्रोफेसर के साथ लंदन चले गये। यह उनके अबतक के स्वाध्याय का सबसे बड़ा पुरस्कार था। प्रतिभा प्रचार से पूजनीय नहीं होती, सतत् साधना से पूजनीय होती है।

श्रीनिवास रामानुजम् जिस समय इंग्लैण्ड गये उस समय उनकी अवस्था लगभग २४ वर्ष की थी। डा० हार्डी ने उन्हें देखा तो आश्चर्य में पड़ गये। एक साधारण नवयुवक और उसमें इतनी प्रतिभा! वह उनकी तेजस्वी प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उन्हें ६० पौंड की छात्रवृत्ति देकर अपने कैंब्रिज-विश्वविद्यालय में रख लिया। कैंब्रिज-विश्वविद्यालय संसार का सर्वाधिक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। साधारण प्रतिभावालों की उसमें पैठ नहीं थी। रामानुजम् के लिए उसमें स्थान मिलना रामानुजम् के लिए ही नहीं, सारे भारत के लिए गौरव की बात थी।

श्रीनिवास रामानुजम् ने कैंब्रिज-विश्वविद्यालय में तीन वर्ष तक रिसर्च किया। इस अवधि में उन्होंने प्रो० लिटिल वुड और डा० हार्डी के सहयोग से जिन नये सिद्धान्तों का पता लगाया उनसे उनकी (रामानुजम् की) ख्याति भारत और इंग्लैण्ड की संकुचित सीमा लाँघकर संसार में फैल गयी। रायल सुसाइटी तथा ट्रिटी कालेज से उन्हें प्रति वर्ष २४० पौ० और मिलने लगे। यह धन उन्हें उनकी मृत्यु तक मिलता रहा।

तीन वर्ष की अवधि समाप्त कर जब श्रीनिवास रामानुजम् स्वदेश लौटे तब प्रो० हार्डी ने उनके संबंध में मद्रास-विश्वविद्यालय को लिखा—"रामानुजम् भारत की अमूल्य संपत्ति हैं और मुझे आशा है कि भारत उनका उचित सम्मान करेगा। मेरी राय में उनसे बड़ा गणितज्ञ भारत में कोई दूसरा नहीं है।" यह था एक निर्धन, पर प्रतिभा-संपन्न मैट्रिक पास नवयुवक का विदेश में सम्मान! जो नवयुवक एक दिन ३० रु० मासिक वेतन के लिए इधर से उधर भटक रहा था, वही नवयुवक भारत का महान गणितज्ञ था। वह सचमुच गुदड़ी के लाल थे।

श्रीनिवास रामानुजम् ज्ञान के आकाश में पुच्छल तारा के समान उदय हुए और उसी के समान अस्त भी हो गये। उनकी प्रतिभा जितनी तेजस्वी थी, उनका

जीवन भी उतना ही क्षणिक था। इंग्लैण्ड से आने पर उनका स्वास्थ्य जो बिगड़ा तो बिगड़ता ही चला गया और ३३ वर्ष की अल्पावस्था में ही वह परलोक-वासी हो गये।

रामानुजम् भारत के गौरव थे। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर उन्होंने जिस तरह अपने जीवन का निर्माण किया था वह अत्यंत प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। उनमें अपनी प्रतिभा का अभिमान नहीं था। वह परम संतोषी, उदार और त्यागी थे। गणित के क्षेत्र में उन्होंने जिन नवीन सिद्धान्तों का आविष्कार किया वे अमिट है। वह भारत के ही नहीं, संसार के श्रेष्ठतम वैज्ञानिक थे।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

अत्यन्त प्राचीन काल से हमारे देश में ऋषियों, मुनियों, दार्शनिकों और तत्त्वज्ञों की एक विश्व-विख्यात दीर्घ परम्परा रही है। हमारे वर्तमान राष्ट्रपति

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् उसी परंपरा की एक स्वर्णिम कड़ी हैं। वेद, कर्म-काण्ड, मीमांसा, गीता, रामायण, महा-भारत आदि धर्म-ग्रंथों और दर्शन-शास्त्रों के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ वह पाश्चात्य दर्शन के भी अधिकारी विद्वान हैं। पूर्व और पश्चिम के दार्शनिक विचारों का मंथन कर उन्होंने अपनी उपलब्धियों को एक नवीन परिभाषा प्रदान की है और उसे आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इसीलिए उनकी गणना आज के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में की जाती है। दार्शनिक होने के साथ-साथ वह एक गंभीर शिक्षा-विद और कुशल राजनीतिज्ञ भी हैं।

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् दक्षिण भारत की देन है। मद्रास से ४० मील दूर पश्चिमोत्तर चित्तूर जनपद के अन्तर्गत तिरुताणि नाम का एक छोटा-सा गाँव है। इसी गाँव के एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में ५ सितम्बर, सन् १८८८ को उनका जन्म हुआ था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है—"मैं अपने श्रद्धालु एवं धार्मिक प्रकृति के माता-पिता की दूसरी संतान हूँ। मुझे कुल-प्रतिष्ठा तथा लक्ष्मी के कृपा-पात्र होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।" इससे स्पष्ट है कि उनके परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। इसलिए आरंभ से ही उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी प्रारंभिक शिक्षा तिरुताणि में ही संपन्न हुई। उनका परिवार विद्वानों का परिवार नहीं था, फिर भी समय

की मर्यादा के अनुसार उनके परिवार में संस्कृत का साधारण ज्ञान सबको था और रहन-सहन, खान-पान तथा आचार-विचार में प्राचीनता का पालन होता था। ऐसे वातावरण में राधाकृष्णन् के बाल-हृदय में धार्मिक भावना का उदय हुआ। उनकी इस नवोदित धर्म-भावना को तिरुताणि और तिरुपति के धार्मिक वातावरण से भी विशेष स्फूर्ति प्राप्त हुई।

तिरुताणि और तिरुपति में ही राधाकृष्णन् के जीवन के प्रारंभिक १२ वर्ष बीते थे। उस समय ये दोनों स्थान दक्षिण भारत के प्रमुख तीर्थ थे और आज भी हैं। यहाँ आनेवाले तीर्थ-यात्रियों की श्रद्धा-भक्ति देखकर राधाकृष्णन् के बाल-हृदय में एक अनोखी गुदगुदी उत्पन्न होती थी। वह उनकी स्थिति, उनके आत्म-विश्वास, उनकी श्रद्धा-भक्ति, उनकी लगन और उनकी अंधविश्वास से भरी हुई धर्म-भावना पर घंटो सोचा करते थे। उस समय उनका बाल-हृदय एक अद्‌भुत रहस्य-भावना से उद्वेलित हो उठता था और वह आत्म-केन्द्रित हो उठते थे। अपने बचपन की इस मनोदशा का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"न जाने क्यों, जब से मैंने होश संभाला, प्रकृति के इस घटना-प्रवाह के पीछे विद्यमान एक अदृश्य विश्व की सत्ता में मुझे दृढ़ विश्वास हो गया, एक ऐसा इन्द्रियातीत विश्व जो केवल मनोगम्य है। भयंकर-से-भयंकर बाधाओं के उपस्थित होने पर भी मेरा यह विश्वास सदैव अविचल रहा है। संभवतः अपने मननशील स्वभाव के कारण ही मुझे एकान्त बहुत प्रिय है। अपने बाह्य क्रिया-कलापों के साथ-साथ मेरा एक अत्यन्त शान्ति एवं प्रसाद से परिपूर्ण मौन का एक आंतरिक जगत भी है, जिसमें विचरण करने में मुझे असीम आनन्द प्राप्त होता है।" राधाकृष्णन् के इस आत्म-कथन में ही उनके भावी जीवन का रहस्य निहित है।

डा० राधाकृष्णन् अपने बचपन में बड़े मेधावी बालक थे। पढ़ने-लिखने में उनका खूब जी लगता था। तिरुताणि और तिरुपति में प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर वह मद्रास गये और वहाँ के एक क्रिश्चियन स्कूल से सन् १६०३ ई० में उन्होंने मैट्रिक पास किया। इसके बाद मद्रास के क्रिश्चियन कालेज से सन् १६०५ ई० में उन्होंने प्रथम श्रेणी में इंटरमीडिएट पास किया। इसी कालेज से उन्होंने बी० ए० और दर्शन-शास्त्र लेकर सन् १६०८ ई० में एम० ए० पास किया। इस प्रकार उनकी संपूर्ण शिक्षा ईसाई मिशनरी-संस्थाओं में संपन्न हुई और

उनके जीवन के आठ-नौ वर्ष उन संस्थाओं में ही बीते। तिरुत्ताणि और तिरुपति में उनके जो धार्मिक संस्कार बन चुके थे उनके विकसित होने की उन हिन्दू-विरोधी संस्थाओं में गुंजाइश नहीं थी।

क्रिश्चियन-संस्थाओं में पाठ्य-क्रम में निर्धारित विषयों के अतिरिक्त ईसाई-धर्म की भी शिक्षा अनिवार्य रूप से विद्यार्थियों को दी जाती थी। ऐसी शिक्षा के प्रति राधाकृष्णन् की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"अपने प्रारंभिक संस्कार-ग्रहणशील सुकुमार अवस्था में मैं केवल 'न्यू टेस्टामेंट' की शिक्षाओं से ही परिचित नहीं हुआ, अपितु ईसाई मिशनरियों-द्वारा हिन्दू-विश्वासों एवं आचारों पर की जानेवाली आलोचनाओं से भी अवगत हुआ। स्वामी विवेकानन्द की वाग्मिता एवं उनके हिन्दू-धर्म की व्याख्या ने मेरे अन्दर जो हिन्दू होने का गौरव उद्बुद्ध किया था उसे ईसाई-संस्थाओं में हिन्दू-धर्म के प्रति किये जानेवाले व्यवहार से बड़ी ठेस पहुँची। मैं यह कल्पना तक नहीं कर सकता था कि वे हिन्दू-तपस्वी एवं शिक्षक सच्चे अर्थों में धार्मिक नहीं थे जिन्होंने भारत की उस महान संस्कृति के साथ विश्व का संपर्क कराया जो हमारे ज्ञान एवं आचार के मूल में अधिकांशतः विद्यमान है।" इससे स्पष्ट है कि क्रिश्चियन संस्थाओं के सम्पर्क में आने से पूर्व राधाकृष्णन् के हृदय और मस्तिष्क में जो धार्मिक भावनाएँ जाग्रत हो रही थीं वे ईसाई-संस्थाओं में हिन्दू-धर्म के प्रति किये जाने वाले आक्षेपों को सहन न कर सकीं और इस प्रकार वे उनके गंभीर चिन्तन का विषय बन गयीं। भारतीय दर्शन के अध्ययन की ओर राधाकृष्णन् का झुकाव इसी कारण हुआ और इसके प्रचार एवं प्रसार के लिए ही उन्होंने विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

सन् १९०९ई०में विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के बाद राधाकृष्णन् उसी वर्ष अप्रैल मास में मद्रास प्रेज़ीडेन्सी कालेज के दर्शन-विभाग में दर्शन के अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। दर्शन उनका प्रिय विषय था। इसी विषय के प्रति उनकी बचपन से दिलचस्पी थी। इसलिए वह इसी विषय का अध्ययन किया करते थे। कालेज में पढ़ते समय जब उन्होंने हिन्दू-धर्म के विरुद्ध आलोचनाएँ सुनीं तब उनकी रुचि दर्शन के प्रति पहले की अपेक्षा और अधिक हो गयी। उन्होंने लिखा है—"ईसाई आलोचकों की चुनौती से मेरे अन्दर हिन्दू-धर्म के गंभीर अध्ययन की प्रेरणा उत्पन्न

की मर्यादा के अनुसार उनके परिवार में संस्कृत का साधारण ज्ञान सबको था और रहन-सहन, खान-पान तथा आचार-विचार में प्राचीनता का पालन होता था। ऐसे वातावरण में राधाकृष्णन् के बाल-हृदय में धार्मिक भावना का उदय हुआ। उनकी इस नवोदित धर्म-भावना को तिरुताणि और तिरुपति के धार्मिक वातावरण से भी विशेष स्फूर्ति प्राप्त हुई।

तिरुताणि और तिरुपति में ही राधाकृष्णन् के जीवन के प्रारंभिक १२ वर्ष बीते थे। उस समय ये दोनों स्थान दक्षिण भारत के प्रमुख तीर्थ थे और आज भी हैं। यहाँ आनेवाले तीर्थ-यात्रियों की श्रद्धा-भक्ति देखकर राधाकृष्णन् के बाल-हृदय में एक अनोखी गुदगुदी उत्पन्न होती थी। वह उनकी स्थिति, उनके आत्म-विश्वास, उनकी श्रद्धा-भक्ति, उनकी लगन और उनकी अंधविश्वास से भरी हुई धर्म-भावना पर घंटो सोचा करते थे। उस समय उनका बाल-हृदय एक अद्भुत रहस्य-भावना से उद्वेलित हो उठता था और वह आत्म-केन्द्रित हो उठते थे। अपने बचपन की इस मनोदशा का उल्लेख करते हुए उन्होने लिखा है—"न जाने क्यों, जब से मैंने होश संभाला, प्रकृति के इस घटना-प्रवाह के पीछे विद्यमान एक अदृश्य विश्व की सत्ता में मुझे दृढ़ विश्वास हो गया, एक ऐसा इन्द्रियातीत विश्व जो केवल मनोगम्य है। भयंकर-से-भयंकर बाधाओं के उप-स्थित होने पर भी मेरा यह विश्वास सदैव अविचल रहा है। संभवतः अपने मनन-शील स्वभाव के कारण ही मुझे एकान्त बहुत प्रिय है। अपने बाह्य क्रिया-कलापों के साथ-साथ मेरा एक अत्यन्त शान्ति एवं प्रसाद से परिपूर्ण मौन का एक आंतरिक जगत भी है, जिसमें विचरण करने में मुझे असीम आनन्द प्राप्त होता है।" राधाकृष्णन् के इस आत्म-कथन में ही उनके भावी जीवन का रहस्य निहित है।

डा० राधाकृष्णन् अपने बचपन में बड़े मेधावी बालक थे। पढ़ने-लिखने में उनका खूब जी लगता था। तिरुताणि और तिरुपति में प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर वह मद्रास गये और वहाँ के एक क्रिश्चियन स्कूल से सन् १९०३ ई० में उन्होंने मैट्रिक पास किया। इसके बाद मद्रास के क्रिश्चियन कालेज से सन् १९०५ ई० में उन्होंने प्रथम श्रेणी में इंटरमीडिएट पास किया। इसी कालेज से उन्होंने बी० ए० और दर्शन-शास्त्र लेकर सन् १९०८ ई० में एम० ए० पास किया। इस प्रकार उनकी संपूर्ण शिक्षा ईसाई मिशनरी-संस्थाओं में संपन्न हुई और

उनके जीवन के आठ-नौ वर्ष उन संस्थाओं में ही बीते। तिरुत्तणि और तिरुपति में उनके जो धार्मिक संस्कार बन चुके थे उनके विकसित होने को उन हिन्दू-विरोधी संस्थाओं में गुंजाइश नहीं थी।

क्रिश्चियन-संस्थाओं में पाठ्य-क्रम में निर्धारित विषयों के अतिरिक्त ईसाई-धर्म की भी शिक्षा अनिवार्य रूप से विद्यार्थियों को दी जाती थी। ऐसी शिक्षा के प्रति राधाकृष्णन् की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"अपने प्रारंभिक संस्कार-ग्रहणशील सुकुमार अवस्था में मैं केवल 'न्यू टेस्टामेंट' की शिक्षाओं से ही परिचित नहीं हुआ, अपितु ईसाई मिशनरियों-द्वारा हिन्दू-विश्वासों एवं आचारों पर की जानेवाली आलोचनाओं से भी अवगत हुआ। स्वामी विवेकानन्द की वाग्मिता एवं उनके हिन्दू-धर्म की व्याख्या ने मेरे अन्दर जो हिन्दू होने का गौरव उद्बुद्ध किया था उसे ईसाई-संस्थाओं में हिन्दू-धर्म के प्रति किये जानेवाले व्यवहार से बड़ी ठेस पहुँची। मैं यह कल्पना तक नहीं कर सकता था कि वे हिन्दू-तपस्वी एवं शिक्षक सच्चे अर्थों में धार्मिक नहीं थे जिन्होंने भारत की उस महान संस्कृति के साथ विश्व का संपर्क कराया जो हमारे ज्ञान एवं आचार के मूल में अधिकांशतः विद्यमान है।" इससे स्पष्ट है कि क्रिश्चियन संस्थाओं के संपर्क में आने से पूर्व राधाकृष्णन् के हृदय और मस्तिष्क में जो धार्मिक भावनाएँ जाग्रत हो रही थीं वे ईसाई-संस्थाओं में हिन्दू-धर्म के प्रति किये जाने वाले आक्षेपों को सहन न कर सकीं और इस प्रकार वे उनके गंभीर चिन्तन का विषय बन गयीं। भारतीय दर्शन के अध्ययन की ओर राधाकृष्णन् का झुकाव इसी कारण हुआ और इसके प्रचार एवं प्रसार के लिए ही उन्होंने विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

सन् १९०९ई०में विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के बाद राधाकृष्णन् उसी वर्ष अप्रैल मास में मद्रास प्रेज़ीडेन्सी कालेज के दर्शन-विभाग में दर्शन के अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। दर्शन उनका प्रिय विषय था। इसी विषय के प्रति उनकी बचपन से दिलचस्पी थी। इसलिए वह इसी विषय का अध्ययन किया करते थे। कालेज में पढ़ते समय जब उन्होंने हिन्दू-धर्म के विरुद्ध आलोचनाएँ सुनीं तब उनकी रुचि दर्शन के प्रति पहलेकी अपेक्षाऔर अधिक हो गयी। उन्होंने लिखा है—"ईसाई आलोचकों की चुनौती से मेरे अन्दर हिन्दू-धर्म के गंभीर अध्ययन की प्रेरणा उत्पन्न

हुई, ताकि मैं यह जान सकूँ कि इस धर्म में कौन-सा तत्त्व जीवित है और कौन-सा निर्जीव। समय के प्रवाह ने, जिसमें मेरा देश नींद से अँगड़ाई लेकर जाग रहा था, मेरे इस निश्चय को और अधिक दृढ़ किया।" दर्शन लेकर एम० ए० करने और फिर अध्यापक होने पर उनकी यह प्यास बुझी नहीं, बल्कि और भी बढ़ती गयी। विद्यार्थी-जीवन से ही उन्हें लिखने का शौक था और उन्होंने अपनी पहली पुस्तक सन् १९०८ ई० में, जब वह एम० ए० के विद्यार्थी थे, 'वेदान्त में नीति शास्त्र' के नाम से लिखी थी। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने ईसाइयों के इस आरोप का उत्तर दिया था कि वेदान्त में नीति-शास्त्र का कोई स्थान नहीं है। अपनी इस पहली रचना से ही वह चमक उठे और फिर बराबर लिखते रहे। अध्यापक होने पर भी उनके लिखने का सिलसिला जारी रहा और उनके कई लेख 'आचार-शास्त्र की अन्तरराष्ट्रीय पत्रिका' (इंटरनेशनल जर्नल आफ एथिक्स) 'अद्वैतवादी' (मोनिस्ट) और 'खोज' (क्वयेस्ट) आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुए। अपने इन लेखों में उन्होंने हिन्दू-धर्म के आचारात्मक स्वरूप की अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्याख्या की। उनके इन लेखों का काफी प्रचार हुआ और फिर सन् १९१८ ई० में मैसूर के नव-निर्मित विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई।

मैसूर-विश्वविद्यालय में राधाकृष्णन् कुल तीन वर्ष तक रहे। इस अर्से में भी अध्यापन-कार्य के साथ उनका अध्ययन जारी रहा। अध्ययन का उन्हें चस्का था। उन्होंने लिखा है—"प्रारंभ से ही पुस्तकों में मेरी बड़ी रुचि रही है। उन्होंने मेरे दृष्टिकोण को विस्तीर्ण किया है, मुझमें भव्य स्वप्नों की सृष्टि की है। मैं उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक और विश्वसनीय मित्र समझता हूँ।" अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों की रचनाओं का अध्ययन किया और उनके दार्शनिक विचारों की गहरी आलोचना की। उन्होंने यह सिद्ध किया कि जेम्स वार्ड, लार्ड बालफोर आदि के अनेकत्ववादी ईश्वरवाद के पूर्ण समर्थन का कारण दर्शन के क्षेत्र में धर्म का सम्मिश्रण कराना था। इस संबंध में उन्होंने जो निबंध लिखा वह 'समकालिक दर्शन में धर्म का स्थान' (प्लेस आफ रिलीजन इन कंटेम्प्रेरी फिलासफी) नाम से ग्रन्थ-रूप में सन् १९२० ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का जोरदार स्वागत हुआ और अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इसकी भूरि-भूरि

प्रशंसा की। ब्रिटिश और अमरीकी विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में इसे स्थान मिला। इस प्रकार दर्शन-शास्त्र के एक उच्च कोटि के लेखक के रूप में उनकी ख्याति बढ़ गयी।

१९२१ ई० में राधाकृष्णन् मैसूर-विश्वविद्यालय से मुक्त होकर कलकत्ता-विश्वविद्यालय में 'जार्ज पंचम के नाम से संबद्ध मानसिक एवं नैतिक विज्ञान के दर्शन शास्त्रीय प्राध्यापक हो गये। उनके इस पद पर आसीन होते ही प्रो० जे० एच० म्यूहेड ने अपने दर्शन के पुस्तकालय के लिए भारतीय दर्शन पर एक विधिवत् एवं प्रणालीबद्ध ग्रन्थ के लिखने के लिए उन्हें आमंत्रित किया। इस निमंत्रण से उत्साहित होकर राधाकृष्णन् ने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' की दो भागों में रचना की। इन दोनो भागों का प्रकाशन इंग्लैण्ड में हुआ। इनके प्रकाशन से उनकी विद्वता की धाक पाश्चात्य दार्शनिकों पर जम गयी। उस समय तक हिन्दू-दर्शन के प्रति पाश्चात्य दार्शनिकों की यह धारणा थी कि वह अत्यन्त विचित्र और पुरातन है और विश्व के आध्यात्मिक जागरण में उसका कोई मूल्य नहीं है। राधाकृष्णन् ने अपनी रचनाओं-द्वारा उनकी इस धारणा को असत्य सिद्ध कर दिया और भारतीय दर्शन के प्रति उनमें आस्था उत्पन्न कर दी। इससे पाश्चात्य देशों में भारतीय दर्शन का अध्ययन एक आवश्यक शाखा के रूप में होने लगा। उन्हीं दिनों 'हिब्बर्ट जर्नल' में भारतीय दर्शन पर उनके कई लेख प्रकाशित हुए। इन लेखों के द्वारा उस पत्र के संपादक डा० एल० पी० जेक्स से उनका परिचय हुआ। उन्होंने अत्यन्त उदारतापूर्वक राधाकृष्णन् को सन् १९२६ ई० में 'जीवन के प्रति हिन्दू का दृष्टिकोण' विषय पर उप्टन-व्याख्यानमाला देने के लिए आमंत्रित किया। संयोग से उसी वर्ष जून मास में ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों की काँग्रेस और सितम्बर मास में हार्वर्ड-विश्वविद्यालय की अन्तरराष्ट्रीय दर्शन-काँग्रेस होनेवाली थी। इन दोनो काँग्रेसों में सम्मिलित होने के लिए वह कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से प्रतिनिधि चुने गये। अतः इस स्वर्ण अवसर से उन्होंने पूरा लाभ उठाया और इंग्लैण्ड गये।

यूरोप और अमरीका के लिए राधाकृष्णन् की यह पहली यात्रा थी। उनकी धाक पहले से ही जमी हुई थी। इसलिए आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज, हार्वर्ड और प्रिन्सटन, येल और शिकागो तथा अन्य स्थानों में उनका हार्दिक स्वागत हुआ।

जहाँ-जहाँ वह गये वहाँ-वहाँ उनका व्याख्यान हुआ। हार्वर्ड-विश्वविद्यालय की दर्शन-काँग्रेस में उन्होंने 'आधुनिक सभ्यता में दर्शन का अभाव' विषय पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया। उनके भाषणों और उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही सन् १९२९ ई० में उन्हें मैनचेस्टर कालेज, आक्सफोर्ड में दर्शन के अध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया। यह उनके लिए बड़े गौरव की बात थी। उन्होंने लन्दन, आक्सफोर्ड तथा मैनचेस्टर के विद्यालयों में विविधि विषयों पर कई भाषण दिये। इन भाषणों से उनकी अन्तरराष्ट्रीय ख्याति हो गयी। इस प्रकार वहाँ नाम पैदा कर वह स्वदेश लौट आये। सन १९३१ ई० में उन्हें तत्कालीन अँग्रेजी-सरकार ने 'सर' की उपाधि दी और वह आँध्र-विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए।

१९३१ ई० में राधाकृष्णन् को 'लीग आफ नेशन्स' की बौद्धिक सहयोग-समिति का सदस्य मनोनीत किया गया। सन् १९३५ ई० में वह आक्सफोर्ड में पूर्व के धर्मों की शिक्षा देने के लिए प्रोफेसर नियुक्त हुए और दो वर्ष बाद ब्रिटिश अकादमी ने उन्हें भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। वह अकादमी के सदस्य भी बनाये गये। इसके बाद महामना मालवीयजी के आग्रह करने पर वह काशी-विश्वविद्यालय के उपकुलपति हुए। इस पद पर उन्होने सन् १९३९ ई० से सन् १९४८ ई० तक अवैतनिक-रूप से कार्य किया।

डा० राधाकृष्णन् ने देश की राजनीति में भाग नहीं लिया, लेकिन उसके प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी। सन् १९२७ ई० में अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' के दूसरे भाग में उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश राज ने भारत को शान्ति और सुरक्षा अवश्य प्रदान की है, परन्तु ये दोनों वस्तुएँ साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य है राष्ट्र के आत्मा की स्वतंत्रता।" गांधीजी को उनके ७७ वें जन्म-दिवस पर सन् १९३९ई० में जो अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया उसके वही संपादक थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने लिखा—"गांधी अमुक्त जीवन के पैगम्बर हैं जिनका अपनी पवित्रता और निर्भीकता के कारण करोड़ों मनुष्यों पर प्रभाव है।" इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र के नव-जागरण के प्रति वह उदासीन नहीं थे। देश के स्वतंत्र होने पर जो व्यक्ति 'संविधान-सभा' के सदस्य बनाये गये उनमें उनका भी नाम था। सन् १९४९ ई० में उन्हें सोवियत-संघ में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया।

सोवियत रूस में वह पहले व्यक्ति थे जिनसे मार्शल स्टालिन ने दो बार भेंट की। वहाँ से स्वदेश लौटने पर वह प्रथम बार भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए। अपने इस पद से उन्होंने विदेशों में भारत की नीति, उसके उद्देश्य और उसके आदर्श का प्रचार किया। सन् १९५४ ई० में वह 'भारत-रत्न' की उपाधि-से विभूषित किये गये। सन् १९५७ ई० के चुनाव में वह दूसरी बार उपराष्ट्रपति चुने गये और फिर सन् १९६२ के चुनाव के बाद डा० राजेन्द्र प्रसाद के राष्ट्रपति-पद से अवकाश-ग्रहण करने पर वह हमारे राष्ट्रपति हुए। इस समय वही हमारे राष्ट्रपति हैं।

डा० राधाकृष्णन् भारतीय आत्मा के प्रतिनिधि हैं। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति उनकी गहरी आस्था है। हृदय और मस्तिष्क का उनके व्यक्तित्व में अद्भुत समन्वय है। उन्होंने भारतीय दर्शन की व्याख्या ही नही की है, अपितु करोड़ों भारतवासियों की देह और आत्मा की आवश्यकताओं और आकाँक्षाओं को भी स्वर दिया है। उन्होंने लिखा है—"मैं संत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जीवन के साधारण सुखों, पारिवारिक स्नेह, प्रेम और मित्रता, विश्वास एवं भक्ति का आनन्द लेता हूँ और जब इन पवित्र आत्मिक संबंधों का अपहरण एवं अभाव हो जाता है तब मुझको इससे मानसिक व्यथा होती है। मैं संत होने की अपेक्षा मनुष्य ही होना चाहता हूँ।"

डा० राधाकृष्णन् का दर्शन-साहित्य मौलिक है और उसके द्वारा उन्होंने पश्चिम के दार्शनिकों और विद्वानों को चिन्तन की नई सामग्री प्रदान की है। एक फारसी के कवि ने लिखा है—"विश्व वह पाण्डु-लिपि है जिसके प्रथम और अंतिम पृष्ठ खो गये हैं और यह जानना असंभव हो गया है कि पुस्तक के आरंभ में क्या था और उसका संभावित अंत क्या हो सकता है।" मनुष्य इन्हीं खोये पृष्ठों को खोजने में लगा हुआ है। डा० राधाकृष्णन् ने दार्शनिक के कार्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—"वह (दार्शनिक) इन खोये हुए पृष्ठों की खोज में मानव का सब से बड़ा सहायक, निर्देशक और पद-प्रदर्शक है। यथार्थ में दर्शन इस खोज और परिणाम का ही नाम है। इस खोज का उद्देश्य जीवन और उसके अस्तित्त्व की सार्थकता का पता लगाना है।"

डा० राधाकृष्णन् के जीवन के विविध रूप हैं। चिन्तन के क्षेत्र में वह एक

प्रकाण्ड दार्शनिक और व्यावहारिक क्षेत्र में वह एक सफल अध्यापक, उच्च कोटि के वक्ता और कुशल राजनीतिज्ञ हैं। लेकिन इनमें से उनका कोई रूप एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। उनकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं है। स्वभाव से वह निष्काम-कर्मी और अपरिग्रही हैं। अपनी साधना के अनुरूप ही उन्होने अपने हाथों अपने जीवन का निर्माण किया है। अनेक उच्च पदों पर रहते हुए भी उनके खान-पान, उनके रहन-सहन और उनकी वेश-भूषा में अन्तर नहीं आया है। सर पर पगड़ी, घुटनों के नीचे तक की शेरवानी और कमर से बँधी हुई धोती—यही आरंभ से उनका सादा पहनावा है। अपने व्यावहारिक जीवन के संबंध में उन्होंने लिखा है—"जिन सामाजिक समारोहों में लोग अपने कष्टों को भूल जाते हैं, मुझे वे बिलकुल रुचिकर नहीं लगते। एक या दो, विशेष रूप से परिचित मित्रों की संगति को, अपवाद-रूप छोड़ कर, मैं दूसरों की संगति में प्रयत्न करके ही कुछ समय गुजार पाता हूँ। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर बड़े या छोटे, वृद्ध या तरुण किसी भी व्यक्ति के साथ व्यवहार एवं संभाषण करने की कला से भी मैं पूर्णतः परिचित हूँ। यद्यपि मेरा स्वभाव शर्मीला और प्रकृति एकान्त-प्रेमी है, तथापि लोगों की मेरे बारे में ऐसी धारणा है कि मैं बड़ा ही मिलनसार और सामाजिक व्यक्ति हूं। मेरे आत्म-केन्द्रित स्वभाव और समाज से दूर भागने की प्रवृत्ति के कारण ही मेरे बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि मुझे समझना बड़ा कठिन है। मेरे बारे में लोगों की यह भी धारणा है कि मेरा व्यवहार शुष्क एवं मेरी संकल्प-शक्ति अत्यन्त प्रबल है, जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि मुझमें सर्वथा इनके विरोधी गुण हैं। मुझमें उद्वेगों का प्रबल एवं प्रचण्ड प्रवाह है जिसे मैं सामान्यतः छिपाने की चेष्टा करता हूँ। मैं अत्यन्त ही संवेदनशील और भावुक व्यक्ति हूँ।"

यूनानी दार्शनिक-प्लेटो ने एक स्थान पर लिखा है—"जब तक दार्शनिक शासक नहीं बनते और शासक दार्शनिक नहीं होते तबतक विश्व में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित नही हो सकती।" प्लेटो की इस युक्ति के अनुसार ही भारत को एक दार्शनिक शासक मिला है और हमारा विश्वास है कि उसकी भविष्यवाणी अवश्य सत्य होगी।

●●

चन्द्रशेखर वेंकट रमण

विज्ञान के इतिहास में सर चन्द्रशेखर वेंकट रमण का अर्वाचीन स्थान है। उन्होंने अपनी तपस्या के बल पर अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है और

अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक सुनियोजित मर्यादा स्थापित की है। बचपन से ही वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़े हैं और उसके मार्ग की विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए अपने लक्ष्य के अन्त तक पहुँचे हैं। इस समय उनकी अवस्था ७४-७५ वर्ष की है, लेकिन उनमें अब भी नवयुवकों का-सा उत्साह है। उनकी प्रयोगशाला उनका देव-मंदिर है और उसी में वह अपने इष्टदेव विज्ञान की आराधना और साधना में लीन रहते हैं।
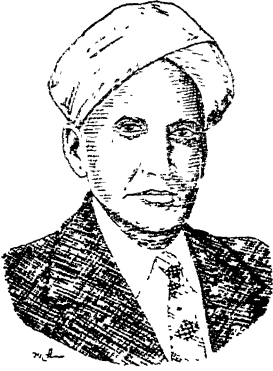
७ नवम्बर, १८८८ ई० को रमण का जन्म एक ऐसे ब्राह्मण-परिवार में हुआ था जो अपनी विद्या-बुद्धि के लिए विख्यात था। उनके पिता श्री रामनाथ चन्द्रशेखर भौतिक-विज्ञान के एक सफल अध्यापक थे और उनका मातृ-कुल संस्कृत के पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। उनके नाना इतने अधिक स्वाध्याय-प्रेमी थे कि उन्होंने न्याय-शास्त्र के गूढ़ रहस्यों को समझने और उसमें पारंगत होने के विचार से मद्रास-राज्य से पूर्वी बंगाल के नदिया जिले तक की पैदल यात्रा की थी। इस प्रकार बालक रमण को अपने पितृ-कुल से जहाँ विज्ञान-प्रेम मिला था वहाँ उन्हें अपने मातृ-कुल से स्वाध्याय-प्रेम प्राप्त हुआ था। रमण ने अपने विद्यार्थी-जीवन में इन दोनों गुणों का विकास किया। १२ वर्ष की अल्पावस्था में उन्होंने मैट्रिक पास किया। ए० वी० एन० कालेज, विशाखापट्टनम् तथा प्रेसीडेंसी कालेज, मद्रास में उनकी शिक्षा हुई। एफ़० ए० की परीक्षा प्रथम

श्रेणी में उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होने प्रेसोडेंसी कालेज, मद्रास से बी० ए० पास किया। विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आने के कारण उन्हे अनेक पदक मिले। इसके बाद उन्होंने भौतिक-विज्ञान में एम० ए० पास किया। एम० ए० में भी वह सर्वप्रथम आये। इस परीक्षा में उन्हें इतने अधिक अंक मिले थे जितने उनके पूर्व किसी परीक्षार्थी को नही मिले थे।

शिक्षा समाप्त करने के बाद १६०७ ई० में रमण 'डिप्टी एकाउन्टेण्ट जनरल' नियुक्त हुए। उस समय उनकी अवस्था १६ वर्ष की थी। इस छोटी अवस्था में ही उनकी बुद्धि इतनो प्रखर थी कि उन्होने अपने कार्य से अपने अधिकारियों को आश्चर्य-चकित कर दिया। वह बड़े परिश्रमी थे। कार्यालय में फाइलो को उलटने-पलटने के अतिरिक्त वह अपनी विज्ञान-पिपासा को भी शान्त करते थे। यही कार्य उनकी प्रतिभा के अनुकूल था। डिप्टी एकाउन्टेण्ट जनरल के सम्मनित पद पर आसीन होते हुए भी वह एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक होने का स्वप्न देखा करते थे। वह 'लक्ष्मी' के नहीं, 'सरस्वती' के उपासक थे। उन दिनों सर आशुतोष मुखर्जी कलत्तता-विश्वद्यालय में थे। उन्हें अपने भौतिक-विज्ञान-विभाग के लिए एक सुयोग्य प्राध्यापक की आवश्यकता थी। वह रमण की प्रतिभा से भलीभाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने रमण को अपने यहाँ बुलाया। रमण ने अपनी स्वीकृति दे दी और फिर वह सरकारी नौकरी छोड़कर सन् १६१७ ई० में कलकत्ता चले गये।

कलकत्ता-विश्वद्यालय में रमण ने बड़े परिश्रम से कार्य करना आरंभ किया। उनके अनुसंधान का मुख्य विषय था 'प्रकाश और रंग'। उन्होंने आकाश में कुहरे और उसके बादलों से बने हुए रंगीन किरीट तथा इन्द्र-धनुष के रंगों की व्याख्या की। अभ्रक के बहुत ही सूक्ष्म पटल (फिलम) आदि के रंगों का विश्लेषण और अध्ययन भी उन्होंने इसी समय आरंभ किया। उनके इन अनुसंधानों का विदेशों में सर्वाधिक प्रचार हुआ और वह प्रकाश-विद्युत के प्रमुख आचार्य माने जाने लगे। सन् १६२१ ई० में उन्होंने पहली बार प्रयोगार्थ समुद्र-यात्रा की। इस यात्रा में उन्हें समुद्र कें जल के नीले होने के कारण पर विचार करने की प्रेरणा मिली। सितम्बर में वह लौट आये। इसके बाद उन्होंने जल और उसके समान पारदर्शक द्रव में होकर प्रकाश के आर-पार जाने का अनुशीलन आरंभ किया। कई वर्ष

तक वह अपने इस अनुशीलन में जुटे रहे। अन्त में उन्होंने यह सिद्ध किया कि अणुओं की गति के कारण प्रकाश का परिक्षेपण होता है। यह परिक्षेपण पारदर्शक पदारथों में ही नहीं होता, अपितु बर्फ और स्फटिक-जैसे ठोस पदार्थों में भी होता है। उनका यह सिद्धान्त 'रमण-प्रभाव' (सन् १६२६ ई०) के नाम से प्रसिद्ध है। उनके इसी अनुसंधान पर सन् १६३० ई० में उन्हें 'नोवेल-पुरस्कार' मिला था। भारत में रवीन्द्रनाथ टाकुर के बाद रमण ही दूसरे नोवेल-पुरस्कार-विजेता हैं।

डा० रमण मेधावी वैज्ञानिक हैं। विज्ञान का सर्वोच्च नोबेल-पुरस्कार प्राप्त करने के बाद भी वह अनुसंधान-कार्य में रत रहते हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अध्यापन-कार्य से मुक्त होकर उन्होंने बंगलौर को अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया है और सन् १६३२ ई० से वह वहाँ के 'इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ रिसर्च' में अनुसंधान-कार्य करते हैं। उसके अन्तर्गत उन्होंने भौतिक-विज्ञान-संबंधी एक प्रयोगशाला स्थापित की है। उनका सारा समय इसी प्रयोगशाला में बीतता है। उनकी देख-रेख में अनेक स्नातकों ने इस प्रयोग शाला में अनुसंधान-कार्य किया है। सर के० एस० कृष्णन्-सरीखे रत्न इसी प्रयोगशाला की उपज हैं।

डा० रमण स्वतंत्र विचार के वैज्ञानिक हैं। अपने अनुसंधान-कार्य में वह किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते। प्राचीन ऋषियों-मुनियों की भाँति उनका भी यही विचार है कि किसी भी सरकार को किसी वैज्ञानिक के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और उसे स्वतंत्र रूप से खोज का कार्य करने का अवसर देना चाहिए। अपने इस विचार के अनुसार वह कोई ऐसी राजकीय सहायता स्वीकार नहीं करते जिसके साथ कोई शर्त होती है। वह किसी के आश्रय में रहना भी पसंद नहीं करते। स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् भारत-सरकार ने अपने वैज्ञानिक अनुसंधान-विभाग में कार्य करने के लिए उन्हें एक उच्च पद देने का प्रस्ताव किया, परन्तु उन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—"वैज्ञानिक का मूल स्थान सरकारी कार्यालयों में नहीं, उसकी अपनी प्रयोगशाला में है।"

डा० रमण शुष्क वैज्ञानिक नहीं हैं। वह प्रकृति के उपासक, साहित्य-प्रेमी

और सङ्गीत-प्रेमी भी हैं। उनका उद्यान उनकी प्रकृति-प्रियना का नमूना है। अपने उद्यान की साज-सज्जा में वह बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। उनकी प्रयोगशाला भी अत्यन्त आकर्षक है। विज्ञान के दुर्लभ यंत्रों से सुसज्जित उनकी प्रयोगशाला एक कलाकार की प्रयोगशाला है। प्रयोगशाला में भाँति-भाँति के रत्नों का संग्रह उसकी विशेषता है। इसके साथ ही उसमें भाँति-भाँति की रंग-बिरङ्गी तितलियाँ और पुष्प उसकी शोभा में चार चाँद लगा देते हैं। डा० रमण को फूलों से बेहद प्रेम है। उनकी प्रयोगशाला फूलों की प्रदर्शिनी-सी लगती है।

डा० रमण के स्वस्थ जीवन का रहस्य है, उनको अनासक्त संलग्नता और उनका मानसिक उल्लास। वह प्रचार-प्रिय भी नहीं हैं। उनकी प्रतिभा स्वयं उनका प्रचार करती है। वह विज्ञान के मौन साधक हैं। अपनी प्रयोगशाला में मानसिक श्रम करते-करते जब वह थककर घर लौटते हैं तब वह अपनी पत्नी के साथ वीणा का आनन्द लेते हैं। उनकी पत्नी वीणा-वादन में बड़ी निपुण हैं। साहित्य-चर्चा से भी उनकी मानसिक थकान दूर होती है। वह कविता भी सुनते और पढ़ते हैं। राजनीति, भाषा और अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं पर भी वह विचार करते हैं। उनके इन विषयों के विचारों से यह पता चलता है कि वह एक सरस और जागरूक वैज्ञानिक हैं। अपनी प्रयोगशाला में अपना समय बिताते हुए भी वह संसार की गति-विधि पर ध्यान रखते हैं और उसके संबन्ध में अपने विचार प्रकट करते रहते हैं।

डा० रमण ने अपने अबतक के जीवन में अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय के बल पर बहुत यश अर्जित किया है। वह फ्रीवर्ग के पी० एच-डी०, ग्लास्गो के एल-एल० डी० और पेरिस के डी० एस-सी० हैं। फलाडलफिया (अमरीका) की फ्रेंकलिन इंस्टीट्यूट ने उन्हें 'फ्रेंकलिन-पदक' देकर उनका सम्मान (सन् १६४१ ई०) किया है। इंग्लैण्ड की 'रायल सुसाइटी' के वह 'फेलो' हैं। इन उपाधियों और सम्मानों के अतिरिक्त वह इंण्डियन अकेडमी आफ सांइसेज़ के अध्यक्ष (सन् १६३४ ई०) और भौतिक विज्ञान के नेशनल रिसर्च-प्रोफेसर (सन् १६४६ ई०) रह चुके हैं। सन् १६४७ ई० में उन्हें अन्तरराष्ट्रीय लेनिन-पुरस्कार भी मिला है। 'रमण-एफेक्ट' पर तत्कालीन विदेशी सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि देकर और सन् १६५४ ई० में भारत की राष्ट्रीय सरकार

ने उन्हें 'भारत-रत्न' की उपाधि देकर उनका सम्मान किया है। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में विश्व-विख्यात सम्मान अर्जित किया है।

विज्ञान के क्षेत्र में आचार्य रमण के 'रमण एफेक्ट' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके इस आविष्कार पर ही पूरा 'अणु-विज्ञान' आधारित है और उसी ने पश्चिम के वैज्ञानिकों को इस संबंध में विचार की एक नई दिशा दी है। आधुनिक विज्ञान को यह उनकी मौलिक देन है। उनके इस अनुसंधान ने ही उन्हें 'रत्नों' और 'हीरों' के निर्माण की प्रेरणा दी है। कहते हैं—एक बार कुछ पत्रकार उनकी प्रयोग-शाला में गये। आचार्य रमण ने एक प्रस्तर-खंड-जैसा पदार्थ उठा लिया। इसके बाद उन्होंने 'अल्ट्रा वायलर' किरणों के शार्ट और लाँग धाराओं (वेव) से उसे परिष्कृत और संस्कृत किया। कुछ ही मिनटों में वह प्रस्तर-खण्ड चमकने लगा। यह देखकर पत्रकार आश्चर्य-चकित हो गये।

आचार्य रमण संतोषी, त्यागी, उदार, संयमी और उल्लास-प्रिय है। प्रयोग-शाला उनका साधना-स्थल और घर उनका उल्लास-केन्द्र है। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। उनका रहन-सहन बहुत भड़कीला नहीं है। उनका भोजन सात्विक होता है। गंभीर होने के साथ-साथ वह अत्यन्त विनोद-प्रिय भी हैं। एक बार वह फ्राँस की एक पार्टी में सम्मिलित हुए। वहाँ उन्होंने 'रमण एफेक्ट' पर भाषण दिया। भाषण के बाद पार्टी आरंभ हुई। पेय-पदार्थों में मदिरा के प्याले रखे गये। आचार्य रमण के सामने भी मदिरा का प्याला रखा गया। आचार्य रमण ने मुस्कराते हुए कहा—"आप लोगों को शराब पर 'रमण-प्रभाव' अभी बता चुका हूँ। अब आप रमण पर शराब का प्रभाव देखना चाहते हैं।" उनका यह व्यंग्य शराब पर था। इसी प्रकार का एक व्यंग्य उन्होंने लावे नामक जर्मन-वैज्ञानिक पर किया था। लावे के आविष्कार को 'लावे-चित्र' कहते हैं। एक बार श्री लावे नंगे होकर समुद्र-तट का आनन्द ले रहे थे। उसी समय कुछ लोगों के साथ आचार्य रमण भी उस स्थान पर पहुँच गये। और लोग लावे की उसी मुद्रा का चित्र उतारने लगे। आचार्य रमण उस समय अपने आपको न रोक सके। उन्होंने कहा—"यही वास्तविक 'लावे-चित्र' होगा।" उनका इतना कहना था कि पूरी मंडली ठहाका मारकर हँस पड़ी।

आचार्य रमण एक सुलझे हुए लेखक भी हैं। विज्ञान की अत्यन्त जटिल बातों

को वह सरल भाषा और आकर्षक शैली में व्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। उनके लेख भारत, इंग्लैण्ड और अमरीका के विज्ञान-संबंधी पत्रों में बराबर प्रकाशित होते रहते हैं। गायन के यंत्रों पर भी उन्होंने एक पुस्तक की रचना की है। इससे उनकी संगीत-प्रियता का आभास मिलता है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। वह भारत के गौरव और माँ-भारती के सच्चे सपूत हैं।

●●

संत विनोबा भावे

'तुम्हारा विनोबा मेरे पास है। इस छोटी-सी उम्र में ही तुम्हारे पुत्र ने जो तेजस्विता और वैराग्य प्राप्त कर लिया है उसे प्राप्त करने में मुझे कितने ही वर्ष लग गये थे।'—ये शब्द महात्मा गांधी ने बड़ौदा के श्री नरहरि भावे को उस समय लिखे थे जब विनोबा भावे अपने घर की मोह-ममता त्यागकर महात्मा गांधी के साथ साबरमती आश्रम में रहते थे। उस समय उनकी अवस्था २०-२१ वर्ष की थी। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही उन्होंने जन-सेवा का व्रत ले लिया था और वह धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। ४ फरवरी, सन् १९१६ ई० को उन्होंने काशी-विश्वविद्यालय में महात्मा गांधी का प्रवचन सुना। उस प्रवचन से वह इतने अधिक प्रभावित हुए कि फिर वह उन्हीं के हो गये। गांधीजी पारस थे। उन्होंने विनोबा के जीवन को सेवा और त्याग के एक नये साँचे में ढाल कर सोना बना दिया। आज के विनोबा गांधीजी की ही देन हैं।

संत विनोबा भावे महाराष्ट्र के निवासी हैं। उनके पूर्वज रत्नागिरि जनपद के निवासी थे। वे अपने गाँव से लिम्ब आये और वहाँ से बाई गये। विनोबाजी के दादा श्री शंभुराव भावे इसी बाई ग्राम में रहते थे। कभी-कभी वह गगोडा (बम्बई प्रदेश के अन्तर्गत कोलाबा का एक गाँव) भी चले जाते थे। उनका परिवार गगोडा में ही रहता था। उनके तीन पुत्र थे : नरहरि भावे, गोपालराव भावे और गोविन्दराव भावे। इनमें नरहरि भावे सबसे बड़े थे। उनकी धर्मशीला पत्नी का नाम रुक्मिणी देवी था। इन्हीं रुक्मिणी देवी की पवित्र कोख से ११ सितम्बर, सन् १८९५ ई० को एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम विनायक राव रखा गया। माँ उन्हें 'विन्या' और पिता उन्हें 'बनू' कहकर पुकारते थे। यही 'विन्या' और 'बनू' के विनायक राव आज के संत विनोबा भावे हैं।

विनोबाजी का अधिकांश बचपन श्री शंभुराव भावे की देख-रेख में बीता था। श्री शभुराव भावे धार्मिक और भक्त थे। उनका अधिक समय भजन-पूजन में ही बीतता था। विनोबाजी के बाल-हृदय पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। विनोबाजी ने उनके बारे में लिखा है—"आधी रात के समय भगवान् के दर्शन के लिए जगाकर उन्होंने मेरे मन पर जो संस्कार डाला, उसे मैं भूल नहीं सकता।" उस समय विनोबाजी के पिता श्री नरहरि भावे बड़ौदा में नौकरी करते थे। उन्हें प्रायः घर से बाहर रहना पड़ता था। इसलिए विनोबाजी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। उनकी माता अत्यन्त सात्विक प्रकृति की थीं। वह भी पूजा-पाठ में लगी रहती थीं। उन्होंने भी अपने दूध के साथ विनोबाजी के रक्त में ईश्वर-भक्ति, मानव-प्रेम और निष्काम-सेवा की प्रवृत्तियों का संचार किया। इससे विनोबाजी के प्रारम्भिक जीवन में एक साथ दो प्रवृत्तियों का विकास हुआ। एक ओर तो वह अध्ययन कीओर झुके और दूसरी ओर उनमें निष्काम-सेवा की भावना जाग्रत हुई। ८-९ वर्ष की अवस्था तक वह गगोडा में ही रहे। गगोडा में रहते हुए उन्होंने मराठी का ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद वह बड़ौदा चले गये।

बड़ौदा के एक विद्यालय में विनोबाजी ने छठी कक्षा तक पढ़ा। इस कक्षा की परीक्षा में वह सर्वप्रथम आये और उन्हें छात्रवृत्ति मिली। इसके बाद एक हाई स्कूल में उनका प्रवेश हुआ। इस स्कूल से सन् १९१३ ई० में उन्होंने मैट्रिक पास किया और फिर सन् १९१५ ई० में एफ० ए० पास कर बी० ए० की पढ़ाई आरम्भ की। लेकिन वह आगे न पढ़ सके। उस समय तक सारे देश में राष्ट्र-प्रेम और समाज-सेवा की भावनाओं का प्रचार हो चुका था और कई नवयुवक अपना घर-बार छोड़कर देश-सेवा के लिए निकल चुके थे। विनोबाजी का भी आरम्भ से यही लक्ष्य था। दादा शंभुराव भावे तथा माता रुक्मिणी देवी से उन्होंने सेवा, त्याग, देश-प्रेम, अध्यात्म आदि के जो भाव बीज रूप में प्राप्त किये थे वे बड़ौदा के विद्यार्थी-जीवन में उनमें अंकुरित हुए। स्वामी रामदास की 'दासबोध' नामक पुस्तक ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। उसी ग्रंथ से प्रेरणा पाकर उन्होंने १२ वर्ष की अल्पावस्था में आजीवन ब्रह्मचारी रहने का संकल्प किया। उसी समय से उन्होंने कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। वह चटाई पर सोने और नंगे पैर रहने लगे। 'ज्ञानेश्वरी', लोकमान्य-कृत 'गीता-

रहस्य' और मोरोपंत-कृत 'आर्य भारत' के अध्ययन से भी उन्हें जन-सेवा की प्रेरणा मिली । इसलिए उन्होंने एक दिन अपनी माँ के सामने अपने प्रमाण-पत्रों को चूल्हे में स्वाहा कर दिया ।

शिक्षा समाप्तकर और अपना घर त्यागकर विनोवाजी गांधीजी के पास चले गये । उस समय गांधीजी कोचरब के आश्रम में रहते थे । इसके बाद उन्होंने साबरमती में एक आश्रम खोला । विनोवाजी इसी आश्रम में रहते थे । गाँधीजी उन्हें 'विनोबा' कहते थे । इसलिए उनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया । वह लगभग एक वर्ष तक इस आश्रम में गांधीजी के साथ रहे । इस बीच उन्होंने अपने जीवन को आश्रम-जीवन के साँचे में ढाल लिया । वह बड़े परिश्रमी थे । अपना सारा काम अपने हाथ से करते थे । इसके साथ ही वह अध्ययन भी करते थे । इस समय तक उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान नहीं था । इसलिए वह गांधीजी से एक वर्ष की छुट्टी लेकर संस्कृत पढ़ने के लिए वाराणसी चले गये । वहाँ से ठीक एक वर्ष बाद सन् १६१८ ई० में वह आश्रम लौट आये ।

विनोबाजी का आश्रम-जीवन कठोर परिश्रम का जीवन था । वह दिन-भर और कभी-कभी सारी रात काम में जुटे रहते थे । रसोई से लेकर टट्टी साफ करने तक कोई काम उनसे छूटता नहीं था । चौबीस घंटे बराबर उन्हें काम की धुन सवार रहती थी । वह कम-से-कम बोलते और अधिक-से-अधिक काम करते थे । इसी बीच उन्हें अपनी मां की बीमारी का समाचार मिला । गांधीजी से आज्ञा लेकर वह तुरन्त घर चले गये । माँ रोग-शैया पर पड़ी अंतिम साँसें ले रही थीं । विनोबाजी ने घर रहकर दो-तीन दिन तक दिन-रात माँ की सेवा की । लेकिन माँ बच नहीं सकीं । सन् १६२० ई० में उनका स्वर्गवास हो गया । उनकी मृत्यु के बाद विनोबाजी का घर के साथ रहा-सहा नाता भी टूट गया । तीन-चार दिन तक घर पर रहकर वह आश्रम लौट आये । आश्रम में उनका कार्य पूर्ववत् जारी रहा । आश्रम की सफाई आदि के अतिरिक्त वह छात्रावास की भी देख-भाल करते थे और समय निकालकर छात्रों को पढ़ाते भी थे । उनके इस सेवा-भाव से गांधीजी बहुत प्रभावित थे ।

साबरमती-आश्रम में श्रेयार्थी जमनालाल प्रायः आया करते थे । वह आश्रम-जीवन से बहुत प्रभावित थे और वैसा ही एक आश्रम वर्धा में स्थापित करना

चाहते थे। उन्होंने गांधीजी से इसके लिए प्रार्थना की, लेकिन वह राजी नहीं हुए। अन्त में वह गांधीजी की अनुमति से विनोबाजी को वर्धा ले गये। वर्धा जाकर विनोबाजी ने सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना की। साबरमती में विनोबाजी की दृष्टि मुख्यतः अपने ऊपर थी। वहाँ वह अपनी साधना में मग्न रहते थे। वर्धा में उन्हें स्वयं आश्रम की देख-भाल करनी थी। उन्हीं पर आश्रम की संपूर्ण व्यवस्था का दायित्व था। इस दायित्व का निर्वाह उन्होंने इतनी उत्तमता से किया कि कुछ दिनों बाद गांधीजी भी वहीं आकर रहने लगे।

वर्धा के आश्रम में रहते हुए विनोबाजी ने अपनी शक्ति का स्वतंत्र रूप से विकास किया। उन्होंने कई वर्ष तक महिला-आश्रम का काम संभाला। इसके बाद वर्धा के निकट नालवाड़ी गाँव को उन्होंने कताई-बुनाई का केन्द्र बनाया। उन्होंने वहाँ स्वयं कताई-बुनाई की और थोड़े दिनों के अभ्यास से वह बहुत उत्तम सूत कातने लगे। उनका सूत देखकर गांधीजी उनकी बड़ी प्रशंसा करते थे। उनके-जैसा अच्छा सूत कोई कात नहीं पाता था। कताई-बुनाई के कार्य में अधिक परिश्रम करने के कारण वह वहीं बीमार हो गये। जब वह अच्छे हुए तब उन्होंने नालवाड़ी के निकट ही पौनार नामक गाँव में अपना परमधाम-आश्रम बनाया। गाँव के निकट पौनार नदी के किनारे सेठ जमनालाल की एक कुटिया में विनोबा-जी रहने लगे।

विनोबाजी बड़े उत्साही कार्यकर्ता थे। वह अपने आप को देश का एक सेवक समझते थे। वर्धा से ही वह लोक-जीवन के संपर्क में आये। गाँधीजी के संपर्क में आने पर सन् १९१६ ई० से उन्होंने जो व्यक्तिगत साधना आरम्भ की थी, वर्धा में उनकी वह व्यक्तिगत साधना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। उन्होंने रचनात्मक कार्यों के साथ-साथ सत्याग्रह-आन्दोलनों में भी भाग लेना आरम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने १३ अप्रैल, सन् १९२३ ई० को नागपुर झंडा-सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया। वह पकड़े गये और जेल में बन्द कर दिये गये। यह उनकी पहली जेल-यात्रा थी। उनकी तथा अन्य नेताओं की गिरफ्तारी से आन्दोलन और भी बढ़ा। अन्त में विवश होकर सरकार ने अपना प्रतिबंध हटा लिया और सत्याग्रहियों को मुक्त कर दिया। विनोबाजी भी छूट गये।

जेल से छूटने के बाद विनोबाजी पुनः आश्रम के रचनात्मक कार्यों में लग

गये। इसी बीच उन्हें हरिजन-आन्दोलन को सफल बनाने के लिए केरल जाना पड़ा। केरल में हरिजनों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार होता था। हरिजन न तो कुओं से पानी भर सकते थे और न सार्वजनिक मंदिरों में ही जा सकते थे। इस अन्याय के विरुद्ध वहाँ आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। विनोबाजी ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया और उन्हें पूरी सफलता मिली। उनके प्रयत्न से हरिजनों पर लगाये गये सभी प्रतिबंध उठा लिये गये। हरिजनों को सार्वजनिक कुओं से पानी भरने की सुविधा प्राप्त हो गयी और मन्दिरों के द्वार उनके लिए खुल गये। इस प्रकार केरल के हरिजन-आन्दोलन में सफलता प्राप्त कर विनोबाजी वर्धा लौट आये। उनके वर्धा जाने के कुछ दिनों बाद ही गांधीजी ने दिल्ली में २१ दिन का उपवास आरम्भ किया। उनका यह उपवास हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए था। उन्होंने विनोबाजी को बुलाया। विनोबाजी दिल्ली गये। उपवास के दिनों में वह गांधीजी की सेवा करते रहे। वह गांधीजी को गीता और उपनिषद् सुनाते थे। उपवास समाप्त होने पर वह वर्धा लौट गये।

सन् १९३० ई० में नमक-सत्याग्रह आरम्भ हुआ। इस नमक-सत्याग्रह में विनोबाजी ने भी भाग लिया। उन्होंने नमक-कानून तोड़ा और ताड़ के पेड़ काटे। सारे देश में इसी तरह का प्रदर्शन हुआ। सरकार ने दमन-चक्र से काम लिया, लेकिन जनता नहीं झुकी। अन्त में विवश होकर सरकार को गांधीजी के साथ समझौता (सन् १९३१ ई०) करना पड़ा। यह समझौता 'गांधी-इरविन समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार गांधीजी द्वितीय 'गोल मेज़ परिषद्' में भाग लेने के लिए लन्दन गये। सरकार ने उनकी अनुपस्थिति में दमन-चक्र जारी रखा। इससे आन्दोलन बढ़ता गया। गांधीजी को भी साम्प्रदायिक मामले के झगड़ों के कारण सफलता नहीं मिली। भारत लौटकर उन्होंने पुनः सत्याग्रह-आन्दोलन (सन् १९३२ ई०) छेड़ा। इस आन्दोलन में विनोबाजी ने भी भाग लिया। धूलिया में उनका महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। इसके बाद वह जलगाँव गये, किन्तु वहाँ वह भाषण देने के पूर्व ही गिरफ्तार हो गये। सरकार ने उन्हें धूलिया-जेल में रखा। इस जेल में उनके साथ सेठ जमनालाल बजाज और सानेगुरुजी भी थे। अपने साथियों के अनुरोध पर उन्होंने २१ फरवरी, सन् १९३२ ई० से ११ जून, सन् १९३२ ई० तक गीता के प्रत्येक अध्याय पर प्रवचन

दिये। वह प्रति सप्ताह एक दिन प्रवचन देते थे। सानेगुरुजी ने उन प्रवचनों को लिपिबद्ध कर लिया और उसे पुस्तक का रूप दे दिया। विनोबाजी की यह रचना 'गीता-प्रवचन' बहुत लोक-प्रिय हुई। कई भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ।

धूलिया-जेल से मुक्त होकर विनोबाजी ने गाँवों की सेवा करने का भार अपने ऊपर लिया। कई गाँवों का उन्होंने दौरा किया और वहाँ के लोगों को उन्होंने सफाई से रहने, सूत कातने तथा स्वावलंबी बनने का उपदेश दिया। इस कार्य में उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ा। इससे वह बीमार (सन् १९३८ ई०) हो गये। उनकी बीमारी से सबको बड़ी चिन्ता हुई। उनकी सलाह से विनोबाजी अपने परमधाम पौनार चले गये। वहाँ उन्होंने कुछ दिनों तक विश्राम किया। इससे उनका स्वास्थ्य सुधर गया। इसलिए वह फिर रचनात्मक कार्यों में जुट गये। ग्राम-सुधार, स्त्रियों की उन्नति, ग्रामोद्योग, खादी-प्रचार, हरिजन-उत्थान, हिन्दू-मुस्लिम एकता, प्रौढ़-शिक्षा—आदि में उन्होंने काफी दिलचस्पी ली।

इस बीच सन् १९३९ ई० में यूरोप में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ। उस समय लगभग सभी प्रान्तों में काँग्रेस मन्त्रिमडण्ल थे। युद्ध आरम्भ होते ही इन मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। सरकार युद्ध में विजयी होने के लिए देश से हर तरह की सहायता चाहती थी। देश इसके लिए तैयार नहीं था। सच पूछिए तो युद्ध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी आधार पर गांधीजी ने अँग्रेजों की सहायता करने से इन्कार कर दिया और व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया। इस सत्याग्रह के पहले सत्याग्रही विनोबाजी थे। १९ अक्टूबर, सन् १९४० ई० को उन्होंने पौनार में भाषण दिया, परन्तु उस दिन सरकार ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। पौनार में लगातार तीन-चार दिन तक उनके भाषण हुए। अन्त में वह पकड़ लिये गये। उन्हें तीन महीने की सजा दी गयी। जेल से मुक्त होने पर उन्होंने फिर सत्याग्रह किया और वह फिर जेल गये। इसी अपराध में उन्हें तीसरी बार भी जेल जाना पड़ा। इसके बाद सन् १९४२ के अगस्त-आन्दोलन में वह फिर ९ अगस्त को पकड़ लिये गये और सन् १९४५ में जेल से छूटे।

सन् १९४५ ई० में जेल से मुक्त होने पर विनोबाजी पौनार के अपने परमधाम आश्रम में चले गये। इस बार अन्य रचनात्मक कार्यों के साथ-साथ उन्होंने भंगी का भी काम किया। वह प्रतिदिन पाँच बजे प्रातःकाल पौनार से चार मील दूर

सुरगाँव नामक गाँव में जाते थे और वहाँ के पाखाने-पेशाब और नाली आदि साफ करते थे। आठ बजे तक यह कार्य समाप्तकर वह पौनार लौट आते थे। उनका यह सेवा-कार्य चल ही रहा था कि इसी बीच १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० को देश स्वतन्त्र हुआ, किंतु इसके साथ ही एक महा दुखद घटना भी हो गयी। ३० जनवरी, सन् १९४८ ई० का महात्मा गांधी हमारे बीच से उठ गये। गांधीजी के असामयिक निधन से रचनात्मक कार्यों को बड़ा ठेस लगी। देश के बड़े-बड़े नेता कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों में थे। ऐसी स्थिति में विनोबाजी ने गांधीजी के अधूरे रचनात्मक कार्यों को संपन्न करने का गुरुतर भार स्वेच्छा से अपने कंधों पर लिया।

विनोबाजी सर्वप्रथम दिल्ली गये। दिल्ली में उन्होंने शरणार्थी-कैम्पों का दौरा किया। उन्होंने शरणार्थियों को ढाढ़स बँधाया और उन्हें मिल-जुलकर रहने का उपदेश दिया। इसके बाद उन्होंने मेवातियों की समस्या हल की। मेवाती हिन्दू से मुसलमान हो गये थे। भारत-विभाजन के बाद वे पाकिस्तान गये, लेकिन पाकिस्तान की सरकार ने उन्हें स्थान नहीं दिया। इसलिए वे भारत लौट आये। वे भरतपुर के आस-पास रहते थे और वहीं खेतीबारी करते थे। वहाँ के हिन्दू उन्हें रखना नहीं चाहते थे। ऐसी दशा में भयंकर झगड़ा होने की आशंका थी। विनोबाजी अपनी 'शांति-यात्रा' पर निकल पड़े। उन्होंने मेवातियों के प्रतिनिधियों से बातें कीं और राष्ट्रीय सरकार से परामर्श किया। उनके इस प्रयत्न से मेवातियों को उनकी भूमि लौटा दी गयी और वे फिर वहीं आबाद हो गये। इस प्रकार मेवातियों की समस्या को सुलझाकर वह बीकानेर गये। बीकानेर में उन्होंने हरिजनों के बीच बहुत काम किया। उन्हीं के उद्योग से हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार मिला।

बीकानेर में अपना काम पूराकर विनोबाजी अजमेर गये। वहाँ उर्स का मेला था। दूर-दूर से बहुत से मुसलमान आये थे। ऐसी स्थिति में वहाँ दंगा होने की संभावना थी। विनोबाजी वहाँ सात दिन तक टिके रहे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों की सभाओं में भाषण दिये। दरगाह शरीफ में भी उनका भाषण हुआ। वहाँ उन्होंने 'रामधुन' का कीर्तन किया। इससे वहाँ साम्प्रदायिक दंगा होने की आशंका निर्मूल हो गयी। दरगाह के दीवान ने 'सरोपा' भेंट किया और उनका बहुत सम्मान किया।

अजमेर से विनोबाजी अपने परमधाम आश्रम चले गये। वहाँ उन्होंने खेती

करना आरम्भ किया। वह आठ-आठ दस-दस घण्टे कुदाली और हल चलाते थे। उनके परिश्रम और लगन से थोड़े ही दिनों में खेती का काम जोरों से चल निकला। उनके साथ अन्य लोग भी काम करने लगे। इन्हीं दिनों उन्हें हैदराबाद जाना पड़ा। हैदराबाद से चार मील दूर शिवराम्पल्ली नामक एक गाँव था। इस गाँव में 'सर्वोदय-समाज' का मेला (सन् १९५१ ई०) था। 'सर्वोदय-समाज'की स्थापना विनोबाजी ने ही की थी। इसलिए इस समाज के कार्यकर्त्ताओं ने विनोबाजी से मेले में चलने के लिए आग्रह किया। विनोबाजी राजी हो गये। लेकिन उन्होंने वहाँ किसी सवारी से जाना पसन्द नहीं किया। मेला ८ अप्रैल को होनेवाला था। विनोबाजी ८ मार्च को अपने आश्रम से पद-यात्रा पर निकल पड़े और ३०० मील की दूरी तय करके वह ७ अप्रैल को शिवरामपल्ली पहुँचे। शिवरामपल्ली में जलसे का कार्यक्रम सफल कर वह १५ अप्रैल को तैलंगाना के लिए रवाना हो गये।

तैलंगाना हैदराबाद राज्य का पूर्वी भाग है। यहाँ निर्धन किसान रहते हैं। इसी क्षेत्र में पोचमपल्ली नाम का एक गाँव है। इस गाँव में १८ अप्रैल को विनोबाजी पधारे। उन्होंने हरिजानों से भेंट की। हरिजन बहुत दुखी थे। उनके पास खेती के लिए जमीन नहीं थी। वहाँ दोपहर बाद गाँववालों की सभा हुई। इस सभा में बिनोबाजी ने जमीन की बात छेड़ी। उनकी बात से प्रभावित होकर एक सज्जन ने सौ एकड़ भूमि दान की। इसी भूमि-दान से भू-दान-आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस प्रकार भू-दान के इतिहास में पोचमपल्ली का नाम अमर हो गया। पोचमपल्ली से विनोबाजी जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ उन्होंने भू-दान के लिए जनता से जोरदार अपील की और अपनी पद यात्रा के चालीस दिनों में उन्नोंने १२ हजार एकड़ भूमि प्राप्त करली। इससे उत्साहित होकर उन्होंने सारे देश का दौरा किया और भूमि-हीनों के लिए भूमि की व्यवस्था की। वह अब भी अपने इसी कार्य-में लगे हुए हैं। भू-दान, संपत्ति-दान, ग्राम-दान, श्रम-दान, शान्ति-सेना आदि की क्रान्तिकारी योजनाएँ कर जहाँ उन्होंने दान की प्राचीन परंपरा को एक नवीन रूप दिया है वहाँ उन्होंने एक नये समाज की बुनियाद भी डाली है। यही उनका सर्वोदय है।

विनोबाजी निष्काम-कर्मी हैं। दरिद्र नारायण की सेवा ही उनके जीवन का लक्ष्य है। वह आत्मा के साधक और जीवन की उदात्त प्रत्तियों के उपासक हैं।

घृणा और द्वेष से वह कोसों दूर रहते हैं। उनमें न तो पद का लोभ है और न मान-मर्य्यादा की भूख। जात-पाँत, प्रान्तीयता, धर्म आदि के संकुचित घेरों से वह बहुत ऊँचे उठे हुए हैं। उनका रहन-सहन अत्यन्त साधारण है। बाह्यडंबर में उनका विश्वास नहीं है। 'सरल जीवन और उच्च विचार' के वह सुन्दर उदाहरण है। स्वभाव से वह चिन्तक और जीवन के मौन साधक हैं। हिन्दी, उर्दू, फारसी, अरबी, तेलुगु, मराठी, कन्नड़, गुजराती, बंगला, मलयालम, अँग्रेजी, संस्कृत, फ्रेंच आदि अनेक भाषाओं के वह पंडित हैं। फिर भी उनमें न तो अपनी सेवा का अभिमान है और न अपनी विद्वत्ता का। वह सही अर्थ में भारत के संत हैं। डाकुओं तक को उन्होंने अपनी अहिंसा-वृत्ति से पवित्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है।

आचार्य विनोबा भावे मौलिक चिन्तक, प्रौढ़ लेखक और मधुर वक्ता हैं। उन्होंने धर्मशास्त्र की प्राचीन मान्यताओं की वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप एक नई व्याख्या की है और इस प्रकार उन्हे व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। उनका अधिकांश साहित्य रचनात्मक साहित्य है। वह जीवन में कर्म के उपासक हैं। इसलिए उन्होने अपने साहित्य में सदाचार पर ही बल दिया है। उनका साहित्य मराठी और हिन्दी में मिलता है। हिन्दी में 'ईशावास्यवृत्ति', 'ईशावास्योपनिषद्,' 'गांधीजी को श्रद्धांजलि', 'गीता-प्रवचन', 'जमाने की माँग', 'जीवन और शिक्षण', 'धर्मचक्र-प्रवर्तन', 'भूदान-यज्ञ', 'राजघाट की सान्निधि में', 'विचार-पोथी', 'विनाबा के विचार', 'शांति-यात्रा', 'स्थित-प्रज्ञय-दर्शन', 'स्वराज्य-शास्त्र', 'सर्वोदय का घोषणा-पत्र', 'सर्वोदय की ओर' आदि उनकी रचनाएँ हैं जिनमें उनके प्रवचन संगृहीत हैं। इन प्रवचनों के अध्ययन से विनोबाजी के गहन चिन्तन और उनके जीवन-दर्शन का पता चलता है।

करना आरम्भ किया। वह आठ-आठ दस-दस घण्टे कुदाली और हल चलाते थे। उनके परिश्रम और लगन से थोड़े ही दिनों में खेती का काम जोरों से चल निकला। उनके साथ अन्य लोग भी काम करने लगे। इन्हीं दिनों उन्हें हैदराबाद जाना पड़ा। हैदराबाद से चार मील दूर शिवरामपल्ली नामक एक गाँव था। इस गाँव में 'सर्वोदय-समाज' का मेला (सन् १९५१ ई०) था। 'सर्वोदय-समाज'की स्थापना विनोबाजी ने ही की थी। इसलिए इस समाज के कार्यकर्त्ताओं ने विनोबाजी से मेले में चलने के लिए आग्रह किया। विनोबाजी राजी हो गये। लेकिन उन्होंने वहाँ किसी सवारी से जाना पसन्द नहीं किया। मेला ८ अप्रैल को होनेवाला था। विनोबाजी ८ मार्च को अपने आश्रम से पद-यात्रा पर निकल पड़े और ३०० मील की दूरी तय करके वह ७ अप्रैल को शिवरामपल्ली पहुँचे। शिवरामपल्ली में जलसे का कार्यक्रम सफल कर वह १५ अप्रैल को तैलंगाना के लिए रवाना हो गये।

तैलंगाना हैदराबाद राज्य का पूर्वी भाग है। यहाँ [illegible] हैं। इसी क्षेत्र में पोचमपल्ली नाम का एक गाँव है। इस गाँव में १८ अप्रैल को विनोबाजी पधारे। उन्होंने हरिजानों से भेंट की। हरिजन बहुत दुखी थे। उनके पास खेती के लिए जमीन नहीं थी। वहाँ दोपहर बाद गाँववालों की सभा हुई। इस सभा में बिनोबाजी ने जमीन की बात छेड़ी। उनकी बात से प्रभावित होकर एक सज्जन ने सौ एकड़ भूमि दान की। इसी भूमि-दान से भू-दान-आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस प्रकार भू-दान के इतिहास में पोचमपल्ली का नाम अमर हो गया। पोचमपल्ली से विनोबाजो जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ उन्होंने भू-दान के लिए जनता से जोरदार अपील को और अपनी पद यात्रा के चालीस दिनों में उन्नोंने १२ हजार एकड़ भूमि प्राप्त करली। इससे उत्साहित होकर उन्होंने सारे देश का दौरा किया और भूमि-हीनों के लिए भूमि की व्यवस्था की। वह अब भी अपने इसी कार्य-में लगे हुए हैं। भू-दान, संपत्ति-दान, ग्राम-दान, श्रम-दान, शान्ति-सेना आदि की क्रान्तिकारी योजनाएँ कर जहाँ उन्होंने दान की प्राचीन परंपरा को एक नवीन रूप दिया है वहाँ उन्होंने एक नये समाज की बुनियाद भी डाली है। यही उनका सर्वोदय है।

विनोबाजी निष्काम-कर्मी हैं। दरिद्र नारायण की सेवा ही उनके जीवन का लक्ष्य है। वह आत्मा के साधक और जीवन की उदात्त प्रत्तियों के उपासक हैं।

के० एस० कृष्णन्

कुछ महान हस्तियाँ ऐसी होती हैं जो जनता की आँख बचाकर अपनी साधना में लीन रहती हैं। उन्हें न तो अपने आदर-सम्मान की चिन्ता होती है और न अपने

श्रम का पुरस्कार पाने की फिक्र होती है। अपनी साधना की सफलता को ही वे सब से बड़ा पुरस्कार और सत्कार समझते हैं। उनकी साधना सार्वजनिक कल्याण के लिए होती है और वे उसके द्वारा समाज और देश का मस्तक ऊँचा करते हैं। डा० के० एस० कृष्णन् की गणना ऐसी ही महान हस्तियों में की जाती है।

डा० कृष्णन् हमारे देश के मूर्द्धन्य वैज्ञानिक थे। आज देश में वैज्ञानिक प्रगति का जो वातावरण बना हुआ है उसे उत्पन्न करने और उसे गति देने में उन्हीं का हाथ था। वैज्ञानिक आधार पर राष्ट्र का निर्माण करने वाले वह पहले व्यक्ति थे। अपने जीवन-काल में उन्होंने अनेक तरुण वैज्ञानिकों को आगे बढ़ाया और उनका मार्ग प्रशस्त किया। सबसे बड़ी खूबी उनमें यह थी कि वह अपनी मातृ-भाषा के पुजारी थे। तमिल उनकी मातृ-भाषा थी और वह उसी भाषा में अपने अनुसंधान लिखा करते थे। वह अपने मित्रों से कहा करते थे कि सरल-सुबोध ढँग की सारगर्भित अभिव्यक्तियाँ ही भाषा को सजीव बनाती हैं, न कि पारिभाषिक शब्दों के विशाल कोश। अपनी इस भावना को वह तमिल के माध्यम से मूर्त-रूप देकर यह जतलाना चाहते थे कि किस प्रकार भारतीय भाषाएँ नवीनतम विचार-धाराओं को अभिव्यक्त कर सकने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं। ऐसा था उनका मातृ-भाषा-प्रेम! वह उन तरुण वैज्ञानिकों से बहुत प्रसन्न होते थे जो अपने अनुसंधान अपनी मातृ-भाषा में लिखते थे।

डा० कृष्णन् एक शुष्क वैज्ञानिक नहीं थे। उनके व्यक्तित्त्व में धर्म, साहित्य, संगीत और कला का आश्चर्यजनक समन्वय था। प्राचीन ग्रन्थों के प्रति उनका

बचपन से ही अनुराग था। उन्होंने स्वयं लिखा हैं कि उपनिषद, वाल्मीकि, व्यास, तमिल के कुरल, वैष्णवों के गीत और कम्ब-रामायण कई वर्षों तक मेरे जीवन के अंग रहे हैं। नम्बीले तथा पेरिय वाच्चानपिल्ले की तमिल-रचनाओं से जितना रस मैंने प्राप्त किया है उतना शायद और किसी साहित्य से मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसी थी उनकी धर्म-भावना और ऐसा था उनका साहित्य-प्रेम ! वह प्रतिदिन मुकुन्दमाला के श्लोक और रामायण के प्रसंग सुनाकर लोगों को मंत्र-मुग्ध कर दिया करते थे।

डा० कृष्णन् का पूरा नाम करियमाणिकम् श्रीनिवास कृष्णन् है। उनका जन्म मद्रास-राज्य के रामनाड जनपद के अन्तर्गत श्रीविल्लिपुत्तूर के निकट स्थित वत्राप नामक गाँव में ४ दिसम्बर, सन् १८९८ ई० को हुआ था। उनके पिता तमिल और संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। इसलिए उनके पिता ने उनकी शिक्षा पर पूरा ध्यान रखा। उनकी प्रारंभिक शिक्षा वत्राप में ही संपन्न हुई। इसके बाद वह श्रीविल्लिपुत्तूर के हिन्दू हाई स्कूल में भर्ती हुए। इस विद्यालय की पढ़ाई समाप्त करने के बाद वह मदुरा के अमेरिकन कालेज में प्रविष्ट हुए। अन्त में मद्रास के क्रिश्चियन कालेज से उन्होंने भौतिकी में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसी कालेज में उन्होंने कुछ वर्षों तक विज्ञान-प्रदर्शक (डिमॉंस्ट्रेटर के पद पर कार्य किया। अध्यापन-कार्य में उनकी इतनी रुचि थी कि वह लंच (मध्याह्न का भोजन) के समय भी निकट के कालिजों के छात्रों को पढ़ाया करते थे। गणित, भौतिकी और रसायन के किसी भी प्रश्न का उत्तर वह बड़ी आसानी से दे देते थे।

डा० कृष्णन् का भौतिकी के प्रति विशेष अनुराग था और इसके अध्ययन में वह बराबर जुटे रहते थे। इस विषय में वह एम० एस-सी० पास करना चाहते थे। इसी विचार से वह प्रो० रमण के पास कलकत्ता गये। उस समय प्रो० रमण प्रकाश और एक्सरे के क्षेत्रों में अनुसंधान कर रहे थे। इस कार्य में उन्हें एक सहयोगी की आवश्यकता थी। श्रीकृष्णन् की कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्होंने उन्हें अपने अनुसंधान-कार्य में अपना सहयोगी बना लिया। श्रीकृष्णन् ने प्रो० रमण को उनके अनुसंधान-कार्य में सन् १९२३ ई० से सन् १९२८ ई० तक सराहनीय सहयोग दिया। भविष्य में होनेवाले आविष्कार 'रमण-प्रभाव'

की आधार-शिला उन्हीं के सहयोग-काल में रखी गयी थी।

सन् १९२८ ई० तक श्री कृष्णन् एक कुशल वैज्ञानिक के रूप में प्रसिद्ध हो गये। प्रो० रमण के साथ पाँच वर्ष तक लगातार कार्य करने से उनका अनुभव-क्षेत्र बढ़ गया और फिर वह उसी वर्ष ढाका-विश्वविद्यालय में विज्ञान के 'रीडर' हो गये। इस पद पर उन्होंने सन् १९२८ ई० से सन् १९३३ ई० तक कार्य किया। इन पाँच वर्षों में उन्होंने कई शोध-निबंध प्रकाशित कराये। सन् १९३३ ई० में डा० रमण के कलकत्ता-विश्वविद्यालय छोड़ देने पर वह फिर कलकत्ता-विश्वविद्यालय चले गये और महेन्द्रलाल सरकार रिसर्च-प्रोफेसर के पद पर कार्य करते रहे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर लार्ड रदरफोर्ड ने कैम्ब्रिज और सर विलियम ब्रेग ने उन्हें लन्दन आने के लिए आमंत्रित किया। इसलिए सन् १९३६ ई० में उन्होंने पहली बार विदेश-यात्रा की। अपनी इस यूरोप-यात्रा में उन्होंने अनेक वैज्ञानिक गोष्ठियों, सभाओं और बैठकों में भाग लिया और अपने विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यानों से सबको आश्चर्य-चकित कर दिया। सन् १९३७ ई० में लीज-विश्वविद्यालय ने उन्हें उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण 'विश्वविद्यालय-पदक' प्रदान किया। सन् १९४० ई० में वह रायल सुसाइटी के 'फेलो' चुने गये। १९४२ ई० में वह स्वदेश लौटे और प्रो० मेघनाद साहा के स्थान पर इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

श्री कृष्णन् ने सन् १९४२ ई० से सन् १९४७ ई० तक इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में कार्य किया। यहाँ उन्होंने प्रकाश, एक्सरे, इलोक्ट्रोनिक्स और ताप-गति विज्ञान का गहरा और व्यापक अध्ययन किया। सन् १९४७ ई० में देश के स्वतंत्र होने पर जब दिल्ली में राष्ट्रीय भौतिकी-प्रयोगशाला की स्थापना हुई तब वह उसके निदेशक होकर दिल्ली चले गये। इस पद पर रहकर उन्होंने भौतिकी के एक अन्य क्षेत्र का अध्ययन आरंभ किया और वह था आयनों पर ताप का प्रभाव। इस प्रसंग में मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि धातुओं-द्वारा छोड़े जाने वाले ताप और उसके द्वारा छोड़े जानेवाले इलेक्ट्रोनों में परस्पर जो संबंध रहता है उसके ठीक-ठीक निश्चय की एक नवीन पद्धति डा० कृष्णन् ने निकाली और फिर कार्बन, क्रोमियम, लोहा, कोवाल्ट, निकल, टिटानियम आदि तथा सोना, चाँदी, और ताँबा पर परीक्षण कर इस पारस्परिक संबंध का शुद्धतम रूप में परिणाम

प्रस्तुत किया। उनके इस परिणाम का प्रयोग अनेक इलैक्ट्रानिक-यंत्रों में होने लगा। इससे व्यवसाय-क्षेत्र में बड़ी सुविधा हो गयी। व्यवसाय की दृष्टि से डा० कृष्णन् ने एक कार्य और किया। उन्होंने यह मालूम किया कि वायु-शून्य स्थिति में पतली छड़ों, नलियों और कुंडलियों में ताप का वितरण किस प्रकार होता। बिजली के लैम्पों, घरेलू हीटरों, बल्बों आदि से अच्छे-से-अच्छा परिणाम प्राप्त करने के लिए उनके इस अध्ययन से बड़ी सहायता मिली।

डा० कृष्णन् आधुनिक युग के व्यावहारिक वैज्ञानिक थे। अपने उपयोगी अनुसंधानों-द्वारा उन्होंने एक ओर भारतीय विज्ञान की आधार-शिला को सुदृढ़ किया और दूसरी ओर भारतीय उद्योगों को वैज्ञानिक ढंग से कार्य करने और उत्पादनों को आधुनिकतम बनाने में सराहनीय सहयोग प्रदान किया। उनकी इस वैज्ञानिक सेवा से देश-विदेश के सभी वर्गों के लोग प्रभावित हुए और उन्होंने उनका आभार स्वीकार किया। सन् १९४६ ई० में अँग्रेजी सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी। भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में उनकी ख्याति इतनी अधिक थी कि वह भारत की नेशनल अकादमी आफ साइंसेज़, इण्डियन साइंस काँग्रेस और नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंसेज़ के सभापति निर्वाचित हुए। वह यूनीवर्सिटी ग्रांट कमीशन और भारतीय परमाणु आयोग के भी प्रभावशाली सदस्य थे।

डा० कृष्णन् ने मद्रास-विश्वविद्यालय से डी० एस० सी० की उपाधि प्राप्त की थी और इलाहाबाद, दिल्ली, लखनऊ तथा कलकत्ता के विश्वविद्यालयों ने उन्हें डी० एस-सी० की सम्मानित उपाधि प्रदान की थी। काशी-विश्वविद्यालय के वह एल-एल० डी० थे। ऐसी उनकी योग्यता थी। उनकी योग्यता पर मुग्ध होकर देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों ने भाषण देने के लिए उन्हें आमंत्रित किया और उन्हें 'फेलो' बनाया। भारत-सरकार के प्रतिनिधि के रूप में अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं के अधिवेशनों में उन्होंने भाग लिया। सन् १९५५ ई० में अमरीका की विज्ञान-अकादमी ने अपने वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए उन्हें सादर आमंत्रित किया और सन् १९५६ ई० में वह इस राष्ट्रीय अकादमी के सदस्य मनोनीत हुए। सन् १९५५ ई० से वह अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष के लिए आयोजित अखिल भारतीय समिति के अध्यक्ष रहे।

भारत-सरकार ने भी डा० कृष्णन् के महत्व को कम नहीं आँका। उनकी

वैज्ञानिक प्रतिभा और विद्वत्ता का आदर करते हुए सन् १९५४ ई० में भारत-सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित किया और सन् १९५८ ई० में उन्हें राष्ट्रीय प्रोफेसर के रूप में निर्वाचित किया। इससे वह आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने अनुसंधान-कार्य में लगे रहे। २४ मार्च, सन् १९६१ ई० को उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए दस हजार रुपये का 'शान्तिस्वरूप भटनागर-पुरस्कार' प्रदान किया गया। एक वैज्ञानिक के रूप में उनका यह अंतिम सम्मान था। सन् १९५८ ई० में उन्हें पहली बार हृदय-रोग हुआ। इस रोग से उस समय वह बच गये। १३ जून, सन् १९६१ ई० की रात को दूसरी बार उन पर हृदय-रोग का आक्रमण हुआ। उस समय वह 'ब्रिज' खेल रहे थे। खेलते-खेलते छट-पटाने लगे। तुरन्त डाक्टर को बुलाने के लिए लोग दौड़ पड़े, परन्तु डाक्टर के आने के पूर्व ही उनका भौतिक शरीर निर्जीव हो गया। इस प्रकार भारत का एक महान वैज्ञानिक देखते-देखते हमसे विदा हो गया।

डा० कृष्णन् भारत की दिव्य विभूति थे। देश-विदेश की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं से संबद्ध होने के अतिरिक्त वह दिल्ली की अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं से भी संबद्ध थे। जितने महान वह वैज्ञानिक थे, उतने ही उच्च कोटि के वह साहित्यकार और कलाकार थे। उन्होंने भारतीय धार्मिक ग्रन्थों और विज्ञान की पुस्तकों का साथ-साथ अध्ययन किया था और वह दोनों को एक दूसरे पर आश्रित समझते थे। उनका जीवन अत्यन्त संयमित और परिश्रमशील था। एक तमिल-लेखक के रूप में वह गंभीर विषयों को सुबोध और सरल भाषा में प्रस्तुत करने के लिए प्रसिद्ध थे। 'दिल्ली-तमिल-संगम' के वह अध्यक्ष थे। उनकी धार्मिक भावना इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि वह '[illegible]-सिद्धान्त-[illegible]', दिल्ली के प्रधान और 'दिल्ली-भजन-समाज' के संस्थापक-अध्यक्ष थे। अपने विविध वैज्ञानिक अनुसंधानों में व्यस्त रहते हुए भी वह अपनी धर्म-भावना को संतुष्ट करते रहते थे। ऐसे धर्म-प्रिय वैज्ञानिक थे वह! मानव-जाति का कल्याण ऐसे ही विज्ञान-वेत्ताओं से हो सकता है। उनका भौतिक शरीर इस समय हमारे सामने नहीं है, लेकिन विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने जो आदर्श स्थापित किया है उसके कारण वह अमर हैं।

होमी जहाँगीर भाभा

६ अगस्त, १६४५ ई० का दिन विश्व के आधुनिक इतिहास में एक ऐसा रक्त-रंजित दिन है जिसे कोई मानव-प्रेमी आसानी से नहीं भूल सकता। इसी दिन
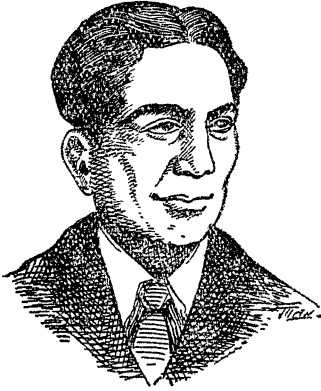
अमरीका ने द्वितीय विश्व-युद्ध (१६३६-४५ ई०) समाप्त करने के बहाने जापान के हरे-भरे और प्राणियों से हँसते-मुस्कराते नगर हिरोशिम पर एटम-बम फेंककर उसे क्षणमात्र में राख का ढेर कर दिया था। ७८ हजार से अधिक जापानी स्त्री-पुरुष और बच्चे मौत की गोद में सदा लिए सो गये थे और लगभग इतने ही प्राणी बुरी तरह घायल हो गये थे। लेकिन इस भयीण हत्या काण्ड पर भी अमरीका की रक्त-पिपासा शान्त नहीं हुई। तीसरे दिन ९ अगस्त को उसने एक दूसरा एटम-बम छोड़कर नागासाकी को तहस-नहस कर दिया। इस द्वितीय भीषण बम-वर्षा में कितने मरे और कितने गायल हुए—यह अबतक ठीक-ठीक कोई नहीं बता सका। यह था उन दो एटम-बमों का चमत्कार जिन्होंने अपने बचपन के जमाने में ही अपनी जवानी की शक्ति दिखाकर संसार की छाती दहला दी और आज १७-१८ वर्ष बीतने पर भी जब उनके बचपन का वह भीषण हत्या-काण्ड याद आता है तब सारा शरीर सिहर उठता है। सुनते ही नहीं, देखते भी और रोज समाचार पत्रों में पढ़ते भी हैं कि इन १७-१८ वर्षों में उन्होंने आशातीत उन्नति कर ली है। उनकी इस उन्नति से यह स्पष्ट हो गया है कि नागासाकी और हिरोशिमा पर किये गये उनके प्रहार इतने भीषण नहीं थे जितने उनके प्रहार अब हो सकते हैं। आजकल जो नाभकीय विस्फोटक परीक्षण-स्वरूप दागे जा रहे हैं उनमें से यदि कोई ५० मेगाटन का है तो

कोई इससे भी अधिक भारी है। इन नाभकीय विस्फोटकों में मुख्यतः एटम-बम, हाइड्रोजन-बम, कोबाल्ट-बम और न्युट्रान-बम की गणना की जाती है। इन बमों के कार्य-सिद्धान्त भिन्न हैं। रूस और अमरीका के वैज्ञानिक इनकी भीषणता बढ़ाने में लगे हुए हैं। उनकी देखा-देखी अन्य देश भी नाभकीय विस्फोटकों के सम्बन्ध में प्रयोग कर रहे हैं। इस विनाश-प्रतियोगिता में भारत की अपनी तटस्थ और अहिंसात्मक नीति है। उसने बम्बई के निकट ट्राम्बे में एक परमाणु-शक्ति संस्थान की स्थापना अवश्य की है लेकिन उसके द्वारा नाभकीय विस्फोटकों का निर्माण करना उनका उद्देश्य नहीं है। होमी जहाँगीर भाभा इसी संस्थान के निर्देशक हैं।

डा० होमी जहाँगीर भाभा विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। उनका जन्म ३० अक्तूबर, १६०६ ई० को बम्बई के एक सम्मानित एवं सुसस्कृत पारसी-परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री जे० एच० भाभा बम्बई के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे। पैसे की कमी नहीं थी। घर भरा-पुरा था। सब लोग शिक्षा प्रेमी थे। ऐसे वातावरण मे बालक भाभा को बड़ी प्रेरणा मिली। आरंभ में कैथेड्रल हाई स्कूल में उनका प्रवेश हुआ। इसी हाई स्कूल से १५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'सीनियर कैम्ब्रिज' की परीक्षा सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। इस परीक्षा के बाद कैथेड्रल हाई स्कूल से उनका संपर्क छूट गया और फिर एलफिस्टन कालेज में कुछ दिनों तक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने बम्बई-विश्वविद्यालय के 'रायल इंस्टीट्यूट आफ साइंस' में पढ़ना आरम्भ किया और यहाँ से १६२७ ई० में उन्होंने आई० एस-सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। आई० एस-सी० की परीक्षा पास कर उन्होंने एलफिस्टन कालेज में पुनः प्रवेश किया और यहाँ से १६२६ ई० में एफ० वाई० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इन तीनों परीक्षाओं में विज्ञान और गणित उनके प्रिय विषय थे। इन दोनों विषयों की बम्बई विश्वविद्यालय में जैसी शिक्षा दी जाती थी उससे भाभा को संतोष नहीं था। इसलिए वह अपने पिता की सलाह से इंग्लैण्ड गये और वहाँ उन्होंने कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत गानवाइल और केयस नाम के कालेजों में अध्ययन करना आरंभ किया।

होमी जहाँगीर भाभा का विद्यार्थी-जीवन अत्यन्त सरल था। वह बड़े परिश्रमी विद्यार्थी थे। इंग्लैण्ड में रहकर भी वह इंग्लैण्ड के विलासी वातावरण से दूर रहे। उन्होंने मन लगाकर अध्ययन किया और १६२६ ई० में मिकेनिकल

साइंस ट्राइपास' परीक्षा के प्रथम खण्ड में वह उत्तीर्ण हुए। इसके बाद १९३० ई० में उन्होने द्वितीय खण्ड प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। साथ ही १९२९ ई० के वार्षिक अवकाश को उन्होंने इधर-उधर घूमने में व्यतीत न कर 'रगबी' के 'ब्रिटिश टामसन हुस्टन वर्क्स' में अप्रेंटिस (शिक्ष्यमाण) के रूप में बिताया और इंजीनियरिंग की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त की। मिकेनिकल विज्ञान (इंजीनियरिंग) ट्राइपास की परीक्षा छः विषयों में होती थी। अतः इन सभी विषयों में उन्होने परीक्षा दी और इनमें उच्च अंक प्राप्त कर उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके अध्यापक उन पर विशेष कृपा-दृष्टि रखते थे और उन्हे उनके अध्ययन में हर तरह का सहयोग प्रदान करते थे। उन दिनों प्रो० डाइरेक तथा प्रो० माह भौतिक विज्ञान के विख्यात विशेषज्ञ थे। १९३०-३१ ई० में इन प्रोफेसरों के साथ रहकर भाभा ने भौतिक विज्ञान का गंभीर अध्ययन किया। सच पूछिए तो इन्हीं विज्ञान-मनीषियों ने सैद्धानिक भौतिक विज्ञान में भाभा को पारंगत किया।

इस प्रकार अपने अध्यापकों से प्रेम और पुचकार पाकर भाभा का उत्साह बढ़ता गया। वह केयस कालेज के विद्यार्थी थे। इस कालेज के अधिकारियों ने १९३२ ई० में उन्हें गणित के विशेष अध्ययन के लिए 'राउस बाल ट्रेवलिंग स्टूडेण्टशिप' नामक छात्रवृत्ति प्रदान की। इस छात्रवृत्ति से उनको यूरोप की यात्रा करने का अवसर मिला। इसलिए १९३२ ई० में वह ज्यूरिच गये और वहाँ १९-३३ ई० तक प्रो० डब्लू० पालि के संपर्क में रहकर उन्होने गणित का विशेष अध्ययन किया। वही उन्होने सर्वप्रथम एक मौलिक अन्वेषण-निबन्ध लिखा। इस निबन्ध का लोगो पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। १९३४ ई० में वह ज्यूरिच से रोम गये और वहाँ उन्होंने प्रो० फर्मी के साथ रहकर अध्ययन किया। रोम से वह यूट्रेक्ट गये और वहाँ उन्होंने प्रो० क्रेमर्स के संपर्क में रहकर कुछ दिनो तक अध्ययन किया। इसी वर्ष १९३४ ई० उन्हें 'आइ-ज़क न्यूटन' छात्रवृत्ति पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और इसी वर्ष वह पी-एच० डी० हुए। इसके बाद उन्हें १९३६ ई० में '१८५१ ई० की प्रदर्शनी की उच्चतर छात्रवृत्ति' भी लगातार तीन वर्ष के लिए प्राप्त हुई। इन छात्रवृत्तियों के प्राप्त होने से संपूर्ण यूरोप के विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों पर उनकी विद्वत्ता और

कोई इससे भी अधिक भारी है। इन नाभकीय विस्फोटकों में मुख्यतः एटम-बम, हाइड्रोजन-बम, कोबाल्ट-बम और न्युट्रान-बम की गणना की जाती है। इन बमों के कार्य-सिद्धान्त भिन्न हैं। रूस और अमरीका के वैज्ञानिक इनकी भीषणता बढ़ाने में लगे हुए हैं। उनकी देखा-देखी अन्य देश भी नाभकीय विस्फोटकों के सम्बन्ध में प्रयोग कर रहे हैं। इस विनाश-प्रतियोगिता में भारत की अपनी तटस्थ और अहिंसात्मक नीति है। उसने बम्बई के निकट ट्राम्बे में एक परमाणु-शक्ति संस्थान की स्थापना अवश्य की है लेकिन उसके द्वारा नाभकीय विस्फोटकों का निर्माण करना उनका उद्देश्य नहीं है। होमी जहाँगीर भाभा इसी संस्थान के निर्देशक हैं।

डा० होमी जहाँगीर भाभा विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। उनका जन्म ३० अक्तूबर, १९०९ ई० को बम्बई के एक सम्मानित एवं सुसस्कृत पारसी-परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री जे० एच० भाभा बम्बई के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे। पैसे की कमी नहीं थी। घर भरा-पुरा था। सब लोग शिक्षा प्रेमी थे। ऐसे वातावरण से बालक भाभा को बड़ी प्रेरणा मिली। आरंभ में कैथेड्रल हाई स्कूल में उनका प्रवेश हुआ। इसी हाई स्कूल से १५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'सीनियर कैम्ब्रिज' की परीक्षा सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। इस परीक्षा के बाद कैथेड्रल हाई स्कूल से उनका संपर्क छूट गया और फिर एलफिस्टन कालेज में कुछ दिनों तक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने बम्बई-विश्वविद्यालय के 'रायल इंस्टीट्यूट आफ साइंस' में पढ़ना आरम्भ किया और यहाँ से १९२७ ई० में उन्होंने आई० एस-सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। आई० एस-सी० की परीक्षा पास कर उन्होंने एलफिस्टन कालेज में पुनः प्रवेश किया और यहाँ से १९२९ ई० में एफ० वाई० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इन तीनों परीक्षाओं में विज्ञान और गणित उनके प्रिय विषय थे। इन दोनों विषयों की बम्बई विश्वविद्यालय में जैसी शिक्षा दी जाती थी उससे भाभा को संतोष नहीं था। इसलिए वह अपने पिता की सलाह से इंग्लैण्ड गये और वहाँ उन्होंने कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत गानवाइल और केयस नाम के कालेजों में अध्ययन करना आरंभ किया।

होमी जहाँगीर भाभा का विद्यार्थी-जीवन अत्यन्त सरल था। वह बड़े परिश्रमी विद्यार्थी थे। इंग्लैण्ड में रहकर भी वह इंग्लैण्ड के विलासी वातावरण से दूर रहे। उन्होंने मन लगाकर अध्ययन किया और १९२९ ई० में मिकेनिकल

साइंस ट्राइपास' परीक्षा के प्रथम खण्ड में वह उत्तीर्ण हुए। इसके बाद १९३० ई० में उन्होने द्वितीय खण्ड प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। साथ ही १९२९ ई० के वार्षिक अवकाश को उन्होंने इधर-उधर घूमने में व्यतीत न कर 'रगबी' के 'ब्रिटिश टामसन हुस्टन वर्क्स' में अप्रेंटिस (शिक्ष्यमाण) के रूप में बिताया और इंजीनियरिंग की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त की। मिकेनिकल विज्ञान (इंजीनियरिंग) ट्राइपास की परीक्षा छः विषयो मे होती थी। अतः इन सभी विषयों में उन्होने परीक्षा दी और इनमें उच्च अंक प्राप्त कर उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके अध्यापक उन पर विशेष कृपा-दृष्टि रखते थे और उन्हे उनके अध्ययन में हर तरह का सहयोग प्रदान करते थे। उन दिनों प्रो० डाइरेक तथा प्रो० माह भौतिक विज्ञान के विख्यात विशेषज्ञ थे। १९३०-३१ ई० में इन प्रोफेसरो के साथ रहकर भाभा ने भौतिक विज्ञान का गंभीर अध्ययन किया। सच पूछिए तो इन्हीं विज्ञान-मनीषियों ने सैद्धानिक भौतिक विज्ञान में भाभा को पारंगत किया।

इस प्रकार अपने अध्यापकों से प्रेम और पुचकार पाकर भाभा का उत्साह बढ़ता गया। वह केयस कालेज के विद्यार्थी थे। इस कालेज के अधिकारियों ने १९३२ ई० में उन्हें गणित के विशेष अध्ययन के लिए 'राउस बाल ट्रेवलिंग स्टूडेण्टशिप' नामक छात्रवृत्ति प्रदान की। इस छात्रवृत्ति से उनको यूरोप की यात्रा करने का अवसर मिला। इसलिए १९३२ ई० में वह ज्यूरिच गये और वहाँ १९-३३ ई० तक प्रो० डब्लू० पालि के संपर्क में रहकर उन्होने गणित का विशेष अध्ययन किया। वही उन्होने सर्वप्रथम एक मौलिक अन्वेषण-निबन्ध लिखा। इस निबन्ध का लोगो पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उनकी ख्याति चारो ओर फैल गयी। १९३४ ई० में वह ज्यूरिच से रोम गये और वहाँ उन्होंने प्रो० फर्मी के साथ रहकर अध्ययन किया। रोम से वह यूट्रेक्ट गये और वहाँ उन्होंने प्रो० क्रेमर्स के संपर्क में रहकर कुछ दिनों तक अध्ययन किया। इसी वर्ष १९३४ ई० उन्हें 'आइ-जक न्यूटन' छात्रवृत्ति पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और इसी वर्ष वह पी-एच० डी० हुए। इसके बाद उन्हें १९३६ ई० में '१८५१ ई० की प्रदर्शनी की उच्चतर छात्रवृत्ति' भी लगातार तीन वर्ष के लिए प्राप्त हुई। इन छात्रवृत्तियों के प्राप्त होने से संपूर्ण यूरोप के विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों पर उनकी विद्वत्ता और

प्रतिभा की छाप लग गयी और उनके बीच उनका सम्मान बढ़ गया। इन्हीं दिनों कोपेनहेगन में स्थित नील्स बोह्-भौतिक-प्रयोगशाला में उन्होंने पाँच महीने तक शोध-कार्य किया। सन् १९३७ ई० में प्रो० मेक्सबार्न ने उन्हें एडिनबरा में 'कास्मिक किरण-प्रसार' पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। वहाँ उनके कई भाषण हुए। इन भाषणों तथा शोध-कार्य में उनकी सफलता से प्रभावित होकर १९३० ई० में 'रायल सुसाइटी' ने अपने 'मॉड फण्ड' से आर्थिक सहायता देकर उनको प्रो० ब्लेकैट की मैनचेस्टर-स्थित कास्मिक किरण-अनुसंधानशाला में कार्य करने के लिए बुलाया और कैम्ब्रिज में स्वतंत्र-रूप से शोध-कार्य करने की प्रत्येक सुविधा प्रदान की। इस प्रकार यूरोप में जगह-जगह अपनी प्रतिभा की धाक जमा कर तथा सर्वोच्च सम्मान प्राप्त कर वह १९४० ई० में स्वदेश लौट आये।

भारत आते ही भाभा १९४० ई० में बँगलौर के 'इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस' में सैद्धान्तिक भौतिक-विज्ञान के विशेष रीडर नियुक्त हुए। १९४२ ई० में कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय से उन्हें 'एडम्स-पुरस्कार' मिला। इसी वर्ष वह बँगलौर के 'इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस' में कास्मिक किरण-शोध-विभाग के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए और इस पद पर वह १९४५ ई० तक रहे। १९४४ ई० में पटना-विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० एस-सी० की सम्मानित उपाधि प्रदान की। १९४५ ई० में उन्होंने बँगलौर की नौकरी छोड़ दी और फिर वह 'टाटा इंस्टीट्यूट आफ फण्डामेण्टल रिसर्च' बम्बई के निर्देशक नियुक्त हुए। १९४७ ई० में भारत के स्वतंत्र होने पर उन्हें भारतीय अणु-शक्ति-आयोग का चेयरमैन घोषित किया गया। १९४८ ई० में उन्हें कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय ने 'हॉपकिंस-पुरस्कार' प्रदान किया। इसके बाद १९४९ ई० में लखनऊ-विश्वविद्यालय ने और १९५० ई० में काशी-विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० एस-सी० की सम्मानित उपाधि देकर उनका गौरव बढ़ाया। १९५१ ई० में वह 'इण्डियन साइंस-काँग्रेस' के सभापति चुने गये। १९५२ ई० में आगरा-विश्वविद्यालय ने और १९५४ ई० में पर्थ-विश्वविद्यालय ने उनको डी० एस-सी० की सम्मानित उपाधि देकर उनकी विद्वत्ता का सम्मान किया। १९५४ ई० में हमारे देश के तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित किया। इसी वर्ष वह सरकारी 'परमाणु-ऊर्जा-विभाग' के सचिव बनाये गये। १९५५ ई० में जेनेवा में

होनेवाले सर्वप्रथम 'इण्टरनेशनल अटामिक इनर्जी कानफ्रेंस' के वह अध्यक्ष चुने गये। १९५७ ई० में कैम्ब्रिज के केयस और गानवाइल नामक कालेजों ने उन्हें अपना 'फेलो' घोषित किया। इसी वर्ष वह एडिनबरा के रायल सुसाइटी के सम्मानित फेलो हुए। अमरीका की 'एकेडमी आफ आर्ट एण्ड साइंस' ने भी उन्हें अपनी संस्था का मानद सदस्य बनाया। १९५९ ई० में कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय ने और १९६० ई० में लंदन-विश्वविद्यालय ने उनको डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की।

एक साथ इतना अधिक सम्मान और इस प्रकार सम्मानित उपाधियों की वर्षा यह घोषित करती है कि डा० भाभा आज के नाभकीय-युग की दिव्य विभूति हैं और उनके लिए कोई भी सम्मान बड़ा सम्मान नहीं है। विश्व की अनेक शिक्षण एवं वैज्ञानिक संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित कर वस्तुतः अपना ही गौरव बढ़ाया है। विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अबतक जो शोध-कार्य किया है और इसके द्वारा उन्होंने जो उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं वे इतनी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके लिए उन्हें दिया गया कोई-भी सम्मान महान नहीं कहा जा सकता। वास्तव में वह मान-सम्मान के भूखे नहीं हैं। सम्मान अथवा यश प्राप्त करने के लोभ से उन्होंने परमाणु-शक्ति का अध्ययन एवं अनुसंधान नहीं किया है। उनके जीवन का उद्देश्य मानव-सेवा है। आज का मानव परमाणु-शक्ति की जिस भयंकरता की कल्पना कर थर-थर काँप रहा है उसे निर्मूल करना तथा परमाणु-शक्ति का उपयोग मानव की सुख-सुविधा की वृद्धि में करना उनकी वैज्ञानिक साधना का लक्ष्य है। अपने इसी लक्ष्य को वह ट्राम्बे के परमाणु-शक्ति संस्थान में सफल बनाने के लिए कार्य-रत हैं। इस परमाणु-शक्ति-संस्थान का उद्घाटन १९५४ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इसमें दो मुख्य भट्ठियाँ हैं। एक भट्ठी का नाम अप्सरा है। इसका निर्माण १९५६ ई० में हुआ था। यह सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। इसके द्वारा रेडियो-सक्रिय-आइसटोपों का निर्माण होने लगा है जो तरह-तरह के वैज्ञानिक अनुसंधान कार्यों में प्रयुक्त किये जा रहे हैं। दुसरी भट्ठी का नाम जरलीना है। यह परमाणु-भट्ठी कनाडा के सहयोग तथा कई करोड़ रुपये की लागत से बनायी गयी है। इसका उद्घाटन १६ जनवरी, १९६१ ई० को पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। यह संसार की सबसे बड़ी

भट्टियों में से एक है और इसके द्वारा हर तरह के आइसटोप तैयार किये जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त एक थोरियम-यंत्र भी काम कर रहा है। इसके द्वारा परमाणु-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक थोरियम और यूरेनियम को शुद्ध कर परमाणु-भट्टी में इस्तेमाल करने के योग्य बनाया जाता है। इस प्रकार ट्राम्बे के संस्थान में दिन-रात देश-विदेश के एक सहस्र वैज्ञानिक तथा शिल्पी कार्य-संलग्न हैं और यह सारा कार्य डा० भाभा के निर्देशन में संपन्न हो रहा है।

डा० भाभा मानव-प्रेमी हैं। विश्व-शांति के वह इच्छुक और सहायक हैं। हिंसात्मक-नीति में उनका विश्वास नहीं है। यह जनते हुए भी कि भारत नाभकीय विस्फोटकों के निर्माण में पूरी तरह समर्थ है, वह परमाणु-शक्ति का उपयोग मानव-कल्याण में करने के लिए सतत सचेष्ट हैं। उनका विश्वास है कि परमाणु-शक्ति खाद्यान्न-उत्पादन और उसकी सुरक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी। उनका यह भी मत है कि विकरण-द्वारा कीड़ों की वृद्धि भी रोकी जा सकती है। इसलिए फसलों के सुरक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों में भी वह जुटे रहते हैं। अहमदाबाद के निकट तारापुर में परमाणु-बिजली-घर बनाने का कार्य भी उन्होंने अपने हाथ में ले लिया है। यह बिजली-घर १९६६ ई० तक बनकर तैयार हो जायगा। केरल के तट पर परमाणु-खनिज मोनेजाइट काफी मात्रा में पाया जाता है। वहाँ थोरियम का भी भांडार है। त्रिवांकुर-क्षेत्र और बिहार राज्य में भी थोरियम-खनिज के छिपे कोष का पता लगा है। इन्हीं क्षेत्रों से यूरेनियम भी प्राप्त होता है। थोरियम यूरेनियम का छोटा भाई है और इससे प्लूटोनियम का उत्पादन आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार हमारा देश अणु-शक्ति के स्रोतों से भी संपन्न है। इसलिए हमारा देश परमाणु-परीक्षण की दृष्टि से अग्रणी है और आवश्यकता पड़ने पर वह नामकीय विस्फोटक भी बना सकता है।

●●